विश्वविख्यात ग्रन्थ 'दि स्टोरी ऑफ़ सिविलीज़ेशन' के 'इंडिया ऐंड हर नेबर्स' खंड का हिन्दी अनुवाद—

सभ्यता की कहानी

भारत और उसके पड़ोसी-देश

●

विल डूरेन्ट



किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड ऑफिस : ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

१९६५

Published by the permission of
Simon & Schuster, Inc.
630, Fifth Avenue, Rockfeller
Center, New York-20. U. S. A.

प्रथम संस्करण : १९६५



अनुवादक : श्रीकान्त व्यास   आवरणशिल्पी : एम० इस्माईल
प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक : जे० के० शर्मा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद।
आवरण मुद्रक : ईगल ऑफसेट प्रिन्टर्स, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

प्रकाशकीय



विल-डूरेंट का नाम इस शताब्दी के महान लेखकों में अग्रगण्य माना जाता है। 'स्टोरी ऑफ-सिविलीज़ेशन' नामक उनकी कृति का विश्व-साहित्य में अपना स्थान है, और इसके हिन्दी-संस्करण के प्रकाशन का दायित्व 'किताब-महल' ने अपने ऊपर लिया है। 'पश्चिम एवं पश्चिमेशिया खंड' प्रकाशित भी हो चुका है।

अब 'भारत और उसके पड़ोसी देश' नामक दूसरा खंड पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय हम बड़े ही सुख और सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं।

आज हम इतिहास के जिस दौर से गुजर रहे हैं, उसमें यह जानकारी कितनी महत्वपूर्ण साबित होगी, यह विज्ञजन ही अनुभव कर सकते हैं।

ग्रंथ में ४००० ई० पू० से १९३१ ई० तक का गहन अध्ययन है—संस्कृति के विकास की दृष्टि से, इतिहास के विकास-क्रम की दृष्टि से। उस पर यह सारा वर्णन यों प्रस्तुत किया गया है, जैसे कि कोई कहानी कही जा रही हो।

कहना न होगा कि पहिले खंड के प्रकाशन के बाद से ही इस दूसरे खण्ड की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती रही है। हमें पूर्ण आशा है कि मूल-ग्रन्थ के इस संस्करण से भी देश के अधिकाधिक जिज्ञासु-जन लाभ उठा सकेंगे।

दूसरा भाग

भारत और उसके पड़ोसी देश

"सबसे बड़ा सत्य यह है कि ईश्वर सभी जीवों में विद्यमान है। संसार के विभिन्न प्राणी ईश्वर के ही विभिन्न रूप हैं। उस एक ईश्वर को छोड़कर दूसरा कोई ईश्वर नहीं है, जिसकी खोज में भटक जाय।·· हमें ऐसा धर्म चाहिये जो मानव का निर्माण कर सके।····इन रहस्य-वादी विचारों को त्याग दो, जो तुम्हें शक्तिहीन बनाते हैं, और दृढ़ता तथा शक्ति प्राप्त करो।····अगले पच्चास वर्षों के लिए हम सभी देवताओं को भुला दें या हमें सभी देवताओं को भुला देना चाहिए। यह हमारी मानव जाति ही एक मात्र ईश्वर है, सर्वत्र वही ईश्वर व्याप्त है, हम सब उसी के हाथ और उसी के चरण हैं। उससे कोई भी अछूता नहीं है।····सबसे बड़ी पूजा यह है कि हम अपने आस-पास के सब मनुष्यों की पूजा करें।····जो दूसरों की सेवा करता है, वास्तव में वही ईश्वर की सेवा करता है।"

—विवेकानन्द।

भारतीय इतिहास की कालक्रमानुसार सूची

ईसा पूर्व वर्ष

४००० – मैसूर में नव पाषाण कालीन संस्कृति
२९०० – मोहनजोदाड़ो की संस्कृति
१६०० – भारत पर आर्य जाति का आक्रमण
१०००–५०० – वेदों की रचना
८००–५०० – उपनिषदों की रचना
५९९–५२७ – जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर
५६३–४८३ – गौतम बुद्ध
५०० – सुश्रुत, वैद्यराज
५०० – कपिल और सांख्य दर्शन
५०० – प्राचीनतम पुराण
३२९ – यूनानियों का आक्रमण
३२५ – सिकन्दर का प्रस्थान
३२२–१८५ – मौर्य राजवंश
३२२–२९८ – चन्द्रगुप्त मौर्य
३०२–२९८ – मेगस्थनीज, पाटलिपुत्र में
२७३–२३२ – अशोक

ईस्वी सन्

१२० – कनिष्क, कुषाण राजा
१२० – चरक, वैद्यराज
३२०–५३० – गुप्त राजवंश
३२०–३३० – चन्द्रगुप्त प्रथम
३३०–३८० – समुद्रगुप्त
३८०–४१३ – विक्रमादित्य
३९९–४१४ – फा-हियान की भारत-यात्रा
१००–७०० – अजन्ता के मन्दिर और भित्ति चित्र
४०० – कालिदास, कवि और नाटककार
४५५–५०० – हूणों का आक्रमण
४९९ – आर्य भट्ट, गणितज्ञ
५०५–५८७ – वराहमिहिर, खगोल शास्त्री
६०६–६४८ – राजा हर्ष-वर्द्धन
६०८–६४२ – पुलकेशी द्वितीय, चालुक्य राजा
६२९–६४५ – युआन च्वांग की भारत-यात्रा
६२९–६५० – स्रोंग-त्सान गाम्पो, तिब्बत का राजा
६३०–८०० – तिब्बत का स्वर्ण युग

ईस्वी सन्

६३९ – स्रोंग-त्सान गाम्पो द्वारा ल्हासा की स्थापना
७१२ – सिंध पर अरबों का आक्रमण
७५० – पल्लव राज्य का उत्थान
७५०–७८० – बोरो बुदूर (जावा) का निर्माण
७६० – कैलाश मन्दिर
७८८–८२० – वेदान्त दर्शन के आचार्य शंकर
८००–१३०० – कम्बोडिया का स्वर्ण युग
८००–१४०० – राजपूताने का स्वर्ण युग
९०० – चोल राज्य का उदय
९७३–१०४८ – अल्बेरूनी की यात्रा
९९३ – दिल्ली की स्थापना
९९७–१०३० – गज़नी का सुल्तान महमूद
१००८ – महमूद का भारत पर आक्रमण
१०७६–११२६ – विक्रमादित्य चालुक्य
१११४ – भास्कर, गणितज्ञ
११५० – अंकोर वाट का निर्माण
११८६ – भारत पर तुर्क आक्रमण
१२०६–१५२६ – दिल्ली की सल्तनत
१२०६–१२१० – सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक
१२८८–१२९३ – मार्को पोलो की भारत-यात्रा
१२९६–१३१५ – सुल्तान अलाउद्दीन
१३०३ – चितौड़ पर अलाउद्दीन का कब्जा
१३२५–१३५१ – सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक
१३३६ – विजय नगर की स्थापना
१३३६–१४०५ – तैमूर लंग
१३५१–१३८८ – सुल्तान फीरोजशाह
१३९८ – तैमूर का भारत पर आक्रमण
१४४०–१५१८ – कबीरदास, कवि
१४६९–१५३८ – बाबा नानक: सिख धर्म के संस्थापक
१४८३–१५३० – बाबर द्वारा मुग़ल राजवंश की स्थापना
१४८३–१५७३ – सूरदास, कवि
१४९८ – वास्को-डि-गामा भारत पहुँचा
१५०९–१५२९ – कृष्णदेव राय का विजयनगर में शासन
१५१० – गोवा पर पुर्तगालियों का अधिकार
१५३०–१५४२ – हुमायूं
१५३२–१६२४ – तुलसीदास, कवि
१५४२–१५४५ – शेरशाह
१५५५–१५५६ – साम्राज्य की पुनः स्थापना और हुमायूं की मृत्यु
१५६०–१६०५ – अकबर

ईस्वी सन्

१५६५ – तालीकोट में विजयनगर की पराजय
१६०० – ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना
१६०५–१६२७ – जहाँगीर
१६२८–१६५८ – शाहजहाँ
१६३१ – मुमताज़ महल की मृत्यु
१६३२–१६५३ – ताज महल का निर्माण
१६५८–१७०७ – औरंगज़ेब
१६७४ – फ्रांसीसियों द्वारा पांडुचेरी की स्थापना
१६७४–१६८० – राजा शिवा जी
१६९० – अंग्रेजों द्वारा कलकत्ते की स्थापना
१७५६–१७६३ – भारत में अंग्रेज फ्रांसीसी युद्ध
१७५७ – प्लासी का युद्ध
१७६५–१७६७ – राबर्ट क्लाईव: बंगाल का गवर्नर
१७७२–१७७४ – वारेन हेस्टिंग्स: बंगाल का गवर्नर
१७८८–१७९५ – वारेन हेस्टिंग्स का मुकदमा
१७८६–१७९३ – लार्ड कार्नवालिस: बंगाल का गवर्नर
१७९८–१०५ – मार्क्वेस वेलेज़ली: बंगाल का गवर्नर
१८२८–१८३५ – लार्ड विलियम कैवेन्डिश-बेंटिक: भारत का गवर्नर जनरल
१८२८ – राममोहन राय द्वारा ब्रह्म-समाज की स्थापना।
१८२९ – सती-प्रथा का अन्त
१८३६–१८८६ – रामकृष्ण
१८५७ – सिपाही विद्रोह
१८५८ – भारत पर ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य
१८६१ – रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म
१८६३–१९०२ – विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ दत्त)
१८६९ – मोहनदास करमचन्द गांधी
१८७५ – दयानन्द द्वारा आर्य-समाज की स्थापना
१८८०–१८८४ – मार्क्वेस आव रिपन: वाइसराय
१८८५ – भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
१८८९–१९०५ – बैरन कर्ज़न: वाइसराय
१९१६–१९२१ – बैरन चेम्सफर्ड: वाइसराय
१९१९ – अमृतसर
१९२१–१९२६ – अर्ल आव रीडिंग: वाइसराय
१९२६–१९३१ – लार्ड इरविन: वाइसराय
१९३१ – लार्ड विलिंग्डन: वाइसराय

अनुक्रम

सभ्यता की कहानी

भारत और उसके पड़ोसी देश

अध्याय १४

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

१. संस्कृति के नाटक का प्रथम अंक

भारत की पुनः खोज; मानचित्र पर एक दृष्टि; जलवायु का प्रभाव।

इतिहास के किसी आधुनिक विद्यार्थी के लिए इससे बढ़कर लज्जा की और कोई बात नहीं हो सकती कि भारत के बारे में उसका ज्ञान बहुत सीमित और अपर्याप्त है। इस विशाल प्रायद्वीप का क्षेत्रफल लगभग २० लाख वर्ग मील है, तथा यह अमेरिका के दो तिहाई भाग के बराबर और अपने शासक ग्रेट ब्रिटेन से बीस गुना बड़ा है।[१] इसकी जन संख्या ३२,००,००,००० के लगभग है, जो कि उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की सम्मिलित जनसंख्या से भी अधिक है और संसार की कुल जनसंख्या के पांचवें हिस्से के बराबर है। २९०० वर्ष ई० पू० या उससे भी अधिक पहले मोहनजोदाड़ो से लेकर गांधी, रमण और टैगोर तक सभ्यता और विकास का एक क्रमबद्ध सिलसिला यहाँ बराबर चला आया है—अंधाधुंध और यहां तक कि बर्बर किस्म की मूर्तिपूजा से लेकर अत्यंत सूक्ष्म और गूढ़ रहस्यवाद के लगभग सभी स्तरों से पूर्ण, जहाँ ईसा से भी आठ शताब्दी पूर्व "उपनिषदों" से लेकर ईसा से आठ शताब्दी बाद शंकर तक दार्शनिकों ने एक ही अद्वैतवादी विचारधारा को अनेक स्वरूपों में विकसित किया है; जहां के वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष पूर्व खगोलशास्त्र का विकास किया था और हमारे युग में भी जिन्होंने नोबुल पुरस्कार प्राप्त किये हैं; जिसके गाँवों में अनादि काल से एक लोकतांत्रिक विधान का प्रयोग होता रहा है और जहाँ अशोक और अकबर के समान बुद्धिमान और प्रजा प्रेमी शासक हो चुके हैं; जहाँ के चारण होमर द्वारा रचित महाकाव्यों के समान ही प्राचीन महाकाव्यों का गायन करते रहे हैं और जहां के कवियों की रचनाओं को आज हमारे युग में संसारव्यापी लोकप्रियता प्राप्त हो रही है; जहाँ के कलाकारों ने तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक और कम्बोडिया से लेकर जावा तक हिन्दू देवताओं के लिए भव्य मन्दिरों की रचना की है और मुगल बादशाहों और बेगमों के लिए सर्वांग सुंदर महलों की रचना की है—यह है भारत, जिसकी जानकारी अब पश्चिम को धीरे-धीरे प्राप्त हो रही है, उस पश्चिम को जो अभी कल तक यही माने बैठा था कि सभ्यता का केवल यूरोप से ही सम्बन्ध है।[२]

---

[१] यह पुस्तक भारत की स्वाधीनता प्राप्त होने के बहुत पहले लिखी गई थी।

[२] मेगस्थनीज के समय से लेकर, जिसने लगभग ३०२ ई० पू० में यूनान को भारत का परिचय कराया था, अठारहवीं शताब्दी तक भारत यूरोप के लिए एक आश्चर्य और रहस्य की वस्तु था। मार्को पोलो ने (सन् १२५४–१३२४) भारत की पश्चिमी सीमा का एक बहुत ही अस्पष्ट चित्र उपस्थित किया, कोलम्बस भारत को खोजने के प्रयास में गलती से अमेरिका जा पहुंचा, वास्को-डी-गामा ने इसको पुनः खोजने के प्रयास

भारतीय इतिहास की कल्पना हम एक विशाल त्रिभुज के रूप में कर सकते हैं, जिसकी उत्तरी भुजा पर हिमाच्छादित हिमालय फैला हुआ है और जिसकी नोक श्रीलंका तक चली गई है। इस त्रिभुज के वायें कोण पर फारस स्थित है, जो निवासी, भापा और देवी-देवताओं की दृष्टि से वैदिक भारत से वहुत अधिक संवद्ध रहा है। इस त्रिभुज की उत्तरी भुजा पर पूर्व की ओर आगे वढ़ने पर हमें अफगानिस्तान मिलता है; वहीं कंधार है, जो प्राचीन काल में गांधार के रूप में जाना जाता था, जहाँ कभी यनानी और हिन्दू वास्तु कला का सम्मिश्रण हुआ था। इसके उत्तर में कावुल है जहाँ से मुसलमानों और मुगलों ने भारत पर वे खूनी हमले किये थे जिनके फलस्वरूप लगभग एक हजार वर्ष तक भारत पर उनका आधिपत्य बना रहा। कावुल के दक्षिण में भारतीय सीमा में पेशावर स्थित है। भारत के वहुत समीप ही पामीर और हिन्दकुश के दर्रों के पास रूस की सीमा स्थित है। भारत के ठीक उत्तरी क्षेत्र में ही काश्मीर का प्रदेश है, जिसका नाम भारत के प्राचीन वस्त्र-उद्योग के साथ जुड़ा हुआ है। उसके दक्षिण

में अफ्रीका की परिक्रमा की, और व्यापारी गण "इंडीज" की धन-सम्पदा के गीत गाते रहे। लेकिन यूरोपीय विद्वान चुप बैठ रहे, उन्होंने भारत के बारे में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया। बाद में सन् १६५१ में भारत में नियुक्त एक डच धर्म-प्रचारक ने भारत के बारे में एक पुस्तक लिखी (Open Door to the Hidden Heathendom) ड्रायडन ने १६७५ में "औरंगजेब" नामक एक नाटक की रचना की और १७९२ में एक आस्ट्रियन साधु फ्रा पाओलिनो दे एस० वार्तोलोमियो ने संस्कृत की दो व्याकरणों की रचना की और ब्राह्मण प्रथा पर एक पुस्तक भी लिखी (Systema Brahmani) फिर सन् १७८९ में सर विलियम जोन्स् कालिदास के प्रसिद्ध नाटक "शकुन्तला" का अनुवाद करके एक महान भारतविद् के रूप में सामने आये। १७९१ में इस अनुवाद का पुनः जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ, जिसने हर्डर और गेटे जैसे कवियों को गंभीर रूप में प्रभावित किया। इस रचना ने पूरे रोमांटिक आन्दोलन को प्रभावित किया और पश्चिम में पूर्व की प्रेरणा से उस रहस्यवाद को पुनः बल प्राप्त होने लगा जो कि ज्ञान-विज्ञान के विकास के कारण समाप्त होने लगा था। विलियम जोन्स् ने यह घोषित करके संसार के विद्वानों को चकित कर दिया कि संस्कृत का यूरोप की सभी भाषाओं से निकट का सम्वन्ध है और इससे वैदिककाल के हिन्दुओं से हमारा जातीय स्तर पर सम्पर्क प्रमाणित होता है। जोन्स् की इन घोषणाओं ने ही एक प्रकार से आधुनिक भाषाशास्त्र और प्रजाति-विज्ञान को जन्म दिया। सन् १८०५ में कोलेब्रुक ने वेदों के सम्वन्ध में एक लेख प्रकाशित किया, जिससे यूरोप को भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचना का ज्ञान हुआ। इसी समय एंक्वेटिलडुपेरोन ने उपनिषदों के एक फारसी अनुवाद का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया, जिसने शेलिंग और शापेनहावर को इतना अधिक प्रभावित किया कि शापेनहावर ने तो उसे दर्शनशास्त्र की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर दिया। सन् १८२६ में पाली भाषा के सम्बन्ध में वर्नूफ के लेख के प्रकाशित होने के पूर्व तक बौद्धदर्शन के सम्वन्ध में विशेष कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी थी। फ्रांस में वर्नूफ ने और उनके शिष्य मैक्स मूलर ने इंग्लैंड में विद्वानों को इसके लिए प्रेरित करने का प्रयास किया कि "पूर्व के सभी धर्मग्रंथों" का अनुवाद किया जाय। रोस डेविड्स ने बौद्धदर्शन के साहित्य को प्रस्तुत करने में अपना सारा जीवन लगा दिया। इन प्रयत्नों के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारत के बारे में हमारी जानकारी कितनी कम और सीमित है।

में "पाँच नदियों का प्रदेश" पंजाब है। पश्चिमी पंजाब में ही एक हजार मील लम्बी सिंधु नदी बहती है जिसके नाम को फारसियों नें हिन्दू बना दिया। फारसी पूरे उत्तरी भारत को हिन्दुस्तान कहा करते थे। इसी हिन्दू के आधार पर बाद में यूनानियों ने "इंडिया" शब्द का विकास किया और भारत को इंडिया के नाम से पुकारा।

पंजाब से होते हुए यमुना और गंगा दक्षिण-पूर्व की ओर बहती हैं। यमुना के किनारे ही भारत की राजधानी दिल्ली बसी है और आगरा भी इसी के किनारे बसा है, जहाँ प्रसिद्ध ताजमहल बना है। हिन्दुओं के पवित्र नगर बनारस के पास पहुँचने पर गंगा कुछ चौड़ी हो जाती है और फिर आगे बढ़कर बंगाल में कई धाराओं में बंट जाती है, यहीं कलकत्ता बसा है, जो भारत में अंग्रेजों की पुरानी राजधानी रहा है। इसके और भी पूर्व में बर्मा है, जिसके रंगून और मांडले नामक नगर अपने पगोडों के लिए प्रसिद्ध है। माँडले से कराची तक की दूरी उतनी ही है जितनी कि न्यूयार्क से लासेंजिल्स तक की दूरी है। पंजाब के दक्षिण में वीर राजपूतों की भूमि राजपूताना है, जिसके प्रसिद्ध नगर हैं, ग्वालियर, चित्तौड़, जयपुर, अजमेर और उदयपुर। इसके दक्षिण-पश्चिम में सूरत, अहमदाबाद, बम्बई और पूना जैसे घने बसे हुए नगरों का प्रदेश बम्बई राज्य है। इसके बाद हैदराबाद और मैसूर के प्रदेश हैं। पश्चिमी किनारे पर गोआ है और पूर्वी किनारे पर पांडिचेरी है, जिन्हें अंग्रजों ने पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों के कब्ज में छोड़ रखा है। बंगाल की खाड़ी के किनारे मद्रास प्रदेश फैला हुआ है, जिसका केन्द्र है मद्रास नगर और जिसमें तंजोर, त्रिचनापल्ली, मदुरा और रामेश्वरम् के प्रसिद्ध मन्दिर हैं। अन्त में है डूबे हुए द्वीपों का सेतुबंध जो श्रीलंका तक चला गया है। यह है मोटे तौर पर भारत का एक खाका।

भारत को हमें मिस्र, बेबीलोनिया या इंग्लैंड की भाँति एक राष्ट्र नहीं बल्कि यूरोप की भाँति एक महाद्वीप मानना चाहिये, क्योंकि जलवायु और विभिन्न प्रजातियों की दृष्टि से, साहित्य, दर्शन और कला की विभिन्नता की दृष्टि से यह एक महाद्वीप ही है। इसके उत्तर में कड़ाके की सर्दी पड़ती है और हिमालय पर बर्फीली आंधियाँ चला करती हैं, उधर पंजाब अपनी नदियों के कारण काफी उपजाऊ प्रदेश बन गया है, लेकिन उसके दक्षिण में धूप बहुत कड़ी हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मैदानी इलाका वीरान और सूखा है। इसी गर्मी और सूखे के कारण अंग्रेज एक बार में पाँच साल से अधिक समय तक भारत में नहीं ठहरते हैं।

भारत में अब भी यहाँ-वहाँ आदिकालीन जंगल फैला पड़ा है, जो कुल भूमि के लगभग पाँचवें भाग के बराबर है और जहाँ शेर, चीते और साँप बहुतायत से पाये जाते हैं। दिल्ली से लेकर सीलोन (श्रीलंका) तक जो चीज सबसे अधिक पायी जाती है, वह है गर्मी, कड़ी गर्मी। इस गर्मी ने भारत के निवासियों की शारीरिक बनावट को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है, यौवन की अवधि को घटाया है और यहाँ तक कि भारत के धर्म और दर्शन को भी प्रभावित किया है। इस गर्मी से बचने का एक ही रास्ता है, और वह यह कि कुछ न किया जाय और चुपचाप बैठे रहा जाय। मानसून के दिनों में समुद्र पर से होकर ठंडी और पानी भरी हवा आती है, जो धरती को सींचकर उसे उपजाऊ बनाती है। जब मानसून नहीं आता है और पानी नहीं बरसता है तो भारत भूखों मरने लगता है और फिर निर्वाण की कल्पना करता है।

२. प्राचीनतम सभ्यता

प्रागैतिहासिक भारत; मोहनजोदाड़ो; मोहनजोदाड़ो की प्राचीनता।

उस जमाने में जबकि इतिहासकारों का मत था कि इतिहास का आरम्भ यूनान से हुआ है, तब यूरोप यह मान बैठा था कि भारत तब तक बर्बर जातियों का एक प्रदेश मात्र था जब तक कि यूरोपीय जातियों के ही भाई-बन्धु "आर्य लोग" कैस्पियन सागर के तट से बढ़कर भारत नहीं पहुँच गये, उस असभ्य प्रदेश में अपनी कलाओं और अपने ज्ञान-विज्ञान को भी साथ नहीं लेते गये। बाद में हुए शोध-कार्य के फलस्वरूप यूरोप को अपना यह विचार त्यागने के लिए विवश होना पड़ा और जो शोध-कार्य जारी है, उसके चलते बहुत सम्भव है कि इन पृष्ठों में व्यक्त किये गये विचारों में भी संशोधन करना पड़ जाय। भारत में भी अन्यत्र की भाँति सभ्यता के प्रारम्भिक अवशेष धरती की गोद में छिपे पड़े हैं, और ऐसा लगता है कि पुरातत्वविज्ञान शायद कभी भी उनको पूरी तरह से प्रकाश में नहीं ला पायेगा। पाषाणयुग के अवशेषों से कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के संग्रहालयों की आलमारियाँ भरी पड़ी हैं, और नवपाषाण काल के अवशेष लगभग सभी प्रदेशों में पाये गये हैं फिर भी इतना सही है कि इस काल की संस्कृतियों ने कभी एक सभ्यता का रूप नहीं ग्रहण किया था।

सन १९२४ में भारत से प्राप्त होनेवाले एक समाचार ने संसार के विद्वानों को एक बार फिर से चकित कर दिया—सर जान मार्शल ने यह घोषणा की कि उनके भारतीय सहयोगियों खासतौर से आर० डी० बनर्जी नामक एक अन्वेषक ने सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर मोहनजोदाड़ो नामक स्थान में एक ऐसी सभ्यता के अवशेष खोजे हैं, जो कि इतिहास की अब तक ज्ञात सभी सभ्यताओं से अधिक पुरानी है। वहाँ, तथा वहाँ से कुछ सौ मील उत्तर हड़प्पा नामक स्थान में चार या पाँच एक के ऊपर एक बसे हुए नगरों के अवशेषों को खोद कर निकाला गया। इन नगरों में ईंटों के बने हुए सैकड़ों पक्के मकान और दूकानें पायी गईं। ये मकान और दूकानें कई स्थानों पर तो कई मंजिलों में बनी थीं और चौड़ी-चौड़ी सड़कों और सँकरी गलियों के किनारे बसी हुई थीं। ये अवशेष कितने पुराने हैं, इसके बारे में सर जान मार्शल का अनुमान इस प्रकार है—

"इन अन्वेषणों के आधार पर सिंधु और पंजाब में ईसा से चार या तीन हजार वर्ष पुरानी एक ऐसी सभ्यता का पता चलता है जिसका नागरिक जीवन बहुत अधिक विकसित हो चुका था। कई मकानों में कुएँ और स्नानागार और बड़े कायदे से बनी हुई नालियाँ पायी गई हैं, जिनसे ऐसे नागरिकों के निवास का पता चलता है, जिनके सामाजिक जीवन का स्तर कम से कम सुमेर के सामाजिक जीवन के बराबर था और तत्कालीन बेबीलोनिया और मिस्र के सामाजिक जीवन से कहीं अधिक ऊंचा था।.....यहाँ तक कि ऊर में मिले मकान भी अपनी बनावट की दृष्टि से मोहनजोदाड़ो के मकानों की बराबरी नहीं कर सकते।"

इन स्थानों पर मिले अवशेषों में जो वस्तुएँ पायी गई हैं, उनमें घर में काम आनेवाले बर्तन और शृंगार-प्रसाधन हैं; हाथ से और चाक पर बने हुए सादे तथा रंग से चित्रित मिट्टी के बर्तन हैं; मिट्टी के खिलौने, पासे और शतरंज के प्यादे हैं; ऐसे सिक्के हैं जो अब तक के ज्ञात सिक्कों में सबसे पुराने हैं; एक हजार से अधिक मुहरें हैं, जिनमें से अधिकांश पर किसी अज्ञात चित्रलिपि में कुछ न कुछ खुदा हुआ है; बहुत अच्छी सजावटी वस्तुएँ हैं; पत्थर पर नक्काशी का काम किया गया है जो कि सुमेरियाई नक्काशी के काम

से ऊँचे दर्जे का है; ताँबे के हथियारों और औजारों के अलावा दो पहियोंवाली गाड़ी का एक ताँबे का एक नमूना भी है, जो कि पहियेदार गाड़ी के हमारे सबसे प्राचीन नमूनों में से एक है; चाँदी और सोने की चूड़ियाँ, कान के आभूषण, गले के हार तथा अन्य आभूषण भी मिले हैं, जिनके बारे में मार्शल का कहना है कि "इन गहनों की बनावट इतनी उम्दा है और इनकी पालिश इतनी बढ़िया है ऐसा लगता है, कि ये ५,००० साल पुराने किसी मकान के बजाय लन्दन के किसी जौहरी की दूकान में पाये गये हों।"

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि मिट्टी के निचले स्तरों में दबे पाये गये अवशेष उन अवशेषों से कहीं अधिक विकसित प्रतीत होते हैं जो कि मिट्टी की ऊपरी सतहों में पाये गये हैं—जैसे कि सबसे प्राचीन अवशेष उस सभ्यता के हों जो कि अन्य की अपेक्षा सैकड़ों या सम्भवतः हजारों वर्ष पुरानी थी। इन अवशेषों में मिले औजारों में से कुछ पत्थर के, कुछ ताँबे के और कुछ काँसे के हैं, जिनके आधार पर पता चलता है कि सिंध संस्कृति ने उपकरणों के निर्माण की दृष्टि से प्रस्तर से काँस्य युग तक विकास किया था। ऐसा लगता है कि मोहनजोदाड़ो उस समय अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुका था, जब केओप्स ने मिस्र में प्रथम विशालकाय पिरामिड का निर्माण कराया था। यह भी पता चलता है कि इसके सुमेरिया और बेबीलोनिया से व्यापारिक, धार्मिक और कलागत सम्पर्क भी था,[१] और यह लगभग तीन हजार साल तक ईसा से तीन शताब्दी पूर्व तक अवस्थित था[२] हम अभी यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि जैसा कि मार्शल का भी मत

---

[१] इस प्रकार के सम्पर्कों के होने का एक प्रमाण यह भी है कि मोहनजोदाड़ो में मिली मुहरें उन मुहरों जैसी ही हैं, जैसी कि सुमेरिया में (विशेषकर मिस्र में) मिली हैं। इसके अलावा मेसोपोटामिया में मिली प्राचीन मुहरों पर भी मोहनजोदाड़ो की मुहरों की भाँति नाग की आकृति बनी है। सन् १९३२ में डा० हेनरी फ्रैंकफर्ट ने आधुनिक तेल-आस्मार में (बगदाद के समीप) एक बेबिलोनियाई—ऐलमी गाँव के भग्नावशेषों में मिट्टी की मुहरें और मनके खोदकर निकाले थे, जो कि उनके मतानुसार (और सर जान मार्शल के भी मतानुसार) लगभग २००० वर्ष ई० पू० में मोहनजोदाड़ो से आयात किये गये थे।

[२] मैक्डोनेल का मत है कि यह आश्चर्यजनक सभ्यता सुमेरिया से यहाँ आयी थी; हाल का मत है कि सुमेरियाइयों ने अपनी संस्कृति भारत से प्राप्त की थी; वूली का कहना है कि सुमेरियाइयों और प्राचीन भारतीयों ने बलूचिस्तान में या उसके समीप ही रहनेवाली किसी जाति से अपनी संस्कृति प्राप्त की थी तथा दोनों के पूर्वज इसी स्थान से आये थे। इतिहासकारों के लिए यह एक बड़े अचरज की बात है कि बेबिलोनिया और भारत में मिली एक जैसी ही मुहरें मेसोपोटामियाई संस्कृति के प्राचीनतम (पूर्व-सुमेरियाई) काल से, लेकिन सिंधु सभ्यता के बहुत बाद के और अत्यन्त विकसित स्थिति के काल से संबद्ध हैं—इस प्रकार भारत की प्राचीनता का संकेत मिलता है। चाइल्ड ने भी इसी मत की पुष्टि की है—"४,००० वर्ष ई० पू० तक आबीदोस, ऊर या मोहनजोदाड़ो की भौतिक संस्कृति पेरिक्लीज कालीन एथेन्स या किसी भी मध्ययुगीन नगर की संस्कृति का मुकाबला कर सकती थी।....गृह-निर्माण कला, मुहरों की कटान की सफाई और मिट्टी के बर्तनों की सुन्दरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता ३,००० वर्ष ई० पू० के आरम्भ तक बेबिलोनियाई सभ्यता से आगे बढ़ चुकी थी। लेकिन यह तो भारतीय सभ्यता का बहुत बाद का समय है, इसके पहले के काल में ही यह काफी विकसित हो चुकी थी। इसलिए क्या यह नहीं कहा जा सकता

है कि मोहनजोदाड़ो की सभ्यता संसार की अब तक ज्ञात सभ्यताओं में सबसे प्राचीन है।¹ लेकिन, प्रागैतिहासिक भारत के अवशेषों की खुदाई अभी हाल ही में शुरू हुई है, यह हमारे ही युग की बात है कि पुरातत्व विद्या ने मिस्र और मेसोपोटामिया से अपना ध्यान अब भारत की ओर केन्द्रित किया है जब कि भारत की भूमि की खुदाई भी उसी तरह हो जायगी जिस तरह की मिस्र में हुई है तब सम्भवतः यहाँ हमें एक ऐसी सभ्यता के अवशेष प्राप्त हो सकेंगे जो कि नील घाटी की सभ्यता से अधिक पुरानी थी।[1]

३. भारतीय आर्य

मूल निवासी; आक्रामक; ग्रामीण समाज; जाति या वर्ण; योद्धा और सैनिक; पुरोहित और पंडित; व्यापारी और मजदूर; अछूत या समाज बहिष्कृत लोग।

सिन्ध और मैसूर में मिले प्राचीन अवशेषों की क्रमबद्धता के बावजूद हमें ऐसा लगता है कि मोहनजोदाड़ो के स्वर्ण युग और आर्यों के आगमन के बीच के काल के बारे में हमारा ज्ञान बिल्कुल अन्धकार में है। सिन्धु घाटी में मिले अवशेषों में एक ऐसी विचित्र मुहर भी मिली है जिस पर नाग की दो आकृतियाँ बनी हुई हैं, नाग वास्तव में भारत के प्राचीनतम निवासियों का प्रतीक चिह्न था ये निवासी स्वयं भी नाग जाति के कहलाते थे, जो सर्प की पूजा किया करते थे और आर्यों के आक्रमण के समय भारत के उत्तरी प्रदेशों पर इन्हीं का आधिपत्य था। इनके कुछ वंशज अब भी कुछ पहाड़ी प्रदेशों में पाये जाते हैं। इसके दक्षिण का भू-भाग काले रंग और चौड़ी नाक वाले ऐसे लोगों के अधिकार में था जिनकी उत्पत्ति के बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है और जिन्हें हम द्रविड़ कहते हैं। आर्य आक्रमण के समय तक द्रविड़ काफी सभ्य हो चुके थे और उनके साहसी व्यापारी मार्ग से सुमेरिया और बेबिलन की यात्रा किया करते थे। द्रविड़ों ने बहुत ढंग से अपने नगर बसा रखे थे जिनमें हर तरह की आराम की व्यवस्था की गयी थी। स्पष्टरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने ग्राम समाज की व्यवस्था, कर-व्यवस्था और भूमि के पट्टे आदि की प्रथा द्रविड़ों से ही अपनायी थी। आज तक दक्षिणी भारत के निवासी द्रविड़ हैं और उनके रीति-रिवाज, उनकी भाषा, कला और उनका साहित्य मूल रूप से द्रविड़ ही है।

कि पूर्व सुमेरियाई संस्कृति ने भारतीयों से प्रेरणा प्राप्त की थी? यदि यह सही है तो क्या स्वयं सुमेरियाई लोग भी सिंधु नदी के ही आसपास के किसी क्षेत्र से या उससे प्रभावित किसी समीपवर्ती क्षेत्र से आये थे?" इन प्रश्नों का अभी ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता, लेकिन इनसे हमें इस तथ्य का पुनः स्मरण हो जाता है कि हमारे अज्ञान के कारण सभ्यता का इतिहास उस बिन्दु से शुरू होता है, जो कि संस्कृति के वास्तविक विकास के दौर का संभवतः बहुत बाद का बिन्दु है।

¹हाल में ही मैसूर के चितलद्रुग नामक स्थान में हुई खुदाई में छः संस्कृतियों के अवशेष एक के ऊपर एक दबे हुए पाये गये हैं, इनमें प्रस्तर युग के औजारों से लेकर मिट्टी के ऐसे बर्तन तक प्राप्त हुए हैं, जिन पर ज्यामितीय आकृतियों में सजावटी काम किया गया है—ये अवशेष ४,००० वर्ष ई० पू० से लेकर ईसवी सन् १२०० तक पुराने हैं।

इन उन्नतशील और सभ्य जातियों पर आर्यों ने उत्तर से जो हमला किया था, वह इतिहास के एक व्यापक चक्र का ही रूप था जिसके अनुसार प्राचीन काल में कई स्थानों पर उत्तर की जातियों ने दक्षिण में बसने वाली अधिक सभ्य जातियों पर आक्रमण करके उनको नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास किया था—आर्यों ने द्रविड़ों और आचियनों पर आक्रमण किया, दोरियाई लोगों ने क्रीत और ईजीयन जातियों पर, जर्मनों ने रोमनों पर, लम्बार्द लोगों ने इतालवियों पर, और अंग्रेजों ने सारी दुनिया पर आक्रमण किया। इतिहास में हमेशा से कुछ ऐसा होता आया है कि उत्तरी प्रदेशों में लड़ाकू और शासक वर्ग के लोग पैदा होते रहे और दक्षिण में कारीगर कलाकार और साधु-सन्त।

ये आक्रामक आर्य कौन थे ? उन्होंने स्वयं ही अपने लिए इस शब्द का प्रयोग किया और अपने आपको श्रेष्ठ वर्ग का सिद्ध किया—संस्कृत में आर्य का अर्थ होता है—"श्रेष्ठ"। लेकिन बहुत सम्भव है कि उस जाति के लोगों ने इस शब्द का यह गौरवपूर्ण अर्थ बाद में खोज निकाला हो और वास्तव में इसका अर्थ कुछ और ही रहा हो।[1] बहुत सम्भव है कि वे भी कैस्पियन सागर के समीप के उसी क्षेत्र से आये हों जिसे कि फारस में जाकर बसने वाले उनके जाति-भाई "ऐरयाना-वायेजो" या "आर्यों का आदि-देश" कहा करते थे।[2] जब कासाइट जाति के आर्यों ने बेबीलोनिया पर आक्रमण किया था उसी समय वैदिक आर्यों ने भारत में प्रवेश किया।

इटली पर आक्रमण करनेवाले जर्मनों की भाँति ये आर्य आक्रामक के बजाय निष्क्रमणार्थी अधिक थे। लम्बे-तगड़े शरीरवाले ये लोग खाने और पीने के भी बड़े शौकीन थे, साथ ही रणभूमि में सामरिक दक्षता, साहस और क्रूरता भी इनमें कम नहीं थी। अपने इन्हीं गुणों के बल पर ही इन्होंने उत्तरी भारत पर कब्जा कर लिया, ये युद्ध में धनुष-बाण का प्रयोग करते थे। सेना की अगली पंक्ति में जिरह-बख्तर से लैस योद्धा रथों में सवार हो कर चलते थे और फरसे तथा भाले फेंक कर शत्रु सेना को तितर-बितर कर देते थे। उन्हें अपने लिए भूमि और अपने मवेशियों के लिए चरागाहों की जरूरत थी और इनको प्राप्त करना ही उनके आक्रमण का लक्ष्य था। उन्हें "अधिक से अधिक गायों" की जरूरत थी। धीरे-धीरे वे सिन्धु और गंगा नदी के किनारे-किनारे पूर्व की ओर बढ़ते गए और अन्त में उन्होंने पूरे "हिन्दुस्तान" पर अपना आधिपत्य कर लिया।[3]

इसके बाद उन्होंने तब तक के लिए लड़ाई-भिड़ाई छोड़कर खेती-बाड़ी का जीवन

---

[1] मोनियर-विलियम्स् ने 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'ऋ' धातु से मानी है, जिसका अर्थ है, हल चलाना। लैटिन में हल को 'आरेत्रम' कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में आर्य का अर्थ 'श्रेष्ठ' नहीं बल्कि 'कृषक' रहा होगा।

[2] ईसा पूर्व १४वीं शताब्दी के आरम्भ में आर्य हित्तियों और मितानियाइयों के बीच हुई एक संधि में इंद्र और वरुण जैसे वैदिक देवताओं का उल्लेख मिलता है। 'सोम' रस के पान के वैदिक अनुष्ठान से 'होमा' नामक पौधे के रस को पीने की फारसी प्रथा भी मिलती-जुलती है (और संस्कृत का 'स' जेन्द या फारसी के 'ह' से मिल जाता है—जैसे, 'सिंधु' का 'हिन्दू' और 'सोम' का 'होमा')। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मितानियाई, हित्ती, कासाइट, सोग्दीयाई, बाक्त्रियाई, मेद, फारसी, और भारत के आर्य आक्रामक उस एक ही 'हिन्द-यूरोपीय' जाति के थे, जो कास्पियन सागर के तट से चारों ओर फैली थी।

[3] नर्मदा के उत्तर के भारत को प्राचीन फारसी लोग हिन्दुस्तान कहा करते थे।

अपना लिया जब तक कि बाद में उनके बीच धीरे-धीरे अनेक छोटे राज्यों का विकास नहीं हो गया। इनमें प्रत्येक राज्य का शासक एक राजा होता था जो योद्धाओं की एक परिषद् के परामर्श से शासन कार्य चलाता था। प्रत्येक प्रजाति का सरदार ही उसका राजा होता था और एक जातीय परिषद् की राय से राज काज सम्भालता था। ये प्रजातियाँ अपने आप में स्वतन्त्र कई ग्राम-समाजों से मिल कर बनती थी। ग्राम-समाजों की व्यवस्था ऐसी परिषदों के हाथ में होती थी जिनके सदस्य विभिन्न परिवारों के बड़े-बूढ़े हुआ करते थे।

अन्य लोगों की भाँति आर्यों में भी जाति के आधार पर विवाह के नियम प्रचलित थे—प्रजाति के बाहर विवाह का निषेध था और समान-रक्त के निकट-सम्बन्धियों में भी विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकता था इन्हीं नियमों के आधार पर बाद की अनेक हिन्दू प्रथाओं का विकास हुआ। आर्य लोग जानते थे कि उनकी संख्या यहाँ के मूल निवासियों की तुलना में बहुत कम है इसलिए यदि अन्तर्जातीय विवाह की रोकथाम नहीं की गई तो उनकी जातीय पृथकता समाप्त हो जायगी, तथा एक या दो शताब्दी में ही उनकी जाति का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। इसी कारण आरम्भ में जाति-भेद रंग के आधार पर ही हुआ।[1] लम्बी नाक वाले आर्य और चपटी नाक वाले नाग और द्रविणों में भेद किया गया। बाद में विकसित होने वाली वर्ण और जाति व्यवस्था वैदिक युग में वर्तमान नहीं थी। स्वयं आर्यों में जन्म के आधार पर जाति और सामाजिक स्थिति का निर्णय नहीं होता था और केवल निकट-सम्बन्धियों को छोड़ कर बाकी सब में आपस में विवाह सम्बन्ध होते थे।

जब वैदिक भारत (२०००-१००० वर्ष ई० पू०) से आगे चलकर "वीरकाल" का युग आया (१०००-५०० वर्ष ई० पू०)—अर्थात् जब भारत की वह स्थिति बदली जिसका कि वेदों में वर्णन किया गया है और महाभारत तथा रामायण में वर्णित स्थिति का समारम्भ हुआ तब लोगों के काम-धन्धे अधिक स्पष्ट रूप से निश्चित हुए और वंश परम्परा के अनुसार चलने लगे तब जाति या वर्ण-व्यवस्था अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो गयी। उस समय सर्वोच्च स्थान योद्धाओं या क्षत्रियों को प्राप्त था, जो रणभूमि में ही प्राण गँवाना अपना धर्म मानते थे। आरम्भिक काल में धार्मिक अनुष्ठान तक राजा या जाति के सरदार के हाथों ही संपन्न होता था, और ब्राह्मण या पुरोहित केवल पूजा-पाठ में सहायक होते थे। उस समय ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त नहीं था। रामायण (वाल्मीकि) में एक स्थान पर एक क्षत्रिय इसका बहुत विरोध करता है कि क्षत्रिय जाति की एक सुन्दरी का विवाह एक ब्राह्मण पुरोहित के साथ क्यों किया गया। इसी प्रकार जैन धर्म ग्रन्थों में क्षत्रियों के नेतृत्व को मान्यता प्रदान की गयी है, और बौद्ध साहित्य में तो ब्राह्मणों को "निम्न वर्ग" का सिद्ध किया गया है। इस प्रकार भारत में भी सब कुछ हमेशा से एक जैसा नहीं रहा।

परन्तु जैसे-जैसे युद्ध के स्थान पर शान्ति की स्थापना हुई और धर्म का सामाजिक महत्व बढ़ा तथा उसके विधि-विधान में पेचीदगी आने लगी तो ऐसे व्यक्तियों का महत्व बढ़ने लगा जो देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ का काम कर सकते थे—इस प्रकार ब्राह्मणों की संख्या बढ़ने लगी और धन तथा शक्ति भी उनके हाथ में आने लगी। चूंकि वे बच्चों को शिक्षा प्रदान करते थे, इसके अलावा अपनी जाति के इतिहास साहित्य और

---

[1] जाति के लिए प्राचीन हिन्दू शब्द है 'वर्ण,' जिसका अर्थ है 'रंग'।

नियमों को भी कंठस्थ करके सुरक्षित रखा करते थे इसलिए उनके लिए यह सम्भव हो सका कि वे भूत और भविष्य की कल्पना अपनी इच्छा के अनुसार करें और धीरे-धीरे ब्राह्मणों के महत्व को बढ़ाते जायें। इस प्रकार पीढ़ियों के प्रयास के द्वारा उन्होंने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर ली और कुछ शताब्दियों के बाद तो हिन्दू समाज में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। स्वयं बुद्ध के समय में ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की श्रेष्ठता को चुनौती देना और उनको निम्न वर्ग का सिद्ध करना आरम्भ कर दिया था, और उधर क्षत्रिय ब्राह्मणों को अपने से नीचा सिद्ध कर रहे थे। बुद्ध के युग में भी क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के बौद्धिक नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया था, स्वयं बौद्ध धर्म की स्थापना एक क्षत्रिय राजकुमार ने की थी, और बौद्ध धर्म लगभग १००० वर्ष तक भारत में ब्राह्मणों के एकाधिपत्य को चुनौती देता रहा।

इन दो अल्प संख्यक शासक वर्गों के बाद वैश्यों या व्यापारियों का स्थान माना जाता था जो कि बुद्ध के पूर्व तक एक वर्ण के रूप में बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हो सके थे। उनके बाद श्रमिकों या शूद्रों की गिनती होती थी जिनमें उन मूल निवासियों की संख्या अधिक थी जिन्होंने हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया था। सबसे अन्त में अन्त्यज की गिनती होती थी जिनमें चाण्डालों की भाँति उन मूल निवासियों को माना जाता था जिन्होंने हिन्दू धर्म को स्वीकार नहीं किया था, इनके अलावा युद्धबन्दियों और उन लोगों को भी इसी वर्ग में माना जाता था जिन्हें दण्ड के रूप में दास वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती थी। इन्हीं जाति हीन या अन्त्यज लोगों की संख्या बढ़ कर आज के भारत में चार करोड़ "अछूतों" के रूप में विद्यमान है।

४. आर्यों की समाज व्यवस्था

पशुपालक; कृषक; कारीगर; व्यापारी; मुद्रा-प्रणाली और ऋण व्यवस्था; नैतिक मान; विवाह-व्यवस्था; स्त्रियां।

इन भारतीय आर्यों का जीवन कैसा था? सबसे पहले तो इनके जीवन का आधार था युद्ध और लूट-मार, फिर ये पशु-पालन, खेती-बारी और छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों में व्यस्त हुए। भारतीय आर्य पशु-पालन का कार्य करते थे और आरम्भ में गाय को पवित्र नहीं मानते थे तथा जब सम्भव होता था तब गो-मांस का भक्षण भी करते थे लेकिन मांस-भक्षण के पूर्व देवताओं को उसका भोग लगाना नहीं भूलते थे। स्वयं बुद्ध की मृत्यु सुअर के मांस की दावत खाने के बाद हुई थी। वे जौ की भी खेती करते थे लेकिन वैदिक युग में उन्हें चावल का ज्ञान नहीं हो सका था। प्रत्येक जनपद या ग्राम समाज में जितने परिवार होते थे उनके बीच खेत बाँट दिये जाते थे और उनकी सिंचाई की व्यवस्था सामूहिक रूप से होती थी। किसी बाहरी व्यक्ति के हाथ भूमि बेची नहीं जा सकती थी और परिवार के पुरुष उत्तराधिकारियों को ही भूमि का उत्तराधिकार प्राप्त होता था। अधिकांश व्यक्ति स्वयं अपनी ही भूमि पर खेती करते थे, क्योंकि आर्य किसी की मजदूरी करना अपमानजनक मानते थे। उस समय न तो जमींदार थे और न गरीब किसान, न अमीर थे और न गरीब। नगरों में स्वतन्त्र कारीगर दस्तकारी के कामों में व्यस्त रहते थे। इन कारीगरों और इनके यहाँ काम सीखने वाले नौसिखुओं ने अपने पेशे के आधार पर अपने संगठन बना रखे थे, जैसे लोहार, बढ़ई, संगतरास, चमड़े का काम करने वाले, हाथी दाँत की वस्तुएँ बनाने वाले, डलिया बनाने वाले, मकानों को रँगने और सजाने का काम करने वाले, कुम्हार, रँगरेज, मछुए, मल्लाह, शिकारी और बहेलिए, कसाई, हलवाई,

नाई, मालिश करने वाले, माली, रसोइये आदि-आदि। एक तरह का पेशा करने वाले लोग अपने झगड़े आपस में ही तय किया करते थे। वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण हमारी तरह वस्तु की माँग को देख कर नहीं किया जाता था बल्कि ग्राहक की क्रय शक्ति को देख कर किया जाता था। वैसे, राज महल में एक विशेष अधिकारी वस्तुओं का दाम निश्चित करता था, उनकी परीक्षा करता था और निर्माताओं को आवश्यक आदेश दिया करता था।

घोड़े और दो पहिये की गाड़ी यात्रा और माल ढोने के काम में आती थी। सीमाओं पर चुंगी वसूली जाती थी और व्यापारियों को मार्ग में डाकुओं का मुकावला भी करना पड़ता था। नदी और समुद्र के मार्ग से माल के परिवहन का अधिक विकास हुआ था। ८६० वर्ष ई० पू० के लगभग छोटी-छोटी पालों और सैकड़ों डाँडों से चलने वाले जहाज मैसोपोटामिया, अरब और मिस्र को कई प्रकार की भारतीय वस्तुएँ पहुँचाया करते थे जैसे इत्र-फुलेल, मसाले, सूती और रेशमी कपड़े, शाल-दुशाले, मोती और कीमती जवाहरात, आबनूस की लकड़ी और कीमती पत्थर तथा चाँदी और सोने की जरीदार वस्तुएँ आदि-आदि।

व्यापार वाणिज्य में विनिमय के कई प्रकार के साधनों का प्रयोग होता था—मवेशियों को मुद्रा की तरह काम में लाया जाता था और गायें देकर दुलहनें खरीदी जाती थीं, बाद में ताँबे के भारी सिक्के भी काम में आने लगे, लेकिन इनका प्रचलन निजी स्तर पर ही था। धन को घर में ही छिपा कर रखा जाता था, या जमीन में गाड़ दिया जाता था अथवा किसी मित्र के यहाँ जमा कर दिया जाता था। बाद में बुद्ध के युग में ऋण प्रथा की भी शुरुआत हुई। विभिन्न नगरों में ऐसे महाजन पाये जाते थे जो हुन्डियाँ जारी करते थे और ब्याज पर धन दिया करते थे। ब्याज की दर अठारह प्रतिशत तक थी। जुए का प्रचलन भी था और कई जगह तो स्वयं राजा अपनी प्रजा के लिए जुए के अड्डों की स्थापना करता था तथा जुए में प्राप्त होने वाले धन का एक अंश सरकारी खजाने में चला जाता था।

व्यापारिक नैतिकता का स्तर काफी ऊँचा था। होमर कालीन यूनान की भाँति वैदिक भारत के राजा गण भी कभी-कभी पड़ोसियों के मवेशी हँका लाते थे लेकिन सिकन्दर के अभियानों का इतिहास लिखने वाले एक यूनानी इतिहासकार ने हिन्दुओं के बारे में लिखा है, "ये लोग बड़े ईमानदार होते हैं और इन्हें मुकदमेबाजी की बहुत कम जरूरत पड़ती है। ये अपने घरों में ताले लगाना जरूरी नहीं समझते और आपस के समझौतों को बराबर निभाते हैं तथा इसके लिए लिखा-पढ़ी की आवश्यकता नहीं होती।" ऋगवेद में माता और बहन से विवाह, व्यभिचार, वेश्यावृत्ति और गर्भपात का उल्लेख मिलता है तथा समलिंगी मैथुन के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। परन्तु वेदों और रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के माध्यम से हमें उस युग के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है, उससे पता चलता है कि उस समय यौन सम्बन्धों और पारिवारिक जीवन का स्तर बहुत ही ऊँचा और आदर्श था।

विवाह आम तौर से दुलहिन को जबरदस्ती भगा कर या उसको खरीद कर किया जाता था और लड़के, लड़की की सहमति से होने वाला विवाह साधारण कोटि का माना जाता था। स्वयं स्त्रियाँ भी अपने लिए यह एक गर्व की बात समझती थीं कि कोई उचित मूल्य देकर उन्हें खरीद ले जाये या चुरा लाये। बहु पत्नी विवाह का भी प्रचलन था और उच्च वर्ग के लोगों में इसे प्रोत्साहित भी किया जाता था। एक से अधिक पत्नियों को पालना सम्मान सूचक समझा जाता था। द्रौपदी की कथा से, जिसने एक साथ पाँच भाइयों से विवाह किया था, यह पता चलता है कि वीरगाथा काल में बहुपति प्रथा का भी

प्रचलन था जिसमें एक स्त्री का विवाह कई पुरुषों से आम तौर से कई भाइयों के साथ हुआ करता था। वहु-पति प्रथा सन् १८५९ तक श्री लंका या सीलोन में प्रचलित थी और तिब्वत के कई पहाड़ी गाँवों में आज तक इसके कुछ अवशेष पाये जाते हैं। आर्य परिवार पितृ प्रधान होता था और पुरुष को इसका पूरा अधिकार प्राप्त था कि वह चाहे तो अपनी पत्नियों को और बच्चों को दूसरे के हाथ बेच दे।

इतना होने पर भी भारत में वैदिक काल में स्त्रियों को बाद के युग की अपेक्षा कहीं अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। विवाह के विभिन्न प्रकारों से भले ही ऐसा प्रतीत न होता हो लेकिन उस काल की स्त्रियों को अपने जीवनसाथी के चुनाव की काफी सुविधा प्राप्त थी। स्त्रियाँ सहभोज और सामूहिक नृत्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेती थीं और धार्मिक अनुष्ठानों में पुरुषों के साथ रहती थीं, उन्हें विद्या अध्ययन का अवसर प्राप्त था और वे गार्गी की भाँति दार्शनिक वाद-विवादों में भी भाग लिया करती थीं। विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई रोक नहीं थी। बाद के युग में स्त्रियाँ धीरे-धीरे अपने इन अधिकारों को खोती गयीं, स्त्रियों के लिए वेद का अध्ययन निषिद्ध हो गया, विधवाओं का पुनर्विवाह बहुत कम हो गया और पर्दा प्रथा की शुरुआत हुई तथा सतीप्रथा; जिसका कि वैदिक युग में बिल्कुल प्रचलन नहीं था; बढ़ती गयी। अब तो रामायण की सीता ही स्त्रियों के लिए आदर्श थीं, जिसने विनम्रतापूर्वक पति का अनुसरण किया और जो मृत्युपर्यन्त अपने सतीत्व की परीक्षा के लिए सहर्ष तैयार रहीं।

५. वेदों का धर्म

पूर्व वैदिक युग का धर्म; वैदिक देवी-देवता; नैतिक मूल्यों के देवता; सृष्टि के आरम्भ की वैदिक कथा; अनैतिकता; अश्वबलि या अश्वमेध।

भारत का सबसे प्राचीन धर्म, जो कि आर्यों के आक्रमण के समय नाग जाति के मध्य प्रचलित था और जो आज भी विभिन्न जातियों के छोटे-छोटे सम्प्रदायों में प्रचलित है, पशु-पक्षी और गोत्र चिह्न की पूजा का ही एक रूप था जिसमें नदी, पर्वत, वृक्ष और ग्रह नक्षत्रों की पूजा होती थी। नाग और सर्प की देवता के रूप में पूजा होती थी। वृक्ष पूजा के रूप में बुद्ध के बोधि वृक्ष की पूजा आज भी प्रचलित है। सर्प देव नाग, वानर देव हनुमान, वृषभ देव नन्दी का पूजन ऐतिहासिक भारत के धर्म में बराबर प्रचलित रहा है। ऐसी मान्यता भी प्रचलित रही है कि वायु में अनेक प्रकार की शुभ और अशुभ आत्माएँ पाई जाती हैं और जिनसे मनुष्य प्रभावित होता रहता है। इनके प्रभाव से मुक्ति पाने के लिए जंत्र-मंत्र और जादू-टोने की भी व्यवस्था हुई। अथर्ववेद में ऐसे अनेक मंत्र संग्रहीत हैं, जिनका जप पुत्र प्राप्ति, गर्भपात से मुक्ति, दीर्घ जीवन आदि के लिए आवश्यक माना गया है तथा जिनके बल पर "दुर्भाग्य से मुक्ति पायी जा सकती है, निद्रा लायी जा सकती है और शत्रुओं का नाश किया जा सकता है।"

प्रकृति के विभिन्न तत्व और उसकी शक्तियाँ ही वेदों के प्राथमिक देवी-देवता थे जो आकाश, सूर्य, पृथ्वी, अग्नि, प्रकाश, वायु, जल और काम के प्रतीक थे। द्योस (यूनानी ज्यूस, रोमन जूपितर) पहले केवल आकाश का ही प्रतिनिधि था और संस्कृति शब्द "देव" जिसका कि बाद में देवता या अलौकिक शक्ति माना जाने लगा, आरम्भ में उसका अर्थ केवल "प्रकाशवान" से था। बाद में धीरे-धीरे कवियों ने इन प्राकृतिक वस्तुओं को आकार प्रदान करना शुरू किया—आकाश को पिता के रूप में वरुण माना गया और धरती को माता के रूप में माना गया और वनस्पति को इन दोनों के सम्मिलन का फल

माना गया। वर्षा की परजन्य के रूप में, आग की अग्नि के रूप में, हवा की वायु के रूप में पूजा होने लगी। झंझावात को रुद्र, आँधी को इन्द्र, प्रातःकाल को उषस्, खेत में हल से पड़ने वाली धारियों को सीता, सूरज को सूर्य, मित्र या विष्णु माना जाने लगा। यहाँ तक कि "सोम" नामक पौधे को जिसका रस नशे के लिए किसी समय मनुष्य और देवताओं द्वारा काम में लाया जाता था और पवित्र माना जाता था अब एक देवता के रूप में पूजित होने लगा, जिससे उत्तेजना और प्रेरणा प्राप्त कर मनुष्य आनन्द, ज्ञान और दया भाव की प्राप्ति कर सकता था। व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों का आरम्भिक युग काव्य के समान सरस होता है और अन्त गद्य के समान नीरस होता है। वस्तुओं की मनुष्यों के रूप में कल्पना की जाने लगती है। गुण वस्तुओं का रूप ले लेते हैं और भावनाएँ देवताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। जीवनदाता सूर्य को अब पवित्र माना जाने लगा, चमकता हुआ सूर्य वैवस्वत और सब जीवों में जीवन की उत्पत्ति करने वाला सूर्य अब प्रजापति के रूप में पूजा प्राप्त करने लगा।

कुछ समय तक अग्नि का वैदिक देवताओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान थे अग्नि की ज्वाला देवताओं के नाम पर चढ़ाई गई वस्तुओं को धूम्र के रूप में स्वर्ग तक पहुँचाती थी, वह आकाश में बिजली बन कर चमकती थी, वही जीवन में गति उत्पन्न करती थी। अग्नि के सर्वोपरि होने पर भी देव गण इन्द्र सबसे अधिक लोक प्रिय था, उसे आँधी, तूफान और वर्षा का देवता माना जाता था। भारतीय आर्यों के लिए सूर्य से भी अधिक वर्षा का महत्व था इसी लिए उन्होंने इन्द्र को देव गणों में सर्व प्रमुख माना है। यही नहीं युद्ध के समय इसीलिए उसकी आराधना की जाती थी कि वह गाज गिरा कर शत्रुओं का नाश कर दे। इन्द्र द्वारा किया गया वज्रपात सर्वनाशक होता था। वेदों में इन्द्र को कृष्ण का शत्रु माना गया है। यहाँ तक कि विष्णु या सूर्य को इन्द्र के बाद स्थान दिया गया है यद्यपि बाद में विष्णु का स्थान देवगणों में सर्वोपरि हो गया और कृष्ण को उनका अवतार माना गया। इस प्रकार वेदों में हम धर्म को विकसित होते हुए और एक निश्चित रूप ग्रहण करते देखते हैं। वेदों में हम पशु- पक्षी की पूजा से लेकर देव गणों के दार्शनिक रूप तथा अथर्ववेद के अन्धविश्वास से लेकर उपनिषदों के आध्यात्मिक दर्शन तक का क्रमिक विकास पाते हैं।

इन देवताओं की कल्पना मनुष्य के रूप में की गई है, वे मनुष्य की ही भाँति जीवन-यापन करते हैं और राग-द्वेष से भी प्रभावित होते हैं। उनमें से कुछ ने वैदिक युग के अन्तिम चरण में काफी महत्व प्राप्त कर लिया था। पहले वरुण की कल्पना केवल विशाल आकाश के रूप में की गई थी लेकिन बाद में उसके आराधकों ने उसे वेदों के एक आदर्श देवता का स्वरूप प्रदान किया जो कि सूर्य रूपी अपने विशाल नेत्र से संसार की देख-भाल करता है, दुष्टों को दंड देता है और सज्जनों को पुरस्कृत करता है और अपनी शरण में आने वालों के अपराधों को क्षमा कर देता है। इस प्रकार वरुण को "ऋतु" या शाश्वत नियम का रक्षक और पालक माना गया है। इस शाश्वत नियम के आधार पर आकाश में तारा मण्डल का संचालन होता है और संसार की सभी वस्तुओं का नियमन होता है।

जब देवताओं की संख्या बढ़ गई तो यह प्रश्न उठा कि उनमें से किसने संसार की सृष्टि की। सृष्टि का श्रेय कभी अग्नि को कभी इन्द्र और कभी सोम को और कभी प्रजापति को दिया जाने लगा। एक उपनिषद् में सृष्टि के निर्माता की कल्पना एक अदम्य शक्ति के रूप में की गई है—

"आरम्भ में उसे सुख नहीं था, चूँकि वह अकेला था इसलिए सुखी नहीं था, उसे अपने जैसे ही एक अन्य की इच्छा थी। एक आलिंगनवद्ध स्त्री, पुरुष के रूप में वह अकेला था अन्त में उसने अपने आप को दो भागों में विभक्त किया। इस प्रकार पति और पत्नी की सृष्टि हुई, उनके सम्मिलन से ही मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। पत्नी ने सोचा कि उसने स्वयं ही मुझे उत्पन्न किया है और वह स्वयं ही किस प्रकार मुझसे संभोग करता है इस लिए उसने अपने आपको छिपा लिया और एक गाय का रूप धारण किया, इस पर उसने भी साँड का रूप धरा और इस प्रकार मवेशियों की उत्पत्ति हुई फिर वह घोड़ी वनी और वाद में गदही वनी और उसने भी घोड़े और गदहे का रूप धारण किया इस प्रकार सव पशुओं की सष्टि हुई।"

इस प्रकार एकेश्वरवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित हुआ—यह माना गया कि सृष्टिकर्त्ता और उसकी सृष्टि में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं। समस्त वस्तुएँ और जीवन के समस्त रूप मूल-रूप से एक ही हैं। इस विचार ने उपनिषदों में एक निश्चित रूप ग्रहण किया लेकिन वैदिक युग में इसे विशेष समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। पुनर्जन्म के स्थान पर भारतीय आर्य भी फारस के आर्यों की भाँति व्यक्तिगत अमरता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। मृत्यु के वाद आत्मा या तो नरक में हमेशा दण्ड भोगती रहती थी या स्वर्ग में शाश्वत सुख का उपभोग करती थी। लेकिन कठोपनिषद् में यह कहा गया है कि "अन्न की भाँति मनुष्य भी नष्ट हो जाता है और फिर अन्न की ही भाँति उत्पन्न होता है।"

जहाँ तक हमें पता चल सका है ऐसा लगता है कि वैदिक धर्म में न तो मन्दिर थे और न मूर्तियाँ ही थीं। जोरोस्त्रीय फारस की भाँति भारत में भी यज्ञ और वलिदान के लिए वेदियों का निर्माण किया जाता था और पवित्र अग्नि की सहायता से हविष स्वर्ग तक पहुँचता था जैसा कि प्रत्येक सभ्यता के आरम्भ काल में हुआ है। यहाँ भी नर-वलि के कुछ प्रमाण मिलते हैं लेकिन उनकी संख्या वहुत कम। फारस की भाँति यहाँ भी कभी-कभी देवताओं के लिए वलि के रूप में घोड़े को यज्ञ में जलाया जाता था जैसा कि श्री आर० सी० दत्त ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि इस युग की एक विचित्र प्रथा यह थी कि "अश्वमेध" के समय जव घोड़े को वलि चढ़ा दिया जाता था तो ऐसा लगता है कि रानी को उस पवित्र घोड़े के साथ संभोग करना पड़ता था। यज्ञ में सोमरस और घृत का हवन किया जाता था। यज्ञ तथा अन्य कठिन अनुष्ठानों के लिए पुरोहितों की सहायता लेनी पड़ती थी और इसके लिए पुरोहितगण पारितोषिक की माँग करते थे, यहाँ तक कि पुरोहित देवताओं के पहले अपना पारितोषिक यजमान से वसूल कर लेते थे। व्राह्मणों ने विभिन्न प्रकार के पूजा-पाठ के लिए विभिन्न प्रकार के पारिश्रमिक निश्चित कर दिये थे—उन्होंने तय कर दिया था कि कितनी गायें या कितने घोड़े अथवा कितने सोने का दान किस कार्य के लिए आवश्यक है। सोना पुरोहितों और देवताओं दोनों ही को विशेष प्रिय था। "व्राह्मण" ग्रन्थों में, जिनकी रचना, व्राह्मणों द्वारा की गयी है, पुरोहितों से कहा गया है कि अगर यजमान जितनी दक्षिणा देनी चाहिए उतनी नहीं देता है तो पूजा-पाठ में इस तरह का अन्तर कर देना चाहिये कि उसको लाभ होने के वजाय उल्टे हानि हो। यही नहीं जीवन के प्रत्येक विशेष अवसर पर होने वाले आवश्यक संस्कारों के विधि-विधान भी निश्चित किए गए, जिन्हें सम्पन्न कराने के लिए व्राह्मण पुरोहितों की सहायता लेना आवश्यक था। इस प्रकार धीरे-धीरे व्राह्मण एक विशेषाधिकार प्राप्त जाति के रूप में शक्तिशाली होते गये और भारत के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन पर हमेशा के लिए उनका एकाधिपत्य स्थापित हो गया।

६. वेद : साहित्य के रूप में

संस्कृति भाषा और अंग्रेजी; लिपि; चार वेद; ऋग्वेद।

भारतीय आर्यों की भाषा संस्कृत हमारे लिए विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करने की वस्तु है क्योंकि यह "हिंद-यूरोपीय" भाषाओं के गुट की सबसे प्राचीन भाषाओं में से एक है और अंग्रेजी भी इसी गुट से सम्बन्धित है। संस्कृत, यूनानी, लैटिन और अंग्रेजी में कई बातों की समानता है जैसे अंक, संख्या, पारिवारिक सम्बन्ध सूचक शब्द आदि आदि कई माने में एक जैसे ही हैं।[1] यह बिलकुल असम्भव प्रतीत होता है कि यह प्राचीन भाषा, जिसके बारे में सर विलियम जोन्स् का कहना है कि "यह यूनानी की अपेक्षा अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक भरी-पूरी और दोनों से अधिक मँजी हुई भाषा है," आर्य आक्रमणकारियों की बोलचाल की भाषा थी। वह बोली वास्तव में कैसे थी, यह तो हमें पता नहीं लेकिन इतना हम अनुमान कर सकते हैं कि उसका उस प्राचीन फारसी बोली से बहुत निकट का सम्बन्ध था, जिसमें 'आवेस्ता' की रचना हुई थी। वेदों तथा महाकाव्यों की संस्कृत एक अत्यन्त परिमार्जित और 'क्लासिकल' भाषा है, जिसका प्रयोग विद्वानों, पंडितों और पुरोहितों द्वारा किया जाता था—'संस्कृत' शब्द का अर्थ है 'शुद्ध, पवित्र और सुरक्षित।' वैदिक युग में आम जनता की कोई एक भाषा नहीं, बल्कि अनेक भाषाएँ थीं। भारत में कभी भी सब की एक भाषा नहीं रही।

वेदों में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि उनके रचयिताओं को लिखने का ज्ञान भी था। वह तो कहीं ईसा पूर्व आठवीं या नवीं शताब्दी में हिन्दू—या सम्भवतः द्रविड़—व्यापारी पश्चिमी एशिया से एक सेमिटिक लिपि अपने साथ लाये, जो कि फिनीशियाई लिपि से मिलती-जुलती थी और इसी लिपि से, जो कि 'ब्राह्म लिपि' कहलायी, भारत की बाद की सभी लिपियों का विकास हुआ। लगता है कि सदियों तक व्यापारिक और प्रशासकीय उद्देश्यों से ही लेखन का उपभोग होता था, और साहित्य के लिए इसके उपयोग की कल्पना नहीं की गयी थी। एक तरह से कहा जा सकता है कि लेखन-कला का विकास पण्डितों ने नहीं, बल्कि व्यापारियों ने किया। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को भी ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के पहले लिपिबद्ध नहीं किया जा सका। भारत में जो सबसे प्राचीन लेख मिले हैं, वे अशोक के शिलालेखों में ही मिले हैं। हमें सदियों से लिखी हुई या छपी हुई वस्तुओं को पढ़कर याद रखने की आदत पड़ गयी है, इसलिए हमें यह जान कर आश्चर्य होता है कि भारत के लोग लिखना सीख लेने के बाद भी बहुत दिनों तक अपने इतिहास और साहित्य को जबानी रटकर ही याद रखा करते थे। वेदों और महाकाव्यों को इसी प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी कंठस्थ करके सुरक्षित रखा गया। लेखन-कार्य के प्रति इसी उपेक्षा भाव के कारण प्राचीन भारत के बारे में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है।

आदिकालीन भारत के बारे में हमारा सारा ज्ञान जिन वेदों पर आधारित है, वे

---

[1] अंग्रेजी—वन, टू, थ्री, फोर, फाइव; संस्कृत—एक, द्वि, त्रि, चतुर, पंच; लैटिन (या लातानी)—यूनस, डुओ, त्रेस, क्वातूर, क्विन्के; यूनानी (ग्रीक)—हेइस, दुओ, त्रिआ, तेतारा, पेन्ते। अंग्रेजी—ऐम, आर्ट, इज, संस्कृत—अस्मि, असि, अस्ति; लैटिन—सम, एस, एस्त; यूनानी—ईमी, एई, एस्ती।

वास्तव में क्या हैं ? 'वेद' शब्द का अर्थ होता है 'ज्ञान'।[1] इस प्रकार वेद ग्रंथ का अर्थ है, ज्ञान का ग्रंथ। वेदों के अन्तर्गत हिन्दू लोग (अर्थात् भारतीय) प्राचीन काल के अपने समस्त धार्मिक रूप से पवित्र साहित्य को सम्मिलित मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि 'बाइबिल' कोई एक पुस्तक नहीं बल्कि साहित्य है। किसी समय में अनेक वेद प्रचलित थे, जिनमें से केवल चार अब उपलब्ध हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक वेद चार भागों में विभक्त है—मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद।[2]

इन चार में से केवल एक वेद का धर्म, दर्शन या कर्म काण्ड के बजाय साहित्य से सम्बन्ध है। 'ऋग्वेद' एक प्रकार का धार्मिक संकलन है, जिसमें १०२८ ऋचाएँ संग्रहीत हैं। इन ऋचाओं में उन वस्तुओं की प्रार्थना या प्रशंसा की गयी है, जिनकी भारतीय आर्य पूजा किया करते थे—जैसे, सूर्य, चन्द्र, आकाश, ग्रह-नक्षत्र, वायु, वर्षा, अग्नि, प्रभात, पृथ्वी आदि।[3] इनमें से अधिकांश में गौ, बैल, फसल और दीर्घ जीवन आदि के लिए सीधे-सीधे प्रार्थना की गयी है; इनमें से कुछ ही ऐसी ऋचाएँ हैं, जो साहित्य के स्तर तक उठ पायी हैं। इनमें से कुछ तो बड़ी कलापूर्ण और सुन्दर बन पड़ी हैं तथा कुछ में स्वयं स्फूर्ति काव्य है, जिसमें बाल सुलभ जिज्ञासा और आश्चर्य को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। एक में आश्चर्य प्रकट किया गया है कि लाल रंग की गाय से सफेद दूध प्राप्त होता है तथा दूसरी में इस बात पर अचरज प्रकट किया गया है कि जब सूर्य अस्त होते समय आसमान से उतरने लगता है तो पृथ्वी पर क्यों नहीं आ गिरता। एक अन्य ऋचा में यह प्रश्न पूछा गया है कि "सभी नदियों का जल सागर में गिरता है, लेकिन सागर कभी पूरा भर क्यों नहीं पाता।" अन्य एक ऋचा मरसिया के रूप में है, जिसमें रणक्षेत्र में मारे गये एक बन्धु का वर्णन है :

---

[1] यूनानी 'ओइदा', लैटिन, 'विदिओ,' जर्मन 'वीज़,' अंग्रेजी 'विट' और 'विज़डम।'

[2] वेदों के इस विभाजन के अलावा अन्य कई विभाजन भी संभव हैं। 'ब्राह्मण' और 'उपनिषद्' के उन भाष्यों के अलावा, जिन्हें "दिव्य प्रेरणा से प्रसूत" माना जाता है, हिन्दू विद्वान वेदों में उन सूत्रों की गणना करते हैं, जिनमें सूत्र या संक्षिप्त रूप में भाष्य किया गया है। इनमें से कई तो इतने संक्षिप्त हैं कि उनका सही अर्थ निकालना कठिन है। शायद इनकी रचना उन छात्रों के लिए की गयी थी, जिन्हें सब कुछ कंठस्थ करना पड़ता था।

वेदों के इस काव्य, दर्शन और कर्मकांड के विस्तृत साहित्य के रचयिताओं और उनके काल के बारे में किसी को कुछ भी पता नहीं। धर्म भीरु हिन्दुओं का मत है कि इनका प्रत्येक शब्द ईश्वर की प्रेरणा से प्रसूत है और इस सारे साहित्य को स्वयं ब्रह्मा ने अपने हाथ से सोने के पत्रों पर लिखा है और इस मत का आसानी से खंडन संभव नहीं है। स्वदेश-प्रेम और देश-गौरव की भावना से प्रेरित अनेक भारतीय विद्वानों का मत है कि प्राचीनतम ऋचाओं की रचना ६००० से १००० वर्ष ई० पू० में हुई होगी। इस संपूर्ण साहित्य का संकलन और संयोजन संभवतः १००० से ५०० वर्ष ई० पू० के आस-पास हुआ होगा।

[3] साधारणतया इनकी रचना चार पंक्तियों के पदों में हुई है। प्रत्येक पंक्ति में ५, ८, ११ या १२ शब्द या शब्दांश होते हैं।

"मृतक के हाथ से मैं उस धनुष को ग्रहण करता हूँ, जिसे वह धारण किया करता था।
यह धनुष हमें राज्य, शक्ति और गौरव प्रदान करे !
तुम वहाँ से और हम यहाँ से शत्रुओं के प्रत्येक आक्रमण का दमन करेंगे।
हे बन्धु, माता पृथ्वी तुम्हें शरण दे और अपनी उन जैसी गोद में तुम्हें सुरक्षित रखे।

ओ धरित्री, मार्ग दो ! हमारे बन्धु का स्वागत करो !
माता अपने आँचल में बालक को जैसे छिपा लेती है उसी भाँति,
हे धरती माता, हमारे इस बन्धु को शरण दो !"

एक अन्य काव्य में (ऋग्वेद १०-१०) मनुष्य जाति के आदि माता-पिता, जो कि आपस में एक दूसरे के भाई-बहन हैं, यम और यमी का संवाद दिया गया है। यमी अपने भाई यम को अपने साथ संभोग के लिए आमंत्रित करती है और कहती है कि वह ऐसा केवल इसलिए करना चाहती है कि जाति की संख्या में वृद्धि हो सके और वंश-परम्परा जारी रहे। यम नैतिकता के उच्च आदर्शों के नाम पर उसका विरोध करता है। वह उसे आकर्षित करने का हर संभव प्रयास करती है और अन्त में अपने अन्तिम शस्त्र का प्रयोग करती है—उसे पुंसत्वहीन करार देती है। यह कथा अधूरी ही है, और आगे क्या होता है, इसका हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। इनमें सब से सुन्दर वह काव्य है, जिसमें सृष्टि के आरम्भ का वर्णन किया गया है :

"प्रथम था शून्य, जो न हों या और ना।
ऊपर न आकाश था और न स्वर्ग।
फिर सब कुछ किससे मंडित था ? किससे आवेष्ठित था ?
क्या सर्वत्र जल ही जल था—अपार-जल ?
तब न मृत्यु थी और न अमरता, न दिन था और न थी रात्रि।
तब केवल वह था, अकेला प्रभु था;
और दूसरा न था कोई।
सर्वत्र अंधकार था, सब कुछ अंधकाराच्छन्न था।
तभी वह बीज जो आवरण में बन्द था, उष्णता पा फूट पड़ा—
और यों प्रकृति का पदार्पण हुआ।
और तब उस पर प्रेम और नव वसन्त का आगमन हुआ।
कवियों से इसका भेद छिपा न रह सका,
तथा रचित और अरचित वस्तुओं का आपस का संबन्ध स्पष्ट हुआ।
यह स्फुलिंग कहाँ से आया—पृथ्वी से या आकाश से ?
और तब बीज बोये गये और शक्तियों ने जन्म लिया—
धरती पर प्रकृति और गगन में शक्ति का उदय हुआ——
भला यह रहस्य कौन जान पाया है ? यहाँ कौन बता सकता है कि
यह नाना रूपी सृष्टि कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुई ?
स्वयं देवतागण बाद में पधारे।
क्या सृष्टि की रचना उस परम शक्तिवान् की इच्छा से हुई है ?
यह तो वही जानता है, या हो सकता है कि उसे भी कुछ पता न हो !

इस समस्या का हल ढूँढ़ने का काम उपनिषद्कारों ने सम्भाला। उन्होंने उप-

रोक्त संकेतों के आधार पर विचार आरम्भ किया और इस प्रयास में एक ऐसे दर्शन की रचना की जो सम्भवतः हिन्दू दर्शन की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

७. उपनिषदों का दर्शन

उपनिषदों के रचयिता; उनका सिद्धान्त; बुद्धि बनाम अन्तस्चेतना; आत्मा; ब्राह्मणवर्ग; ईश्वर की कल्पना; मुक्ति; उपनिषदों का प्रभाव; ब्रह्म के सम्बन्ध में इमरस के विचार।

जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने एक जगह कहा है—"संसार भर में उपनिषदों के समान प्रेरणाप्रद ग्रन्थ और कोई नहीं है। उपनिषदों से मुझे जीवन में बड़ी शान्ति मिली है और इन्हीं के कारण मुझे मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी ताह-होतेप की नैतिक शिक्षाओं को छोड़ कर उपनिषद् ही दर्शन और मनो-विज्ञान के संसार में प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें बड़ी आश्चर्यजनक सूक्षमता और गम्भीरता तथा धैर्य के साथ जीवन और जगत तथा मानव मन की गहराइयों को समझने का तथा उनके आपस के सम्बंधों के विश्लेषण का प्रयास किया गया है। प्राचीनता की दृष्टि से उपनिषद् होमर के समान ही प्राचीन हैं और आधुनिकता में वे महान् जर्मन दार्शनिक कांत के सिद्धान्तों की बराबरी करते हैं।"

उपनिषद शब्द दो शब्दों के मेल से बना है "उप" अर्थात् समीप और "षद्" अर्थात् बैठना। प्राचीन काल में गुरु अपने सबसे योग्य और प्रिय शिष्यों को अपने पास बिठाकर ज्ञान का रहस्य समझाया करते थे। उपनिषदों में इस प्रकार के १०८ उपदेश संग्रहीत हैं, जोकि ८०० से ५०० वर्ष ई० पू० के लगभग सन्त महात्माओं और विद्वानों द्वारा समय-समय पर दिये गए थे। इनमें दर्शन के किसी सुनियोजित सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के बजाय अनेक व्यक्तियों के अपने निजी मतों का प्रतिपादन और उनकी व्याख्या की गई है। ये व्यक्ति ऐसे थे जो तब तक दर्शन और धर्म में कोई अंतर नहीं कर पाये थ। इनमें कई जगह विरोधाभास स्पष्टरूप से लक्षित होता है तथा कई निरर्थक बातों का भी समावेश हुआ है। इनमें कभी तो हमें मात्र दार्शनिक शब्दाडम्बर मिलता है और कभी ऐसे दार्शनिक विचार मिलते हैं जो दर्शन के इतिहास में अपनी गम्भीरता और गहनता की दृष्टि से अद्वितीय हैं।

हमें अनेक उपनिषद्कारों के नाम ज्ञात हैं लेकिन उनके जीवन के बारे में हमें उन थोड़े बहुत तथ्यों के अलावा और कुछ भी ज्ञात नहीं है जोकि उन्होंने अपने प्रवचन के दौरान में यदा-कदा व्यक्त किए हैं। उपनिषद्कारों में सर्व प्रमुख हैं, याज्ञवल्क्य और गार्गी जिन्हें कि संसार के प्राचीनतम दार्शनिक होने का सम्मान प्राप्त है। इन दोनों में से याज्ञवल्क्य का स्वर काफी तीखा और ओजस्वी है, उनके समसामयिक विद्वान उन्हें बहुत नीची नजर से देखते थे और उनका विश्वास नहीं कर पाते थे, लेकिन बाद की पीढ़ियों ने उनके सिद्धान्त को इतना अधिक अपनाया कि किसी के लिए भी उसको चुनौती देना सम्भव नहीं रह गया। याज्ञवल्क्य ने स्वयं ही लिखा है कि किस तरह उन्होंने संन्यास ग्रहण करने के उद्देश्य से अपनी दो पत्नियों को त्यागने का प्रयास किया था। उनकी पत्नियों में से एक मैत्रेयी उनसे प्रार्थना करती है कि वे उसे न त्यागें और अपने साथ ही ले चलें। मैत्रेयी की इस प्रार्थना में हमें उस गम्भीरता और भावुकता का एक परिचय मिलता है जोकि भारत में धर्म और दर्शन की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर देने वाले व्यक्तियों में हजारों वर्ष तक पायी जाती रही है:

"और तब याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी

पत्नी से कहा—"मैत्रेयी, सुनो ! अब मैं संन्यास ग्रहण कर एक स्थान से दूसरे स्थान भ्रमण करना चाहता हूँ, लाओ मैं तुम्हारे और कात्यायनी के लिए सारी व्यवस्था कर जाऊँ।"

मैत्रेयी बोली—"हे देव, यदि आप संसार भर की धन सम्पदा भी मुझे सौंप दें तो क्या इससे मैं अमरता प्राप्त कर सकूँगी ?"

याज्ञवल्क्य बोले—"नहीं, नहीं ! धन सम्पदा से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।"

इस पर मैत्रेयी ने कहा—तो फिर मुझे बताइये कि उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँगी जिससे कि मुझे अमरता प्राप्त नहीं हो सकती ? इसलिए हे देव मुझे आप अपना ज्ञान प्रदान कीजिये।"

उपनिषदों में इस संसार के रहस्यों का हल ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है, "हमारा जन्म कहाँ से हुआ है, हम कैसे जीवित रहते हैं, और मृत्यु के बाद हम कहाँ जाते हैं ?" हे देव आप, जिन्हें कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त है, बताइये कि हमारे जीवन का संचालन और अनुशासन कौन करता है.....क्या यह कार्य समय अथवा प्रकृति, या आवश्यकता, अथवा संयोग, या सृष्टि के मूल तत्वों, अथवा उसके द्वारा सम्पन्न होता है जो कि "पुरुष" कहलाता है, और जो सर्वोपरि है ? "भारत में ऐसे जिज्ञासुओं की संख्या अन्यत्र से अधिक रही है जो कि धन सम्पत्ति के बजाय अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए विशेष उत्सुक रहे हैं। "मैत्रेयोपनिषद्" में हमें एक राजा की कथा मिलती है जो तत्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपना राज-पाट छोड़ कर जंगल में चला जाता है। जब राजा एक हजार दिन तक तप कर चुका तो एक ज्ञानी महात्मा उसके पास आये। राजा ने उनसे कहा—"हे महात्मन्, आप सृष्टि का रहस्य जानते हैं, कृपया मुझे भी इसका उपदेश दीजिये।" उस साधु ने राजा से कहा कि इस इच्छा को त्याग कर और जो कुछ चाहो माँग लो। लेकिन राजा अपने हठ पर अड़ा रहा और मनुष्य जीवन की निस्सारता और असुन्दरता के बारे में विस्तार से कहने लगा, वह बोला—"हे महात्मन् इस निस्सार शरीर में, इस दुर्गन्धपूर्ण शरीर में जो कि रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, चर्म, मल-मूत्र, वायु, थूक, बलगम आदि पदार्थों से बने इस शरीर में किसी सुखभोग की कामना किस प्रकार की जा सकती है ? इस शरीर में जो कि काम, क्रोध, लोभ, इच्छा, राग, द्वेष, भय, जुगुप्सा, प्रिय से विछोह, अप्रिय से मिलन, भूख, प्यास, मूढ़ता, दुख, रोग और मृत्यु आदि से सदा प्रभावित रहता है भला किसी सुख भोग की कामना कैसे की जा सकती है ? और जब हम देखते हैं कि यह संसार इन कीड़े-मकोड़ों, इन कीट-पतंगों, और इन झाड़झंखाड़ों की भाँति नष्ट होता जा रहा है.....यहाँ सागर सूख जाते हैं, पर्वत धँस जाते हैं, महाप्रलय होता है, ध्रुव तारा भी अपने स्थान से च्युत हो सकता है—ऐसे इस जीवन मरण के संसार में भला कोई व्यक्ति कैसे किसी सुख भोग की कामना कर सकता है, जब कि वह जानता है कि इस असार संसार को भोगने के बाद बार-बार उसे यहाँ आना पड़ेगा ?"

उपनिषदों में जो सब से पहली सीख दी गई है और गुरुगण अपने शिष्यों को बराबर जिसका स्मरण कराते रहते हैं, वह यह है कि बुद्धि या ज्ञान की पहुँच सीमित और अपर्याप्त है। भला मनुष्य का यह कोमल मस्तिष्क जो कि गणित के जरा से कठिन प्रश्न को हल करते थक जाता है, उस जीवन और जगत के गूढ़ रहस्य को समझने की आशा कैसे कर सकता है जिसका कि वह स्वयं एक गतिशील और अस्थाई अंश है ? ऐसा नहीं है कि बुद्धि या ज्ञान को निरर्थक माना गया है, उसका अपना एक स्थान स्वीकार किया गया

है लेकिन एक अनन्त और शाश्वत सत्य के सामने उसकी शक्ति सीमित हो जाती है। इस अनन्त और शाश्वत सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें अपनी बुद्धि और अपने मस्तिष्क की क्षमता के अलावा एक अन्य अधिक उचित साधन की आवश्यकता होती है इसीलिए कहा गया कि "अध्ययन और पांडित्य से आत्मा या परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। प्रतिभा या पुस्तक-ज्ञान यहाँ काम नहीं दे सकता.....ब्राह्मण को चाहिए कि वह पांडित्य को त्याग कर एक शिशु की अबोधता स्वीकार करे।..... उसे चाहिए कि वह शब्दों के जाल में न फँसे, क्योंकि यह केवल वाग्जाल है।" जैसे कि बाद के महान् यहूदी दार्शनिक स्पिनोज़ा ने स्वीकार किया है कि आत्म ज्ञान ही उच्चतम ज्ञान है और जैसा कि बाद में बर्गसाँ ने भी स्वीकार किया, उपनिषदों का कहना है कि मन की अन्तस्चेतना से ही दिव्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।" ब्रह्म या ईश्वर ने मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को ऐसा बनाया है कि उनकी सहायता से वह केवल बाह्य जगत की अनुभूति प्राप्त कर पाता है और अपने अन्दर नहीं देख पाता, केवल कुछ ज्ञानी व्यक्ति ही अमरत्व की इच्छा से, बाह्य जगत के प्रति अपनी आँखें मूंद कर अपने अन्तर में देख पाता है और आत्म ज्ञान प्राप्त कर पाता है।"

यदि अपने भीतर देखने पर कोई व्यक्ति वहाँ कुछ भी नहीं पाता है तो इससे केवल उसके आत्म-दर्शन की सत्यता ही प्रमाणित होती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति तब तक अपने भीतर उस शाश्वत सत्य के दर्शन की आशा नहीं कर सकता जब तक कि वह अपने अहं से पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाता। उस अनन्त की अनुभूति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने मन, वचन और कर्म से पाप को दूर कर दे, तथा शरीर और आत्मा की अस्थिरता से मुक्ति प्राप्त कर ले। इसके लिए एक पखवारे के उपवास की विधि बतायी गई है, जिसमें जल के अलावा और कोई वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिये। इस तरह के उपवास के बाद ही मन को शांति और स्थिरता प्राप्त होती है, इन्द्रियाँ शुद्ध और शांत हो जाती हैं, आत्मा सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर स्वयं अपनी अनुभूति में रत हो जाती है और उस अनन्त से अपने सहोदरत्व का अनुभव करने लगती है जिसका कि वह स्वयं एक अंश मात्र है। अन्त में व्यक्ति का "स्व" समाप्त हो जाता है और वह उस अनन्त सत्य से एकाकार हो जाता है। अन्तरात्मा की अनुभूति का प्रयास करने वाला वास्तव में उस दिव्य आत्मा की अनुभूति करना चाहता है और उससे एकाकार होना चाहता है जो सभी जीवों का मूल है, जो आदि आत्मा है। जब हम अपने आप को पूरी तरह से भुला देते हैं तभी हम उस दिव्य आनन्द की अनुभूति कर पाते हैं जिसे ब्रह्मानन्द कहा जाता है।

यह वास्तव में सिद्धि की पहली सीढ़ी है यह ज्ञान कि हमारा स्वत्व वास्तव में हमारा शरीर, मन या अहं नहीं है बल्कि हमारे भीतर वास करने वाली आत्मा है; जोकि उस निराकार दिव्य आत्मा का एक अंश मात्र है। आत्मा की अनुभूति के बाद की दूसरी सीढ़ी है ब्रह्म की अनुभूति, उस ब्रह्म की अनुभूति जिसके बारे में कहा गया है :

"और फिर साकल्य ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य, कुल देवताओं की संख्या कितनी है?"

उन्होंने उत्तर दिया—"उतनी ही संख्या है जितनी का उल्लेख देवताओं की वन्दना में किया गया है अर्थात्, तीन सौ और तीन, या तीन हजार और तीन।"

"हां, लेकिन कुल देवता कितने हैं?"

"तेंतीस।"

"हां, लेकिन कुल देवता कितने हैं ?"
"छह।"
"हां, लेकिन कुल देवता कितने हैं ?"
"दो।"
"हां, लेकिन कुल देवता कितने हैं ?"
"डेढ़।"
"हां, याज्ञवल्क्य, लेकिन वास्तव में कुल देवता कितने हैं ?"
"केवल एक।"

"सिद्धि की तीसरी सीढ़ी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—यह अनुभूति कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। उपनिषदों में इसी पर विशेष जोर दिया गया है और गुरु बार-बार शिष्य को इसका स्मरण कराता रहता है। इसको व्यक्त करने के लिए एक गुरु ने यह दृष्टान्त दिया है :

"जाओ, एक अन्जीर ले आओ।"
"हे गुरुदेव, यह अन्जीर है।"
"इसको दो भागों में बाँटो।"
"हे गुरुदेव, इसको हमने दो भागों में बाँटा।"
"इसके अन्दर तुम क्या देखते हो ?"
"हे गुरुदेव, इसमें बड़े सुन्दर बीज हैं।"
"इसमें से एक बीज को दो भागों में बाँटो।"
"हे गुरुदेव, इसको हमने दो भागों में बाँटा।"
"इसके अन्दर तुम क्या देखते हो ?"
"हे गुरुदेव, इसके अन्दर कुछ भी नहीं है।"

"ठीक है प्रिय शिष्य, इसका मूल तत्व तुम्हें दिखाई नहीं देता—यही वह मूल-तत्व होता है जोकि प्रत्येक बीज में होता है और जिसके कारण वृक्ष उत्पन्न होते हैं। हे शिष्य, ध्यान दो, यह मूल तत्व ही इस सम्पूर्ण संसार की आत्मा होता है। केवल यही आत्मा सत्य है, शाश्वत है। 'तत् त्वम् असि'—वही तुम हो, हे श्वेत केतु।"

"हे गुरुदेव, मैं इस सम्बन्ध में और ज्ञान चाहता हूँ।"
"तथास्तु।"

आत्मा और परमात्मा या ब्रह्म का यह द्वंद्वात्मक सम्बन्ध और उनका संश्लेषण ही उपनिषदों का मूल सन्देश है उनमें अन्य शिक्षाएँ भी दी गई हैं लेकिन वे सब इसी की अनुवर्ती हैं। इन उपदेशों में हमें पुनर्जन्म[1] के सिद्धान्त में विश्वास और बारंबार जन्म लेने इस चक्र से मोक्ष की आकांक्षा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। विदेह के राजा जनक याज्ञवल्क्य से प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसा मार्ग बतायें जिससे पुनर्जन्म के बन्धन से

---

[1]पुनर्जन्म का सर्वप्रथम उल्लेख "शतपथ उपनिषद्" में मिलता है जिसमें बताया गया है कि पापपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण ही देवगण जीव को बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरने का दण्ड देते हैं। कई लोगों का विश्वास रहा है कि आत्मा या जीव किसी मनुष्य से पशु में और पशु से मनुष्य में आ सकता है। विशेष रूप से भारत के उन निवासियों में जो कि आर्यों के आगमन के पहले थे उनकी भी धारणा आत्मा के पुनर्जन्म के विषय में ऐसी ही थी।

मुक्ति प्राप्ति की जा सके इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने योग का महत्व समझाते हुए बताया कि मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं और आकांक्षाओं को वश में करके परब्रह्म से साक्षात्कार कर सकता है और इस प्रकार पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के बाद राजा कहता है, "हे महात्मन्, मैं विदेह का राज्य आपको सौंप दूंगा और सदा के लिए आपका दास हो जाऊँगा।" इन शब्दों में याज्ञवल्क्य ने ऐसे रहस्यमय स्वर्ग का आश्वासन देने का प्रयास किया है जहाँ व्यक्ति अपने अहम् की चेतना को त्याग कर उस दिव्य और पूर्ण तत्व से एकाकार प्राप्त करता है जोकि इस सृष्टि का मूल है। "जिस प्रकार नदी-नद अपना जल लेकर समुद्र में विलीन हो जाते हैं और इस प्रकार अपना नाम और रूप त्याग देते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी अपने नाम और रूप से मुक्ति प्राप्त कर उस ब्रह्म से एकाकार होने का प्रयास करता है जो कि सबसे ऊपर और सबसे अलग है।"

जीवन और मरण का यह सिद्धान्त पाश्चात्य विचारों के लोगों को मान्य नहीं हो सकेगा क्योंकि वे अपनी राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं की भाँति-ही काफी व्यक्तिवादी होते हैं। लेकिन इस सिद्धान्त ने हिन्दू दार्शनिकों को हमेशा प्रभावित किया है। उपनिषदों का यह दर्शन हमें बुद्ध से लेकर गांधी तक, याज्ञवल्क्य से लेकर टैगोर तक सारी हिन्दू विचारधारा को प्रभावित और अनुप्रेरित करता दिखाई देता है। आज इस युग में भी भारत में हमारे उपनिषदों का वही महत्व है जोकि ईसाई मत को मानने वालों में "न्यू टेस्टामेन्ट" का है। यह सही है कि इसके अनुसार आचरण यदा-कदा ही होता है लेकिन इसके प्रति सम्मान कभी कम नहीं होने पाता। यहाँ तक कि यूरोप और अमेरिका में भी इस दर्शन को हजारों, लाखों व्यक्तियों ने स्वीकार किया है जिनमें जीवन से थके-हारे स्त्री-पुरुष भी हैं और शोपेनहावर तथा इमरसन जैसे दार्शनिक भी।



अध्याय १५

बुद्ध

१. संन्यासी

सन्देहवादी; नकारात्मक विचारों के पक्षपाती; समन्वयवादी; नास्तिक; भौतिकवादी; अनीश्वरवादी।

स्वयं उपनिषदों के माध्यम से ही हमें ज्ञात हो सकता है कि उपनिषद्-काल में भी ईश्वर में सन्देह करने वालों या संशयवादियों का अभाव नहीं था। कभी-कभी ज्ञानी साधु-महात्मा, पुरोहितों और पेशेवर पंडितों का मजाक भी बनाया करते थे, जैसा कि "छांद्योग्य उपनिषद्" में कर्मकांडी पुरोहितों की तुलना कुत्तों की एक ऐसी पंक्ति से की गई है जिनमें से प्रत्येक अपने आगे वाले की पूंछ पकड़ कर चल रहा है और बड़ी धार्मिकता से कहता जा रहा है, "ओम्, आओ हम खायें! ओम्, आओ हम पियें!" इसी प्रकार "स्वासन-वेद उपनिषद्" में कहा गया है कि न कोई ईश्वर है न स्वर्ग और न नरक है, न पुनर्जन्म है और न संसार है, तथा वेद और उपनिषद् की रचना कुछ मूर्खों ने की है; सिद्धान्त और विचार भ्रम के अलावा और कुछ नहीं हैं; और शब्दों पर विश्वास करना बेकार है; लोग वाग्जाल में फँसकर देवताओं और मन्दिरों के चक्कर में पड़े रहते हैं तथा सन्त महात्माओं के फेर में पड़ जाते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि विष्णु और किसी कुत्ते में कोई फर्क नहीं है। इसके अलावा विरोकन की भी कथा है जो कि बत्तीस वर्ष तक स्वयं प्रजापति जैसे देवता का शिष्य रहा और उसने उस आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जो कि "शाश्वत है, जिस पर न तो आयु का प्रभाव होता है और न मृत्यु का, जो सुख-दुख और भूख-प्यास से रहित है।" परन्तु इतना ज्ञान प्राप्त करने के बाद जब विरोकन पृथ्वी पर लौटा तो उसने ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ किया—"जीव इस पृथ्वी पर इसलिए आता है कि सुख से रहे। ऐसा व्यक्ति जो कि इस पृथ्वी पर सुख से रहता है और अपनी सेवा करता है, उसके दोनों लोक सुधर जाते हैं, वह इस लोक में भी सुखी रहता है और परलोक में भी।" ऐसा लगता है कि जिन हिन्दू विद्वानों ने अपने देश का इतिहास लिखा है, उन्होंने जानबूझ कर हिन्दू धर्म और दर्शन के विरोधाभास पर प्रकाश नहीं डाला है।

वास्तव में बुद्ध से पहले के भारतीय दर्शन में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है जो पंडितों और पुरोहितों से घृणा करते थे, सभी देवताओं की स्थिति में सन्देह प्रकट करते थे और जिन्हें लोग संशयवादी और नास्तिक कह कर अपमानित किया करते थे। संगाय नामक ऋषि मृत्यु के बाद के जीवन को न तो स्वीकार करते थे और न अस्वीकार करते थे; ज्ञान की क्षमता में उन्हें विश्वास नहीं था, और दर्शन का उद्देश्य उनकी दृष्टि में शांति प्राप्ति के अलावा और कुछ नहीं है। पूर्णकाश्यप ने नैतिक विभेद को मानने से इन्कार किया है और यह शिक्षा दी है कि जीव स्थिति का दास होता है। मस्का-रीन गोसल का मत है कि मनुष्य में चाहे जैसी योग्यता हो लेकिन भाग्य ही सब कुछ निश्चित करता है। अजित कसकोम्वालिन का कहना है कि मनुष्य और कुछ नहीं केवल, जल

थल, अग्नि और वायु का एक सम्मिश्रण है, तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर विद्वान और मूर्ख सब समान रूप से मिट्टी में मिल जाते हैं, मृत्यु के बाद किसी का कोई अस्तित्व नहीं रहता। रामायण के रचयिता ने भी जाबालि के रूप में एक विशेष संशयवादी चरित्र उपस्थित किया है जो राम का इसलिए मजाक बनाता है कि उन्होंने एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए इतने बड़े राज्य से हाथ धो लिया।

"एक विद्वान ब्राह्मण और दार्शनिक जाबालि ने, जो कि नियम कर्त्तव्य और विश्वास में सन्देह करता था और इनके सिद्धान्तों को चुनौती देता था, अयोध्या के राजकुमार राम से इस प्रकार बोला—हे राम, झूठे आदर्शों और सिद्धान्तों ने आपको भ्रम में डाल रखा है। नैतिक आदर्शों के सिद्धान्तों ने सीधे-सादे लोगों को हमेशा भ्रम में डाला है।... मुझे ऐसे व्यक्तियों पर तरस आता है जो कि कर्त्तव्य-पालन के नाम पर अपने सुख को बलिदान कर देते हैं यहाँ तक कि उनका जीवन नीरस हो जाता है, इतना होने पर भी वे देवताओं और पितृगणों को निरर्थक ही भेंट-पूजा चढ़ाते रहते हैं। यह सिवा मूर्खता के और कुछ नहीं है क्योंकि इतना निश्चित है कि न तो देवगण और न ही पितृगण हमारी किसी भेंट-पूजा को स्वीकार करने की स्थिति में हैं और भला एक व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया गया भोजन दूसरे के शरीर को किस प्रकार पुष्ट कर सकता है? इसलिए ब्राह्मण को कराया गया भोजन भला हमारे पितृगणों को कैसे प्राप्त हो सकता है? यह सारा भ्रम ब्राह्मणों और पुरोहितों द्वारा फैलाया गया है, अपने निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर ही वे कहा करते हैं कि पूजा-पाठ करो, भेंट चढ़ाओ और दक्षिणा दो, क्योंकि इससे तुम्हें पुण्य लाभ होगा। हे राम, इस जन्म के बाद दूसरा जन्म नहीं होना है, मृत्यु के बाद के जीवन की आशा व्यर्थ है इसलिए भविष्य की चिन्ता छोड़कर आज सुख भोग करो, अपने जीवन को व्यर्थ न गँवाओ।"

गौतम बुद्ध की युवावस्था में ही उत्तरी भारत के लगभग सभी सार्वजनिक स्थानों में यहाँ तक कि राजमार्गों और वनों में दार्शनिक वाद-विवाद की धूम मची रहती थी, उपदेशकों की भरमार थी जिनमें से अधिकांश नास्तिक और भौतिकतावादी विचारों का प्रचार करते थे। स्वयं बाद की उपनिषदों में और प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार के साधुओं का उल्लेख मिलता है। ये लोग परिव्राजक कहलाते थे और एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते रहते थे तथा शिष्यों या विरोधियों की खोज में हमेशा वाद-विवाद या शास्त्रार्थ के लिए तैयार रहते थे। इनमें से कुछ तार्किक थे और तर्क की शिक्षा देते थे, ये तर्क के आधार पर सब कुछ सिद्ध कर सकते थे। अन्य कुछ ऐसे थे जो यह सिद्ध करते-फिरते थे कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार के भाषण और शास्त्रार्थ को सुनने के लिए काफी बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे हुआ करते थे। इसके लिए काफी बड़े-बड़े और पक्के मंडप बनाये गए थे। कभी-कभी राजागण भी ऐसे शास्त्रार्थ के समय उपस्थित रहते थे और इनमें जो विजयी होता था उसको पुरस्कार प्रदान करते थे, यह एक ऐसा युग था जबकि कोई भी स्वतन्त्रता के साथ अपने विचार व्यक्त कर सकता था। यह स्वतन्त्र चिन्तन और अनेक दार्शनिक प्रयोगों का युग था।

इन संशयवादी या नास्तिक उपदेशकों और उनकी शिक्षाओं के बारे में हमें लगभग कुछ नहीं मालूम है और उनके नाम भी हमें उनके विरोधियों द्वारा ही ज्ञात होते हैं जिन्होंने व्यंग्यपूर्वक उनका उल्लेख किया है। इनमें सबसे प्राचीन हैं बृहस्पति, लेकिन उनके कारात्मक सूत्र नष्ट हो चुके हैं केवल एक ऐसा पद बचा है, जिसमें उन्होंने बहुत स्पष्ट नरूप से पुरोहितों की निन्दा की है।

"न स्वर्ग है न मोक्ष; न आत्मा है न दूसरा जन्म.....
सारा भ्रम उन लोगों ने फैला रखा है जिनमें न बुद्धि है न पुरुषार्थ,
यह भ्रम ही जिनकी जीविका का साधन है।
भला भस्म हो जाने के वाद फिर कैसे यह शरीर पृथ्वी पर आ सकता है
पुरोहितों ने जो खर्चीले कर्मकाण्ड रच रखे हैं, उनका उद्देश्य मात्र अपनी जीविका कमाना है।
जव तक जीना है सुख से जिओ, सव से ऋण लो,
और घी पियो।"

वृहस्पति की इसी उक्ति के आधार पर हिन्दू भौतिकवादियों की एक परंपरा चल पड़ी। वाद में इन्हीं भौतिकवादियों में एक चार्वाक के नाम पर यह मत चार्वाकवादी के नाम से जाना जाने लगा इस मत के मानने वाले इस वात का मजाक वनाते थे कि वेदों में दिव्य और परम सत्य का ज्ञान भरा हुआ है उनका कहना था कि सत्य को केवल इन्द्रियों से ही जाना जा सकता है। वुद्धि पर भी विश्वास करना वेकार है, क्योंकि किसी भी वात का निष्कर्ष न केवल इस पर निर्भर करता है कि उस वात का ठीक से मूल्यांकन किया जाय वल्कि यह भी सोचना आवश्यक है कि भविष्य में उसका क्या रूप होगा, और यही एक ऐसी स्थिति है जिसके वारे में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। चार्वाक के मतावलम्वियों का कहना है कि जिसकी अनुभूति हम इन्द्रियों से प्राप्त नहीं कर पाते वह वास्तव में संसार में है ही नहीं, इसलिए जीव और आत्मा की वात व्यर्थ और भ्रामक है। हर घटना प्राकृतिक होती है केवल अल्पज्ञानी और मूर्ख ही यह मान वैठते हैं कि यह घटनाएँ देवताओं या राक्षसों की प्रेरणा से होती हैं। पदार्थ ही एक मात्र सत्य है; शरीर अनेक अणुओं से मिलकर वना है; मस्तिष्क और कुछ नहीं केवल एक ऐसा पदार्थ है जो कि सोचने का काम करता है; आत्मा नहीं वल्कि हमारा शरीर ही देखता सुनता है, सोचता और अनुभव करता है। "आज तक किसने आत्मा को शरीर से अलग देखा है?" इस संसार में न अमरता है न पुनर्जन्म। धर्म एक प्रकार का भ्रममात्र है यह एक रोग है; इस संसार को समझने के लिए और इसका रहस्य जानने के लिए ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है। लोग धर्म को केवल इसलिए आवश्यक मानते हैं कि इसके विना वे एक प्रकार का खालीपन महसूस करते हैं और इसके वे आदी होते हैं, तथा जव ज्ञान की वृद्धि होती है और आदमी का विश्वास कई वातों में कम होने लगता है और फिर धर्म के अभाव में यह स्थिति उसके लिए कठिन हो जाती है। स्वयं नैतिकता के सिद्धान्त भी स्वाभाविक हैं, इनकी रचना सामाजिक सुविधा और परम्परा की दृष्टि से हुई है न कि किसी दिव्य प्रेरणा से प्रकृति की दृष्टि में अच्छा और वुरा, पापी और पुण्यात्मा सव वरावर हैं, सूरज सव पर विना किसी भेद-भाव के चमकता है। अपनी नैसर्गिक आवश्यकताओं और उद्वेगों को रोकना वेकार है क्योंकि यह असल में प्राकृतिक आवश्यकताएँ होती हैं जिनका अपना महत्व होता है। धर्म और नैतिकता का पालन एक प्रकार की गलती है, जीवन का एक-मात्र उद्देश्य है जीना और सुख ही (एक-मात्र ज्ञान है।

चार्वाक मत के इस क्रान्तिकारी दर्शन ने वेद और उपनिषदों के युग को समाप्त कर दिया। इसके कारण भारत के बौद्धिक जीवन पर ब्राह्मणों की पकड़ भी ढीली हुई और हिन्दू समाज में एक ऐसी रिक्तता आ गई जिसके कारण एक नए धर्म का विकास

आवश्यक हो गया। लेकिन भौतिकवादियों ने अपना काम इतनी गहराई और पूर्णता से किया था कि प्राचीन वैदिक मत का स्थान ग्रहण करने के लिए वाद में जिन दो धर्मों का विकास हुआ वे, हालां कि ऐसा कहना वड़ा विचित्र प्रतीत होता है, वास्तव में अनीश्वरवादी धर्म थे, उनका किसी ईश्वर में विश्वास नहीं था। इन दोनों धर्मों का सम्बंध नास्तिक विचार धारा से था और इनकी स्थापना ब्राह्मणों द्वारा नहीं वलिक ब्राह्मण-वाद और कर्मकाण्ड की एक प्रतिक्रिया के रूप में क्षत्रिय जाति के विचारकों द्वारा हुई थी। ये दो धर्म थे वौद्ध और जैन धर्म। वौद्ध धर्म और जैन धर्म के आगमन से भारतीय इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

२. महावीर और जैन धर्म

एक वीर नायक; जैन मत; नास्तिकतावादी बहुदेववाद; आत्महत्या द्वारा मोक्ष प्राप्ति; जैनों का वाद का इतिहास।

ईसा पूर्व छठी शताव्दी के मध्य के लगभग वर्तमान विहार प्रदेश के तत्कालीन वैशाली नामक महानगरी के एक उप नगर में लिच्छवी जाति के एक धनी सरदार के घर एक वालक ने जन्म लिया।[1] उसके माता-पिता एक ऐसे मत को मानने वाले थे जिसमें पुनर्जन्म को एक प्रकार का दुर्भाग्य माना जाता था और आत्महत्याको मोक्ष का एक साधन माना जाता था। जब उनका पुत्र इकत्तीस वर्ष का हो गया तो उन्होंने निराहार रहकर स्वेच्छा से प्राण त्याग दिए। युवक महावीर पर इसकी वड़ी गहरी प्रतिक्रिया हुई और वह संसार से विरक्त हो गया। वह वस्त्रहीन होकर रहने लगा और आत्म-शुद्धि तथा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए संन्यास धारण कर पश्चिमी वंगाल में इधर-उधर भ्रमण करने लगा। लगभग तेरह वर्ष तक इस प्रकार विरक्त भाव से इधर उधर भ्रमण करने के वाद कुछ लोगों ने उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और उसे "जिन" अर्थात् विजेता या जयी की उपाधि से विभूषित किया। धीरे-धीरे उसके शिष्यों को यह विश्वास हो गया कि वह भी उन महापुरुषों या अवतारी पुरुषों में से एक है जो जनता के कल्याण के लिए समय समय पर जन्म धारण करते हैं। उसके शिष्यों ने उसे महावीर कहना शुरू किया और उसे अपना नेता मान लिया। वे लोग अपने आपको "जैन" कहने लगे। महावीर ने अपने सम्प्रदाय को गठित करने के लिए भिक्षुओं और भिक्षुणियों की एक परम्परा का सूत्रपात किया। जब बहत्तर वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ तव तक उनके अनुयायियों की संख्या चौदह हजार तक पहुँच चुकी थी।

धीरे-धीरे इस मत का विकास हुआ और इसने भारत के धार्मिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इस मत में यथार्थवादी तर्क को विशेष स्थान प्रदान किया गया। इसके अनुसार कोई भी वस्तु किसी विशेष दृष्टिकोण से देखने के अलावा सत्य नहीं थी। इस सिलसिले में जैन मतावलम्वी छह अन्धों की उस कथा का उल्लेख किया करते थे, जिसमें अन्धे एक हाथी के विभिन्न अंगों को छूकर हाथी को विभिन्न वस्तुओं

---

[1] परम्परा के अनुसार महावीर का समय ५९९–५२७ वर्ष ई० पू० माना जाता है लेकिन इतिहासकार जेकोवी का मत है कि उनका समय ५४९–४७७ वर्ष ई० पू० रहा होगा।

के रूप में मान लेते हैं जैसे हाथी का कान छूने वाले अन्धे ने हाथी को एक बड़ा भारी सूप माना, जब कि उसके पैर को छूने वाले दूसरे अन्धे ने उसको एक बड़ा भारी गोल खम्भा माना। इस प्रकार इन सभी अन्धों के मत अपनी अपनी जगह पर सही और उचित हैं—पूर्ण सत्य की अनुभूति तो सम्यक विचारक को ही हो सकती है जो कि निस्पृह अथवा जैन है। इस मत में वेदों को भी ज्ञान-प्राप्ति के सहायक के रूप में स्वीकार नहीं किया गया और न ही यह माना गया कि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर की प्रेरणा से हुई है। यह मानना भी आवश्यक नहीं समझा गया कि इस संसार की उत्पत्ति किसी आदि कारण अथवा आदि रचयिता द्वारा हुई है। इसके बजाय यह अविक पूर्ण माना गया कि ब्रह्माण्ड, शाश्वत है और सदा से ऐसा ही रहा है तथा इसमें होने वाले परिवर्तन किसी ईश्वर की इच्छा से नहीं बल्कि प्रकृति की मूल शक्तियों के कारण ही होते हैं।

परन्तु शायद भारत का वातावरण ही ऐसा नहीं है कि अधिक समय तक कोई अनीश्वरवादी धर्म टिका रह सके। जैनियों ने एक ईश्वर को अस्वीकार करके उसके स्थान पर जैन धर्म गाथा के अनेक सन्तों और महापुरुषों की पूजा आरम्भ की। इनकी पूजा वे बहुत श्रद्धा और विश्वास के साथ करते थे लेकिन इन्हें भी उन्होंने मृत्यु और पुनर्जन्म से मुक्त नहीं माना, इसके अलावा वे इनमें से किसी को भी संसार का रचयिता और नियामक नहीं मानते थे। जैन भौतिकवादी नहीं थे। वे मस्तिष्क और पदार्थ के एक द्वंद्वात्मक सम्बंध को स्वीकार करते थे, उनकी मान्यता के अनुसार पत्थर और धातुओं में भी जीव होता है। निष्पाप जीवन व्यतीत करके कोई भी जीव परमात्मा की स्थिति को प्राप्त कर सकता है और कुछ समय के लिए पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है। जब उसे उसके सत्कर्मों का पुरस्कार पूरी तरह से मिल चुका होता है तब फिर उसे शरीर धारण करना पड़ता है। केवल कुछ ही आत्माएं ऐसी होती हैं जो उच्चतम पूर्णता प्राप्त कर पाती हैं और उन्हें सदा के लिए जीवन, मरण से मुक्ति मिल जाती है। इन्हें "अर्हत्" कहा जाता है जो संसार से दूर किसी स्वर्ग में निवास करते हैं लेकिन जो संसार के निवासियों को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं कर पाते।

जैनियों के मतानुसार इस प्रकार की मुक्ति आत्म-पीड़न और पूर्ण अहिंसा के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। जैन मत के अनुसार प्रत्येक जैनी संन्यासी को पाँच प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं—किसी भी जीव की हत्या न करना, असत्य भाषण न करना, जो कुछ भिक्षा के रूप में मिल जाय, उसको छोड़ कर और कुछ भी स्वीकार न करना, संयम और पवित्रता से रहना तथा हर प्रकार के आनन्द भोग से दूर रहना। जैनी के लिए कृषि कार्य वर्जित है, क्योंकि खेती के समय जमीन को खोदना पड़ता है और इस प्रकार अनेक जीव जन्तुओं की हत्या होती है। जैनी लोग शहद का प्रयोग इसलिए नहीं करते कि वह मधु-मक्खियों के जीवन का आधार है। पानी को इसलिए अच्छी तरह छान कर पीते हैं कि उसमें रहने वाले जीवों की हत्या न हो सके, मुँह पर इसलिए एक कपड़ा बाँधे रहते हैं कि सांस लेते समय हवा में रहने वाले जीवों की हत्या न हो सके, अपने दीपक को ढक कर रखते हैं ताकि कोई जन्तु दिये की लौ में जल कर मर न सके, और पैदल चलते समय वह भूमि को झाड़ता चलता है ताकि उसके पैर से कुचल कर कोई जीव मर न सके। जैनी कभी भी किसी जीव की हत्या नहीं कर सकता और उसकी बलि नहीं चढ़ा सकता बल्कि यदि सम्भव होता है तो वह बूढ़े और रोगी पशुओं के लिए आश्रय-स्थल और औषधालयों की स्थापना करना अपना कर्तव्य मानता है यदि उसे किसी की हत्या का अधिकार प्राप्त है तो वह केवल अपनी ही हत्या का। उसके धर्म में आत्म-

हनन, विशेषकर धीरे धीरे भूखों मर कर प्राण त्याग देने को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, क्योंकि इस प्रकार जीवित रहने की इच्छा पर सबसे बड़ी विजय प्राप्त होती है। अनेक जैनियों ने इसी प्रकार मृत्यु को वरण किया है और बताया जाता है कि उनके धार्मिक नेतागण आज भी उपवास द्वारा प्राण त्याग करते हैं।

जीवन में इतना गहरा सन्देह करने वाला और जीवन को इस प्रकार अस्वीकार करने वाला धर्म भारत में कुछ सीमा तक अवश्य लोकप्रियता प्राप्त कर सकता था, जहाँ कि जीवन सदा ही बहुत कठिन रहा है। लेकिन फिर भी इस प्रकार के कठोर संन्यास को एक सीमा तक ही समर्थन प्राप्त हो सका। आरम्भ से ही जैनियों की स्थिति कुछ चुने हुए अल्प संख्यकों के समान ही रही। हाल कि चीनी यात्री युवान च्वांग ने सातवीं शताब्दी में जैनियों को शक्तिशाली और बहुसंख्यकों के रूप में पाया था लेकिन वास्तव में वह जैनियों के शांत जीवन का एक सीमित स्वर्णयुग था। ईसवी सन् ७९ में नग्न रहने के प्रश्न पर जैनियों में एक बहुत बड़ी फूट पड़ गई और उसके बाद से उनके दो सम्प्रदाय हो गये—एकतो श्वेतांबर, जो कि श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और दूसरा दिगम्बर, जिसको मानने वाले आकाश को ही वस्त्र मानते हैं अर्थात् बिल्कुल नग्न रहते हैं। लेकिन आज कल दोनों सम्प्रदायों के लोग अपने अपने स्थान के अनुसार ही कपड़े पहनते हैं, केवल उनके संन्यासी ही नग्न रहते हैं। यह दोनों सम्प्रदाय भी अब अनेक सम्प्रदायों में बँट गये हैं। दिगम्बरों के चार सम्प्रदाय हैं और श्वेतांबरों के चौरासी। बत्तीस करोड़ की जनसंख्या में इनकी संख्या लगभग १३ लाख है। गांधी जी पर जैन मत का गहरा प्रभाव पड़ा था, उन्होंने अहिंसा को अपने जीवन और अपनी नीति का आधार बनाया था, वे केवल एक गमछा लपेट कर ही रहते थे और उपवास द्वारा अपने प्राण तक त्याग सकते थे। हो सकता है कि जैनी उन्हें भी अपने जिनों में से एक घोषित कर दें जो कि संसार के कल्याण के लिए समय समय पर जन्म लेते हैं।

३. गौतम बुद्ध की कथा

बौद्ध धर्म की पूर्व-पीठिका; जन्म की दैवी घटना; यौवन काल; जीवन का दुख कष्ट; पलायन; विरक्ति और संन्यास के वर्ष; दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति; निर्वाण का सिद्धान्त।

लगभग २५०० वर्षों के व्यवधान के कारण हमारे लिए यह जानना कठिन है कि वे कौन सी आर्थिक राजनीतिक और नैतिक परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण जैन और बौद्ध धर्म के समान विरक्त और निराशावादी धर्मों की उत्पत्ति सम्भव हुई। निःस्सन्देह भारत में आर्यों के शासन के स्थापित होने के बाद से पर्याप्त मात्रा में भौतिक प्रगति हो चुकी थी—पाटलिपुत्र और वैशाली के समान विशाल नगरों की स्थापना हो चुकी थी; वाणिज्य और व्यवसाय ने धन-सम्पदा एकत्र कर दी थी और धन से लोगों को अवकाश मिलने लगा तथा अवकाश की सुविधा से ज्ञान और संस्कृति का विकास हुआ। बहुत सम्भव है कि ईसा पूर्व की सातवीं और छठीं शताब्दी में भारत में जो भौतिकवाद और सुखभोगवाद के बढ़ने का कारण यह था कि उस समय भारत आर्थिक दृष्टि से काफी सम्पन्नता प्राप्त कर चुका था। सम्पन्नता की स्थिति में धर्म कभी फलता फूलता नहीं। उस स्थिति में तो लोगों की इच्छाएँ और कामनायें धर्म के बन्धन से मुक्त हो जाती हैं और वे बिल्कुल स्वतन्त्र आचरण करने लगते हैं और ऐसे दर्शन की रचना कर लेते हैं जो कि इस स्वतन्त्र आचरण को सही सिद्ध करने का प्रयास करता है जैसा कि चीन में

कन्फ्यूसियस के समय में और यूनान में श्री प्रोतागोरस के समय में तथा जैसा कि हमारे इस युग में भी हो रहा है उसी प्रकार बुद्ध के समय के भारत में भी प्राचीन धर्म के बौद्धिक ह्रास ने नैतिक अराजकता और संशयवाद को जन्म दिया। जैन और बौद्ध धर्म वास्तव में उस वातावरण की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुए थे जो कि समाज के सम्पन्न वर्ग में आई हुई धार्मिक निष्क्रियता और कर्म कांड की प्रमुखता के कारण उत्पन्न हुआ था।"

हिन्दू गाथाओं में बुद्ध के पिता शुद्धोधन को हिमालय की तराई में बसे हुए कपिलवस्तु नामक राज्य का राजा बताया गया है। राजा शुद्धोधन शाक्य जाति के नेता थे और उनका गोत्र गौतम था परन्तु वास्तविकता यह है कि हमें बुद्ध के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी ज्ञात नहीं है, और जब हम उन कथाओं का उल्लेख करते हैं जो कि बुद्ध के नाम के साथ सम्बद्ध हो गई हैं तो इसलिए नहीं कि उनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व है, बल्कि इसलिए कि अब ये गाथाएँ हिन्दू धार्मिक साहित्य और एशियाई धर्म का अंग बन चुकी हैं। विद्वानों का मत है कि बुद्ध का जन्म लगभग ५६३ वर्ष ई० पू० में हुआ था। बुद्ध के जन्म के बारे में अनेक विचित्र गाथायें प्रचलित हैं। उनके जन्म-काल का वर्णन करते हुए "जातक" की एक गाथा में बताया गया है कि—

"कपिलवस्तु नगर में पूर्णिमा का उत्सव मनाया जा रहा था। महारानी माया पूर्णिमा के सात दिन पूर्व से ही पूजन और धार्मिक समारोह का आयोजन करती थीं। प्रातःकाल उठकर वह सुगन्धित जल में स्नान करती थीं और चार लाख व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का दान करती थीं। इस बार भी उसने पूर्णिमा के पूर्व सातवें दिन प्रातःकाल उठकर स्नान किया और दान दिया। फिर भलीभाँति शृंगार करके और अच्छे पकवानों का भोजन करके वह अपने शयन-गृह में गई और अपने सुसज्जित पलंग पर लेट गई कुछ ही देर में उसे नींद आ गई और नींद में उसने यह स्वप्न देखा।

स्वप्न में उसने देखा कि चार राजाओं ने उसे पलंग सहित उठा कर हिमालय में मनोशिला नामक एक समतल भूमि पर रख दिया. . . . .फिर उन राजाओं की रानियाँ आईं, उन्होंने महारानी को अनोतत्त सरोवर में स्नान कराया और उसे दिव्य वस्त्राभूषण से विभूषित किया। वहीं पास में एक रौप्य पर्वत है जिस पर स्वर्ण का एक भवन बना हुआ है, उसी भवन में एक पलंग पर रानी को लिटा दिया गया और उसका सिरहाना पूर्व की ओर रखा गया फिर बोधिसत्व ने एक सफेद हाथी का रूप धरा। वहीं पास में सोने का एक पर्वत है जहाँ बोधि सत्व उतरे और फिर चाँदी के पर्वत पर उत्तर दिशा की ओर से चढ़ने लगे, उनकी सूड़ में एक श्वेत कमल था। स्वर्ण भवन में जाकर उन्होंने तीन बार अपनी माता की शैया की परिक्रमा की और फिर उन्होंने उनकी कोख में प्रवेश किया। इस प्रकार बोधिसत्व ने नया रूप ग्रहण किया।

"दूसरे दिन जागने पर रानी ने राजा को अपने स्वप्न की बात बताई। राजा ने अपने राज्य के चौसठ प्रमुख ब्राह्मणों को बुलवाया और उनका खूब स्वागत-सत्कार किया, बढ़िया भोजन कराया और बहुमूल्य वस्तुओं का दान किया। इस प्रकार ब्राह्मणों को संतुष्ट करके राजा ने उनसे रानी के स्वप्न का अर्थ बताने की प्रार्थना की। ब्राह्मणों ने विचार करके कहा—हे राजन, आप चिन्ता न करें, रानी को पुत्र होगा। आपका यह पुत्र यदि घर में रहेगा तो एकविश्व विजेता सम्राट होगा और अगर वह घर और संसार का त्याग कर देगा तो वह संसार के अज्ञान को दूर करने वाला एक बुद्ध होगा. . . . .

"महारानी माया ने दस मास तक बोधिसत्व को अपने गर्भ में वहन करने के बाद समय आने पर राजा से इच्छा प्रकट की कि मैं अपने पिता के नगर देवदह की यात्रा करना

चाहती हूँ राजा ने कपिलवस्तु से देवदह तक की सड़क को खूब समतल बनवाया और उसे तोरण तथा वन्दनवारों से सजाया और फिर रानी को सोने की पालकी में बिठाकर अपने एक हजार दरबारियों तथा अनेक दास, दासियों के साथ रवाना कर दिया। दोनों नगरों के बीच में शाल वृक्षों का एक सुंदर वन पड़ता था जिसका नाम था लुम्बिनी वन, उस समय इस वन के सभी वृक्ष फूलों से लदे हुए थे। रानी ने कुछ समय वन में क्रीड़ा करने की इच्छा प्रकट की.....रानी एक शाल वृक्ष के पास गई और उसकी एक डाली को पकड़ने की कोशिश करने लगी। डाली अपने आप उसकी ओर झुक आई रानी ने डाल पकड़ ली और तभी उसे प्रसव-वेदना होने लगी। उसके साथ के लोगों ने तुरन्त वहाँ पर्दा कर दिया और फिर सब वहाँ से दूर हट गये। रानी ने शाल वृक्ष की शाखा को थामे हुए ही और खड़े खड़े प्रसव किया तथा बोधिसत्व ने जन्म लिया परन्तु जन्म के समय जिस प्रकार सभी जीव गन्दगी में लिपटे रहते हैं, वैसा बोधिसत्व के साथ नहीं हुआ। जिस तरह ज्ञानी ज्ञान पीठ से नीचे उतरता है, उसी प्रकार बोधिसत्व ने बिल्कुल निर्मल रूप में जन्म लिया, उस समय वे देखने में ऐसे लगते थे जैसे बनारसी वस्त्र पर कोई सुंदर माणिक्य रखा हो।"

इसके अलावा गाथा में यह भी कहा गया है कि बुद्ध के जन्म के समय आकाश में प्रकाश फैल गया, बहरे सुनने लगे और मूक वाचाल हो उठे तथा लँगड़े चलने लगे देवताओं ने स्वर्ग से उतर कर उन्हें नमस्कार किया और दूर-दूर के राजागण उनके स्वागत के लिए पधारे। बुद्ध सम्बन्धी गाथाओं में आगे बताया गया है कि युवावस्था में गौतम को बहुत सुख से रखा गया, उनके पिता ने उनके लिए तीन सुंदर भवनों का निर्माण कराया था, जिनमें हर प्रकार के सुख की व्यवस्था थी और जहाँ मनुष्य जीवन के दुख कष्ट का जरा भी पता नहीं चल सकता था। उनके मनोरंजन के लिए चालीस हजार नर्तकियाँ नियुक्त थीं। जब वह विवाह के योग्य हुए तो इनके पिता ने इनके पास पाँच सौ सुंदरियों को भेजा और उनमें से एक को अपनी पत्नी चुनने के लिए कहा। राजकुमार को क्षत्रिय युवक के योग्य युद्ध आदि की अच्छी शिक्षा दी गई लेकिन राजकुमार ने साधु-सन्तों और विद्वानों से भी शिक्षा ग्रहण की और अपने समय की सभी प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं का ज्ञान प्राप्त किया। विवाह के बाद वे एक पुत्र के पिता भी बने और बहुत सुख और शांति से जीवन व्यतीत करने लगे।

एक दिन की बात है कि वे अपने महल से बाहर घूमने के लिए गए और उन्होंने एक बूढ़े आदमी को देखा। दूसरे दिन उन्होंने एक रोगी को देखा और तीसरे दिन एक मृत व्यक्ति को देखा। बाद में उन्होंने स्वयं ही अपने शिष्यों के सम्मुख इन शब्दों में इस कथा का वर्णन किया—

"तब भिक्षुओ, मैंने यह सोचा कि मैं भी कभी जरा को प्राप्त हूँगा, जरा अवस्था से मैं भी बच नहीं सकूँगा.....इसलिए क्यों न मैं इस जन्म, मरण यौवन और जरा अवस्था के रहस्य को समझने का प्रयास करूँ.....और फिर जन्म का रहस्य जान लेने के बाद मैंने बार बार के जन्म से मुक्ति पाने के लिए निर्वाण की सर्वोच्च शांति की खोज की।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मृत्यु ही सब धर्मों की उत्पत्ति का कारण है। ऐसा लगता है कि यदि मृत्यु न होती तो शायद मनुष्य को देवताओं की जरूरत न पड़ती। बुद्ध के लिए मनुष्य जीवन के ये कष्टमय दृश्य ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रेरक बन गए। अचानक उन्हें लगा कि यह संसार निरर्थक और निस्सार है और उन्होंने अपने पिता तथा पत्नी और पुत्र को त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेने का निश्चय किया। (उनकी माता तो

उनके जन्म के समय ही चल वसी थीं।) रात में वे चुपके से अपनी पत्नी के कमरे में गए और अपने पुत्र राहुल को अन्तिम बार देखने का प्रयास करने लगे। इस दृश्य का वर्णन बौद्ध धर्मग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है—

"सुगन्धित तेल का दीपक जल रहा था। सुगन्धित पुष्पों से सजी हुई शैया पर राहुल की माता अपने पुत्र के सिर पर हाथ रखकर सो रही थीं, बोधिसत्व दरवाजे के अन्दर एक पैर बढ़ाकर रुक गए और वहाँ का दृश्य देख कर सोचने लगे—अगर मैं रानी का हाथ हटाकर अपने पुत्र को उठाऊँगा तो रानी जाग जायेगी और फिर मेरा जाना नहीं हो सकेगा। इसलिए जब मैं बुद्धत्व को प्राप्त कर लूँगा तब फिर लौट कर आऊँगा और अपने पुत्र को देखूँगा। यह सोच कर वे महल से बाहर निकल गए।

राजकुमार कन्थक नामक अपने घोड़े पर सवार हो कर अपने सारथी के साथ अँधेरे में ही नगर के बाहर हो गए। मार्ग में उन्हें पाप का देवता मार मिला और उसने उन्हें लुभाने का प्रयास किया लेकिन राजकुमार विचलित न हुए। रास्ते में बहुत बड़ी नदी पड़ी लेकिन राजकुमार ने घोड़े सहित एक छलाँग में उसको पार कर लिया। अपने नगर को एक बार फिर देखने की इच्छा उन्हें हुई, लेकिन वे वापस नहीं लौटे। धरती ने भी उनकी मदद की और वह इस प्रकार घूम गई कि उनका नगर उनकी दृष्टि से ओझल हो गया।

आगे बढ़कर वे उरुवेला नामक स्थान पर रुके। इस सम्बंध में उन्होंने स्वयं कहा है—"वह वन मुझे बहुत सुंदर लगा। वह बड़ा शांत-स्थल है। वहाँ एक बड़ी अच्छी नदी बहती है और स्नान के लिए सुंदर घाट बने हुए हैं तथा नदी के किनारे जगह-जगह ग्राम बसे हुए हैं।" उन्होंने यहीं वास किया और योगाभ्यास आरम्भ किया। छः वर्ष तक वे योगियों की भाँति कठिन तप करते रहे। काफी दिनों तक वे केवल बीज और घास-फूस खाकर रहे। इसके बाद कुछ दिनों तक उन्होंने केवल गोबर का सेवन किया। भोजन की मात्रा उन्होंने धीरे-धीरे घटाकर इतनी कम कर दी कि प्रतिदिन केवल एक चावल ही खाने लगे। वे बाल के वस्त्र धारण करते थे और अपने आप को पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से अपने सिर और दाढ़ी के बाल नोंचा करते थे तथा घंटों खड़े रहते थे या काँटों पर सोया करते थे। उनके शरीर पर इतना अधिक कूड़ा-करकट और धूल जमा हो गई कि वे देखने में एक सूखे हुए वृक्ष जैसे लगने लगे। वे बराबर ऐसे स्थान पर जाया करते थे जहाँ कि मनुष्यों के शव जंगली पशु-पक्षियों के खाने के लिए रखे जाते थे। वहाँ वे सड़ते हुए शवों के बीच सोते रहते थे। उन्होंने आगे बताया है—

"मैंने सोचा कि यह कैसा रहे यदि मैं अपने दाँत भींच लूँ और जीभ को तालू में चिपका लूँ और अपने मन को मन की शक्ति से ही दमन करूँ और मैंने ऐसा किया। और मेरी बगल से पसीने की धाराएँ बह निकलीं।.....फिर मैंने सोचा कि यह कैसा रहे यदि मैं श्वास-साधन द्वारा पूर्ण प्राणायाम करूँ। इसलिए मैंने नाक और मुँह से श्वास लेना और निकालना बंद कर दिया। और जब मैंने ऐसा किया तो मेरे कान में ऐसी आवाज आने लगी जैसे बड़ी तेज आँधियाँ चल रही हों, तथा सिर में ऐसी पीड़ा हुई जैसे किसी ने अपनी तलवार की नोंक से सिर को भेद दिया हो। और मेरा मस्तिष्क विचलित हो उठा।.....फिर मैंने सोचा कि यह कैसा रहे यदि मैं बहुत ही थोड़े अंश में भोजन ग्रहण करूँ और केवल इतना ही खाऊँ जितना कि मेरी अँजुली में समा सके। मैंने ऐसा ही किया।.....और मेरा शरीर बिलकुल सूख गया। मेरे बैठने का चिह्न उतना ही छोटा बन पाता था जितना कि ऊँट के पैर का चिह्न बनता है। कम भोजन करने से मेरी हड्डियाँ सुई कि तरह सूख गईं। और जिस तरह गहरे कुएं के पेंदे का पानी चम-

कता है उसी तरह मेरी आँखों के गड्ढों में मेरी दृष्टि चमकने लगी। और जिस तरह कोहड़े को कच्चा ही काट लेने पर वह धूप में सूखकर सिकुड़ जाता है, उसी प्रकार मेरे सिर का चमड़ा भोजन कम करने के कारण सूखकर सिकुड़ गया। जब मैंने अपने पेट के चमड़े को पकड़ने की कोशिश की तो रीढ़ की हड्डी मेरी मुट्ठी में आ गई।..... कम भोजन करने के कारण मैं इतना दुर्बल हो गया कि भूमि पर पड़ गया। शरीर की पीड़ा कम करने के लिए मैं हाथ से अपने अंगों को थपथपाने लगा, और मेरे मुरझाये हुए बाल झड़कर गिरने लगे।"

लेकिन अंत में एक दिन बुद्ध ने यह सोचा कि यह आत्म-पीड़न का मार्ग सही मार्ग नहीं है। उस दिन शायद वे क्षुधा से बहुत अधिक व्यथित हो उठे थे, या शायद उन्हें इससे पहले के अपने जीवन का सुख याद हो आया था। जो भी कारण रहा हो, लेकिन उन्हें लगा कि इस प्रकार तप करने से तो मुझे किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। इस कठिन तप के कारण मुझे वास्तविक दिव्य-ज्ञान और अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। बल्कि इसके विपरीत इस आत्म-पीड़न और तप के कारण उनमें एक प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ, जिसने उस पवित्रता और शुद्धता को ही नष्ट कर दिया, जो कि इस तप के फलस्वरूप प्राप्त होनी चाहिये थी। इसलिए उन्होंने तप का त्याग किया और जाकर एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ गये। उन्होंने निश्चय किया कि मैं तब तक यहाँ से नहीं उठूँगा जब तक कि मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। यहाँ बैठ कर वे इस प्रश्न पर विचार करने लगे कि मानव जीवन के दुख-कष्ट, रोग, जरा और मृत्यु का कारण क्या है? अचानक उन्होंने एक दृश्य की कल्पना की कि प्रत्येक मृत्यु एक नये जन्म से प्रभावहीन हो जाती है और प्रत्येक शांति और सुख के साथ अशांति और असन्तोष का भी संतुलन होता है, प्रत्येक सुख के साथ ही दुख भी लगा हुआ है। "इस प्रकार शुद्ध मन से एकाग्र चित्त हो कर मैंने जीवों के जन्म और मरण पर विचार करना आरम्भ किया। तब मुझे दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति हुई और एक अलौकिक दृष्टि से मैंने जीवों के जन्म और मरण का ज्ञान प्राप्त किया, अच्छे और बुरे का, ऊँचे और नीचे का, दुख और सुख का, पाप और पुण्य का मैंने दर्शन किया।

जन्म और मरण के इसी चक्र ने बुद्ध को मानव जीवन के प्रति विरक्ति के भाव से भर दिया। उन्होंने जन्म को सारे पापों का मूल माना। फिर भी जन्म का क्रम जारी है और इसके कारण मानव जीवन के दुख-कष्ट का क्रम भी बराबर जारी है। काश, जन्म को रोका जा सकता।.....आखिर जन्म को क्यों नहीं रोका जा सकता? इसलिए कि कर्म के सिद्धांत के अनुसार यह आवश्यक है कि जीव अपने एक जन्म में किए गए पापों का दंड भोगने के लिए दूसरा जन्म ले। यदि मनुष्य न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करे, संयम, धैर्य और करुणा का व्यवहार करे, यदि वह अपने विचारों को केवल शाश्वत वस्तुओं पर ही केन्द्रित करे और ऐसी वस्तुओं से दूर रहे जो कि आदि और अंत के क्रम से बँधी हुई हैं—तो सम्भव है कि उसे पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति मिल जाय और पाप के प्रभाव से वह सदा के लिए मुक्त हो जाय। यदि व्यक्ति अपने सारी इच्छाओं और आकांक्षाओं को अपने वश में कर ले और केवल सत्य और शिव की साधना में अपने आप को लगा दे तो बहुत सम्भव है कि उसकी आत्मा अंत में अनादि और शाश्वत आत्मा में विलीन हो जाय। उस हृदय में कैसी अगाध शांति का वास होता है जो अपने आप को सारे प्रलोभनों से मुक्त कर लेता है और अपनी इच्छाओं को दृढ़तापूर्वक वश में कर लेता है! बिना इतनी शुचिता और शुद्धता के भला किस हृदय को शांति मिल सकती है? सुख तो न यहाँ सम्भव है और न यहाँ के बाद ही सम्भव है। केवल

शांति सम्भव है, वह इच्छा और आकांक्षाओं से रहित शांति, जिसे निर्वाण कहा जा सकता है।

और इस प्रकार के सात वर्ष के चिन्तन और मनन के वाद वुद्ध को मानव जीवन के दुख, कष्ट का कारण ज्ञात हुआ। बुद्धत्व प्राप्त करने के वाद वे वाराणसी गए और वहाँ उन्होंने सारनाथ के मृगदाव में निर्माण का उपदेश दिया।

४. बुद्ध के उपदेश

वुद्ध का स्वरूप; उपदेश देने का ढंग; चार मुख्य सत्य; आठ विधियां; पंचशील; वुद्ध और क्राइस्ट; वौद्ध दर्शन; वुद्ध की नास्तिकता; निर्वाण।

अपने समय के अन्य उपदेशकों[1] की भाँति वुद्ध भी सम्वाद या कथपोकथन भाषण और कथाओं के माध्यम से अपनी शिक्षाओं का प्रचार करते थे। शुक्रात या क्राइस्ट की तरह उन्होंने भी कभी अपने सिद्धान्तों को लिखित रूप में सुरक्षित करने का प्रयास नहीं किया, लेकिन शिक्षाओं को स्मरण कराने में सुविधा हो, इस उद्देश्य से उन्होंने सूत्रों की रचना की। उनके शिष्यों और अनुयायियों ने हमारे लिए उनके जिन प्रवचनों और उपदेशों को सुरक्षित रखा है, उनके माध्यम से हमें वुद्ध के रूप में भारतीय इतिहास के प्रथम विशिष्ट चरित्र का परिचय प्राप्त होता है—एक ऐसे चरित्र का परिचय जिसका आत्म-विश्वास वड़ा दृढ़ था, जो गर्व और अधिकार के साथ अपनी वात करता था, लेकिन जिसका व्यवहार और जिसकी वाणी अत्यंत विनम्र और मधुर थी तथा जो अत्यंत करुणा-मय था। वुद्ध ने कभी भी दिव्य-प्रेरणा का दावा नहीं किया वल्कि वे केवल अपने "सम्यक ज्ञान" की ही वात करते थे। उन्होंने कभी भी यह प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं किया कि वे ईश्वर की प्रेरणा से वोल रहे हैं, या उनके आगे से ईश्वर वोल रहा है वाद-विवाद में जव भी कहीं उनका विरोध हुआ है तव उन्होंने जैसे संयम और सहिष्णुता का परिचय दिया है, वह संसार के महान् उपदेशकों में से किसी के भी यहाँ दिखाई नहीं देती। उनके शिष्यों ने उनको पूर्ण अहिंसक के रूप में चित्रित किया है—गौतम ने हिंसा का त्याग कर दिया और उन्होंने, जो कि कभी एक क्षत्रिय योद्धा थे, अव अपनी तलवार को छोड़कर पूर्ण अहिंसक वन गए, करुणा से परिपूरित होकर वे सभी जीवों के प्रति समान रूप से दया भाव रखने लगे.....वे कुप्रचार और कटु भाषण से दूर रहते थे और ऐसे लोगों को एक दूसरे के समीप लाने का प्रयास करते थे जो कि किसी विवाद के कारण आपस में विरोधी हो जाते थे, वे शांति की स्थापना करते थे और ऐसे शव्दों का ही भाषण करते थे जिनसे कि संसार में शांति की स्थापना हो सके। चीनी सन्त लाओ-त्से तथा

---

[1] वुद्ध की शिक्षाओं के सवसे प्राचीन संग्रह हैं "पिटक" जिनका संकलन २४१ वर्ष ई० पू० की वौद्ध परिषद् द्वारा किया गया था और जिन्हें वाद में ईसा से ८० वर्ष पूर्व पालि भाषा में लिपिवद्ध किया गया। पिटकों को तीन भागों में विभाजित किया गया है, "सूत्त" अर्थात् गाथाएँ, "विनय" अर्थात् अनुशासन, और "अभिधम्म अर्थात् सिद्धान्त"। "सूत्त पिटक" में वुद्ध के संवादों को संग्रहीत किया गया है जिन्हें कुछ पाश्चात्य विद्वान प्लेटो के सम्वादों के समक्ष मानते हैं लेकिन वास्तव में देखा जाय तो इनमें वुद्ध के अपने उपदेशों के वजाय वुद्ध मत की विभिन्न विचारधाराओं का संकलन हुआ है। इनके वारे में सर चार्ल्स इलियट का मत है कि वहुत सम्भव है कि इनमें कई शताव्दियों वाद तक नई सामग्रियां एकत्रित होती रही हैं।

ईसा की भाँति वे भी बुराई का उत्तर भलाई से देते थे, घृणा के बदले प्रेम प्रकट करते थे और विवाद, विरोध तथा अपनी निन्दा सुन कर चुप रह जाते थे, उनका कहना था—"अगर कोई व्यक्ति मूर्खता के कारण मेरा अहित करता है तो इसके बदले में मैं उसे मुक्त स्नेह प्रदान करूँगा," वह जितना ही मेरा अपकार करेगा, उतना ही मैं उसका उपकार करूँगा।" जब एक मूर्ख ने बुद्ध को गाली दी और बुरा भला कहा तो शांति से उसकी बात सुनते रहे और अंत में उन्होंने उससे पूछा, "वत्स, यह बताओ कि अगर कोई व्यक्ति किसी उपहार को लेने से इन्कार कर दे तो वह उपहार किसको प्राप्त होगा?" वह व्यक्ति बोला, "ऐसी स्थिति में उपहार उसी को प्राप्त होगा जो कि उसको देना चाहता था।" बुद्ध बोले, "तो वत्स, मैं तुम्हारी गालियों को स्वीकार नहीं करना चाहता, कृपया तुम उन्हें अपने पास ही रखो।" अन्य उपदेशकों और सन्तों में हमें वह व्यंग और हास्य का पुट नहीं मिलता जो कि बुद्ध में मिलता है।

उपदेश और प्रवचन का उनका ढंग भी अद्वितीय था। बहुत सम्भव है कि उन्होंने प्रवचन का यह ढंग उन उपदेशकों से अपनाया हो जो कि उनके समय में इधर उधर घूम कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे, वे अपने प्रिय शिष्यों के साथ एक नगर से दूसरे नगर को भ्रमण करते रहते थे। कभी कभी उनके साथ चलने वाले, उनके भक्तों की संख्या १,२०० तक पहुँच जाती थी। वे आने वाले दिन की कभी चिन्ता नहीं करते थे और स्थानीय प्रशंसकों से भिक्षा के रूप में जो कुछ भी प्राप्त होता था, उसी पर संतोष करते थे। एक बार तो उन्होंने एक नर्तकी के यहाँ भोजन ग्रहण करके अपने अनुयायियों को आश्चर्यचकित कर दिया, वे गाँव के बाहर ही ठहरते थे और किसी जंगल या उपवन में अथवा किसी नदी के किनारे अपना खेमा गाड़ते थे। दोपहर का समय वे ध्यान और मनन में लगाते थे और सायंकाल प्रवचन करते थे। प्रवचन के समय वे सुक्रात की तरह कभी तो एक के बाद एक प्रश्न पूछते हुए अपनी मूल बात पर पहुँचते थे, कभी नैतिक शिक्षाओं से पूर्ण गाथाएँ सुनाते थे और कभी सूत्र रूप में अपनी बात कह कर उसकी व्याख्या करते थे। उनके चार प्रसिद्ध सूत्र निम्न प्रकार से हैं जिनमें उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि जीवन पीड़ा है, पीड़ा इच्छा के कारण होती है और इच्छा के दमन से ही ज्ञान प्राप्त होता है—

"भिक्षुओ, यह सत्य पीड़ा के बारे में है—जन्म कष्टमय है, रोग कष्टमय है, जरा कष्टमय है, दुख, विरह और निराशा कष्टमय है.....

और भिक्षुओ, यह सत्य दुख के कारण के सम्बन्ध में है—इच्छा, जो कि पुनर्जन्म का कारण होती है, वही सुख भोग की इच्छा, जो कि सुख की खोज में भटकती फिरती है, वही दुख का कारण है, जीवन की इच्छा और जीवित न रहने की इच्छा भी दुख का कारण है।

और भिक्षुओ, यह दुख के निवारण से सम्बन्धित सत्य है—इच्छा का परित्याग, आकांक्षा से मुक्ति, निष्पृहता और निर्लिप्तता कष्ट से छुटकारा दिला सकती है।

और भिक्षुओ, दुख के निवारण की विधियों से सम्बन्धित सत्य यह है—इसकी आठ विधियाँ हैं, यथा, शुद्ध विचार, शुद्ध इच्छा, शुद्ध वाणी, शुद्ध व्यवहार, शुद्ध जीवन, शुद्ध प्रयास, शुद्ध चेष्टा और शुद्ध ध्यान।

बुद्ध का यह दृढ़ मत था कि मानव जीवन में सुख की अपेक्षा दुख इतना अधिक प्राप्त होता है कि जन्म न ग्रहण करना ही सब से अच्छा है। वे कहा करते थे कि चारों महासागरों में जितना जल है उससे भी अधिक आँसू आदमी ने बहाये हैं सुख का आनन्द उसकी अस्थिरता और संक्षिप्तता के कारण भंग हो जाता है, उन्होंने अपने शिष्यों

से पूछा कि अस्थाई क्या है, सुख या दुख ? शिष्यों ने उत्तर दिया कि हे देव, दुख ही अस्थाई है इसलिए उन्होंने उपदेश किया कि ऐसी सारी इच्छाओं को त्याग दिया जाय जो कि स्वार्थ से प्रेरित है, क्योंकि ये ही दुख का कारण होती हैं—विशेष रूप से कामेच्छा का दमन किया जाय क्योंकि इसके फलस्वरूप उत्पत्ति होती है और इस प्रकार जीवन को दुख के नये चक्र में निरर्थक ही वँध जाना पड़ता है। उनके एक शिष्य ने उनकी शिक्षा का यह अर्थ लगाया कि शायद भगवन् आत्म हत्या का समर्थन करेंगे, लेकिन बुद्ध ने उसका विरोध किया और बताया कि आत्महत्या निरर्थक है क्योंकि जीव अपवित्र होने पर तब तक विभिन्न रूपों में जन्म लेता ही रहेगा जब तक कि उसका यह चक्र समाप्त नहीं हो जायेगा।

जब उनके शिष्यों ने यह प्रार्थना की कि शुद्ध जीवन-यापन के सम्बन्ध में वे अपने विचारों को और अधिक स्पष्ट करें, तो इसके उत्तर में बुद्ध ने उनके लिए पंचशीलों की शिक्षा दी:—

१—किसी जीव की हत्या न करो। २—जो कुछ तुम्हें दिया न जाय, उसे न लो। ३—असत्य भाषण न करो। ४—नशीली वस्तुओं का पान न करो। ५—अपवित्र जीवन से बचो।

बुद्ध ने अन्यत्र अपने उपदेशों में ऐसी शिक्षाएँ दी हैं जो कि ईसा की शिक्षाओं से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाते हैं—जैसे, क्रोध को क्षमा से और बुराई को भलाई से जीतो; विजय से घृणा उत्पन्न होती है क्योंकि पराजित सदा अप्रसन्न रहता है; इस संसार में आज तक कभी भी घृणा का अन्त घृणा से नहीं हुआ है, घृणा का अंत प्रेम से ही हो सकता है आदि, आदि। ईसा की तरह ही बुद्ध भी शायद स्त्रियों से घबराते थे और उन्हें बौद्ध संघ में स्थान देने से काफी दिनों तक संकोच करते रहे। उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने एक बार उनसे पूछा—

"हे प्रभु, हम स्त्रियों के प्रति कैसा आचरण करें ?"
"आनन्द, स्त्रियों की ओर देखो ही मत।"
"परन्तु यदि हम उन्हें देख लें तो फिर क्या करें ?"
"आनन्द, उनसे भाषण न करो।"
"परन्तु प्रभु, यदि वे स्वयं हमसे बोलें, तो फिर हम क्या करें ?"
"आनन्द, तब सतर्क रहो।"

धर्म के स्वरूप के बारे में उनकी धारणा शुद्ध नैतिकतावादी थी, वे आचरण पर ही सबसे अधिक जोर देते थे और धर्म शास्त्र, आध्यात्म और पूजा पाठ को कोई महत्त्व नहीं देते थे। जब एक ब्राह्मण ने अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए गया में स्नान करने की इच्छा प्रकट की तो बुद्ध ने उससे कहा, "ब्राह्मण, तुम यहाँ इसी जगह स्नान कर लो। तुम सभी जीवों के प्रति दया भाव रखो। यदि तुम असत्य भाषण नहीं करते हो, यदि तुम जीव हत्या नहीं करते हो, यदि तुम उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते हो जो कि तुम्हें दी नहीं गई है और यदि तुम संयम से रहते हो, तो भला गया जाकर तुम्हें क्या मिलेगा ? तुम्हारे लिए हर स्थान का जल गया के जल के समान है।" धर्म के इतिहास में इससे बढ़ कर आश्चर्य की और कोई बात नहीं है कि बुद्ध शाश्वतता, अमरता या ईश्वर के बारे में किसी प्रकार की बहस में पड़े बिना ही एक विश्व व्यापी धर्म की स्थापना में सफल हुए। उन्होंने कहा है कि शाश्वतता एक प्रकार का रहस्य है, दार्शनिकों की एक कपोल कल्पना मात्र है क्योंकि उनमें इतनी विनम्रता नहीं है कि यह स्वीकार कर लें कि एक अणु कभी भी ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझ नहीं सकता। वे संसार की

नश्वरता और शाश्वतता सम्बन्धी विवादों पर हँसा करते थे जैसे कि उन्हें हमारे युग के उन गणितज्ञों और भौतिक शास्त्रियों के असफल प्रयासों का अन्दाज लग गया था जो कि आज भी इसी प्रश्न पर विवाद किया करते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना कोई मत व्यक्त नहीं किया है कि इस संसार का कभी आदि रहा है या कभी इसका अंत भी होगा, अथवा जीव शरीर का ही एक अंग है, या इससे पृथक उसका कोई अस्तित्व है और क्या पुण्य के लिए स्वर्ग में पुरस्कार प्राप्त होता है। इस तरह के प्रश्नों को उन्होंने एक प्रकार का वाग्जाल वताया और उससे वचने की राय दी क्योंकि इस तरह के विवाद झगड़े और दुख के कारण होते हैं और उनसे कभी भी ज्ञान तथा शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। सिद्धि और सात्विकता, ईश्वर और ब्रह्माण्ड के ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकती, केवल निस्वार्थ और करुणामय जीवन से ही प्राप्त हो सकती है। यही नहीं उन्होंने एक जगह व्यंग पूर्वक यह भी संकेत किया है कि स्वयं देवगण भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते।

जव कुछ लोगों ने उन्हें यह स्मरण दिलाया कि ब्राह्मणों का दावा है कि उन्हें इन रहस्यों का हल मालूम है तो उन्होंने उनकी वात को हँसी में उड़ा दिया अगर बुद्ध की वाणी में कभी कटुता आती थी तो वह अपने समकालीन पंडित पुरोहितों का उल्लेख करते समय ही आती थी। उन्हें पंडितों के इस दावे से घृणा थी कि वेदों की रचना ईश्वर की प्रेरणा से हुई है, उन्होंने अपने धर्म संघ में हर जाति के लोगों को सदस्यता प्रदान की और ब्राह्मणों के जाति गत अहंकार का विरोध किया। उन्होंने कभी स्पष्ट रूप से जाति-व्यवस्था की निन्दा नहीं की लेकिन अपने शिष्यों से स्पष्ट शब्दों में कहा—"जाओ और सभी देशों में इस शिक्षा का प्रचार करो, लोगों को वताओ कि इस धर्म में धनी और निर्धन, वड़े और छोटे सव वरावर हैं, यहाँ सव जातियाँ उसी प्रकार मिल जाती हैं जिस प्रकार कि सागर में सव नदियाँ मिल जाती हैं। उन्होंने वलि-प्रथा का घोर विरोध किया और जीवों पर दया करने का उपदेश दिया। उन्होंने सभी प्रकार की अलौकिक और दिव्य शक्तियों के पूजन का विरोध किया और इस प्रकार के पूजन से सम्वन्धित मंत्रों, प्रार्थनाओं और सिद्धांतों को निरर्थक सिद्ध किया। उन्होंने विना किसी विवाद के वहुत शांति से एक ऐसे धर्म का प्रचार किया जो कि हर प्रकार के अंध विश्वासों और पुरोहितवाद से मुक्त था जिसके माध्यम से हर व्यक्ति मुक्ति अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति कर सकता था।

कभी कभी उनके स्वर में नास्तिकता का आभास मिलता था। वे कभी भी अनावश्यक रूप से ईश्वर को अस्वीकार करने के पचड़े में नहीं पड़ते थे और कभी कभी तो ब्रह्म के वारे में इस तरह कहते थे जैसे ब्रह्म कोई आदर्श नहीं वल्कि एक वास्तविकता हो, न ही वे कभी लोकप्रिय देवताओं की पूजा की मनाही करते थे लेकिन अज्ञेय ईश्वर से प्रार्थना करते रहने का मजाक भी वनाया करते थे—"यह सोचना मूर्खता है कि कोई दूसरा हमें दुख या सुख दे सकता है। दुख और सुख तो स्वयं हमारे ही व्यवहार और हमारी ही इच्छाओं के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं।" उनके नैतिक सिद्धांतों में स्वर्ग और नरक की कल्पना का कोई स्थान नहीं था वे किसी ऐसी अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं करते थे जो कि इस संसार का आदि कारण हो। इसके अलावा वे संसार में किसी प्रकार के स्थायित्व या शाश्वतता का समर्थन नहीं कर पाते थे। उनके मत के अनुसार केवल जीवन और परिवर्तन ही सत्य है।

जिस प्रकार उन्होंने ईश्वर रहित धर्म की स्थापना की, उसी प्रकार उन्होंने आत्मा के सिद्धांतों को भी अस्वीकार किया और एक ऐसी मनोवैज्ञानिक परम्परा का सूत्रपात किया जिसमें आत्मा को कोई स्वीकृति प्राप्त नहीं है। उनके मतानुसार हमारी इन्द्रियाँ

या अनुभव की शक्तियाँ ही हमें किसी चीज की अनुभूति कराती हैं। सभी पदार्थ गतिशील हैं और गति ही उनका प्रमुख गुण है, जीवन परिवर्तन का ही दूसरा रूप है, एक ऐसी नैसर्गिक प्रक्रिया है जो कि आदि और अंत के क्रम से बँधी हुई है। आत्मा का सिद्धांत केवल एक प्रकार का भ्रम है जिसकी रचना हमारे क्षीण मस्तिष्कों अथवा अल्प बुद्धि की सुविधा के लिए की गयी है। हम चेतनावस्था को ही आत्मा का रूप मान लेते हैं। हमारी अनुभूतियाँ और हमारा ज्ञान ही हमारे लिए स्थायी महत्व का होता है और वही सत्य होता है, उसी के आधार पर हमारी स्मृति और हमारी विचार शक्ति की रचना होती है इसलिए यदि हम अपने मस्तिष्क और अपनी आत्मा या अपने जीव की कल्पना ऐसे पदार्थ के रूप में करें जो कि अनुभूतियों के आधार पर स्थित रहता है तो यह स्पष्ट हो जायगा कि संसार में अमरत्व जैसी कोई चीज नहीं है। बुद्ध का कहना था कि कोई भी पहुँचा हुआ संन्यासी मृत्यु पर विजय नहीं पा सकता और न मैं ही मृत्यु पर विजय पा सकूँ, एक दिन सब को मरना ही होता है।

लेकिन यह वास्तविकता यही है तो पुनर्जन्म किस प्रकार हो सकता है? यदि आत्मा या जीव नाम की कोई वस्तु नहीं है तो एक जन्म के पापों का दंड भोगने के लिए वह दूसरा जन्म किस प्रकार लेती है? पुनर्जन्म के सिद्धांत को प्रदान की गई स्वीकृति ही बौद्ध दर्शन का सबसे कमजोर पहलू है। बुद्ध ने कभी भी उस विरोधाभास को दूर करने का प्रयास नहीं किया। उनके संतुलित और विचारशील मनोविज्ञान के साथ पुनर्जन्म के सिद्धांत का कोई मेल नहीं बैठ पाता है। पुनर्जन्म के सिद्धांत को भारत में इतना व्यापक समर्थन प्राप्त है कि प्रत्येक हिन्दू इसको बिना किसी सोच विचार के स्वीकार कर लेता है और यह मान्यता पीढ़ी दर पीढ़ी से बराबर पुष्ट होती रही है। बुद्ध ने भी जैसे इस सिद्धांत में कभी सन्देह नहीं किया और इसको स्वीकार कर लिया, उन्होंने पुनर्जन्म के चक्र और कर्म के सिद्धांत को प्रचलितरूप में ही मान लिया। उन्हें चिन्ता थी तो सिर्फ केवल एक बात की कि पुनर्जन्म के इस चक्र से किस प्रकार मुक्ति पायी जाय, किस प्रकार निर्वाण की प्राप्ति की जाय।

परन्तु यह निर्वाण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर बुद्ध ने इतने विस्तार के साथ दिया है और बाद में भी उनके अनुयायियों ने इसकी इतनी व्याख्या की है कि इसके सम्बंध में किसी प्रकार के भ्रम का होना सम्भव नहीं है। निर्वाण का संस्कृत में शाब्दिक अर्थ है "बुझ जाना"—जैसे कि दिया या अग्नि बुझती है. बौद्ध धर्म ग्रन्थों में इसका पयोग इन अर्थों में हुआ है :—१—स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के पूर्ण दमन के माध्यम से इस जीवन में प्राप्त की गई शान्ति और संतोष की अवस्था २—पुनर्जन्म से मुक्ति: ३—व्यक्तिगत चेतना का निर्मूलन; ४—व्यक्ति का ईश्वर से एकाकार होना; ५—मृत्यु के बाद पूर्ण आनन्द की प्राप्ति। बौद्ध साहित्य में इस शब्द का प्रायः सांसारिक अर्थ में प्रयोग किया गया है : जैसे "अर्हत्" या संन्यासी इसको इस जीवन में ही इन सात विशेषताओं को प्राप्त करके निर्वाण प्राप्त कर सकता है—आत्म-निमंत्रण, सत्य की शोर, शक्ति, शांति, आनन्द, एकाग्रता और उदारता। ये विशेषताएँ वास्तव में निर्वाण के सात अंग मात्र हैं इन्हें निर्वाण के कारण या साधन के रूप में नहीं माना गया है—निर्वाण का साधन तो सिर्फ एक है और वह है स्वार्थपूर्ण इच्छा का दमन। प्राचीन बौद्ध धर्म ग्रन्थों में निर्वाण का अर्थ उस कष्टहीन परम शांति से माना गया है जो कि अपने अहम के पूर्ण दमन के फलस्वरूप प्राप्त की जा सकती है। बुद्ध ने एक स्थान पर कहा है—अब मैं कष्ट या पीड़ा से मुक्ति के बारे में एक सत्य कहता हूँ—इसे इस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है कि किसी इच्छा को शेष न रखा जाय। हर तरह की इच्छा से मुक्ति प्राप्त की

जाय। बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं में परम शांति और परम आनन्द के अर्थ में भी निर्वाण का प्रयोग किया है। परन्तु पूर्ण निर्वाण का अर्थ है, पूर्ण अंत और पुनर्जन्म से सदा के लिए मुक्ति।

बुद्ध का कहना है कि अंत में हमारे सामने व्यक्तिवादिता की नैतिक और मनोवैज्ञानिक निरर्थकता सिद्ध हो जाती है। हमारा अपना व्यक्तित्व या स्व अपने आप में कोई पृथक शक्ति या जीव नहीं है बल्कि यह तो जीवन की एक महानधारा की एक नश्वर लहरी मात्र है। जब हम अपने आपको पूर्ण के एक अंश के रूप में देखते हैं, जब हम अपने व्यक्तित्व और अपनी इच्छाओं को पूर्ण की तुलना में परिष्कृत करते हैं तब हमारी असफलताएँ, हमारे विभिन्न कष्ट और यहाँ तक कि मृत्यु ही हमें पहले की भाँति दुख नहीं दे सकती। जब हम अपने आपको नहीं बल्कि सभी मनुष्यों और समस्त जीवधारियों से प्रेम करना सीख लेंगे तभी अंत में हमें शांति प्राप्त हो सकेगी।

५. बुद्ध के अन्तिम दिन

बुद्ध के कुछ विचित्र कार्य और करिश्में; पितृ ग्रह की यात्रा; बौद्ध भिक्षु या संन्यासी; देहावसान।

दार्शनिक विवेचन के इस उच्च स्तर से उतर कर हम अब उन गाथाओं पर आते हैं जिनमें बुद्ध के अन्तिम दिनों और उनके देहावसान का उल्लेख मिलता है स्वयं बुद्ध अलौकिक कार्यों और करिश्मों से घृणा करते थे लेकिन उनके अनुयायियों ने उनके बारे में इस प्रकार की हजारों कथाएँ गढ़ ली जैसे, वे एक क्षण में उड़कर गंगा के इस पार से उस पार पहुँच सकते थे; जब दाँत खोदने की उनकी सींक भूमि पर गिर पड़ी तो उसकी जगह से पेड़ उग आया; उनके एक प्रवचन के बाद सारी पृथ्वी काँप उठी जब उनके शत्रु देवदत्त ने एक पागल हाथी उन पर छोड़ा तो बुद्ध ने अपने प्रेम के बल पर उसको वश में कर लिया।

बौद्ध धर्म ग्रन्थों में बुद्ध के चरित्र का बड़ा सुंदर वर्णन किया गया है। अनेक शिष्य और अनुयायी उनके आस पास एकत्र हो गए थे। एक प्रसिद्ध सन्त के रूप में उनकी ख्याति उत्तर भारत के लगभग सभी नगरों में फैल चुकी थी। जब उनके पिता ने सुना कि बुद्ध कपिलवस्तु के समीप ही हैं तो उन्होंने एक सन्देशवाहक बुद्ध के पास भेजा और उन्हें अपने बचपन के नगर में एक दिन व्यतीत करने के लिए आमंत्रित किया, बुद्ध गये। उनके पिता जो कि अपने युवराज के चले जाने पर बहुत दुखी रहा करते थे, एक सन्त के रूप में उनका स्वागत करके बड़े प्रसन्न हुए। बुद्ध की पत्नी, जो कि इस लम्बे वियोग की अवधि में भी पूर्ण सतीत्व का पालन कर रही थी, अपने पति के पैरों में गिर पड़ी और एक देवता के रूप में भक्ति भाव से उसने उनकी वन्दना की तब राजा शुद्धोधन ने बुद्ध को उनकी पत्नी के बारे में बताते हुए कहा—"देव, मेरी पतोहू ने जब यह सुना कि आप संन्यासियों की भाँति पीत वस्त्र धारण करते हैं तो इसने भी वैसे ही वस्त्र धारण कर लिये; जब इसने सुना कि आप दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं तो यह भी केवल एक ही बार भोजन करने लगी; जब इसने सुना कि आपने शैया पर सोना छोड़ दिया है तो इसने भी शैया का त्याग कर दिया; जब इसने सुना कि आपने पुष्पहार और सुगन्धित वस्तुओं का त्याग कर दिया है तो इसने भी उनको काम में लाना छोड़ दिया। यह सुनकर बुद्ध ने अपनी पत्नी को आशीर्वाद दिया और फिर वे अपने मार्ग पर आगे बढ़ गये।

योद्धा के रूप में तो निश्चय ही सिकन्दर से छोटा था लेकिन एक शासक के रूप में उससे बड़ा था। चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था और उसका उस नन्द वंश से सम्बन्ध था, जिसका मगध पर अधिकार था और जिसने उसे देश निकाला दिया था। उसने अपने कूटनीतिक परामर्शदाता कौटिल्य चाणक्य की सहायता से एक छोटी-सी सेना का संगठन किया और मैसेदोनियाई सैनिक टुकड़ियों को पराजित करने के बाद भारत को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, इसके बाद वह मगध की राजधानी पाटलिपुत्र तक बढ़ा। उसने वहाँ एक विद्रोह का आयोजन किया और राजसिंहासन पर कब्जा कर लिया तथा उस मौर्य वंश की नींव डाली जिसने भारत और अफगानिस्तान पर १३७ वर्ष तक एकक्षत्र राज्य किया। कौटिल्य के बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्श और अपने साहस के बल पर चन्द्रगुप्त ने बहुत थोड़े समय में ही अपने राज्य को उस समय का विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बना लिया। जब मेगस्थनीज़ सीरिया के राजा सेल्यूकस निकातोर के राजदूत के रूप में पाटलिपुत्र में आया तो उसे यहाँ एक ऐसी सभ्यता देखने को मिली जोकि उस समय की यूनानी सभ्यता के समकक्ष थी।

इस यूनानी यात्री ने अपने समय के भारतीय जीवन का अच्छा परिचय दिया है। हालाँकि ऐसा करने में उसने काफी उदारता से काम लिया है। उसे भारत की अपने देश से तुलना करते समय यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि भारत में दास प्रथा नहीं थी। उसने लिखा है कि हालाँकि यहाँ की जनता पेशे के आधार पर विभिन्न जातियों में बँटी हुई थी लेकिन इस विभाजन को यहाँ के लोगों ने स्वाभाविक रूप में स्वीकार कर रखा था। उसने आगे लिखा है—

"यहाँ के लोग काफी सुख में हैं और बड़े सीधे स्वभाव के हैं। धार्मिक महत्व के अवसरों को छोड़कर बाकी कभी भी मदिरा पान नहीं करते।.....इनके नियम कानून और आपस के समझौतों की सादगी इसी से प्रकट होती है कि ये झगड़े के निपटारे के लिए कानून की शरण बहुत कम लेते हैं। किसी से किये गये वादे के बारे में या किसी के यहाँ जमा करके रखे गये धन के बारे में इनमें आपस में कभी मुकदमे बाजी या गवाही की नौबत नहीं आती है। ये आपस में एक दूसरे का विश्वास करते हैं तथा जीवन में सच्चाई और ईमानदारी को बहुत अधिक महत्व देते हैं।.....जमीन के अधिकांश भाग में सिंचाई की बड़ी अच्छी व्यवस्था है, और यहाँ की जमीन साल में लगभग दो बार फसल पैदा करती है।.....इसके फलस्वरूप भारत में आज तक कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा, और स्वास्थ्यवर्धक खाद्य पदार्थों की यहाँ कभी भी कमी नहीं रही।"

चन्द्रगुप्त के समय में उत्तरी भारत में जो दो हजार नगर थे, उनमें सबसे प्राचीन था तक्षशिला, जो कि आधुनिक रावलपिंडी से बीस मील उत्तर पश्चिम में बसा था। यूनानी इतिहासकार आरियन ने एक विशाल और समृद्ध नगर बसाया है तथा दूसरे यूनानी इतिहासकार स्त्राबो ने लिखा है—"यह एक विशाल नगर है और यहाँ की कानून व्यवस्था सर्वोत्तम है।" यह नगर सैनिक के साथ साथ शिक्षा की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण था। पश्चिमी एशिया को जाने वाले मुख्य मार्ग पर बसा होने के कारण इसका बड़ा सामरिक महत्व था और यहाँ एक विश्वविद्यालय भी था जो कि भारत के उस समय के अनेक विश्वविद्यालयों में सबसे अधिक प्रसिद्ध था। जैसा कि यूरोप में मध्य युग में पेरिस के साथ हुआ था, दूर दूर के छात्र तक्षशिला में पढ़ने के लिए आया करते थे तथा यहाँ विज्ञान और सभी कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँ शिक्षकों के रूप में चुने हुए विद्वानों को

नियुक्त किया गया था। इसके अलावा यहाँ एक चिकित्सा विद्यालय भी था जोकि उस समय के पूर्वी संसार में सबसे अधिक प्रसिद्ध था।[१]

मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र के बारे में लिखा है कि यह नगर नौ मील लम्बा और लगभग दो मील चौड़ा है। राजा का राजमहल लकड़ी का बना था लेकिन मेगस्थनीज़ ने उसको सूसा और एक्बाताना के राज महलों से भी अधिक सुंदर यहाँ तक कि पर्सेपोलिस के राजमहल से भी अधिक सुंदर बताया है। उसके खम्भों पर सोना चढ़ा था और प्राकृतिक दृश्यों तथा पशु पक्षियों के चित्र बने थे। भीतर का भाग भी कीमती धातुओं और पत्थरों से बहुत अच्छी तरह सजाया गया था, महल में छः फुट व्यास के सोने के विशालकाय पात्र भी रखे थे। एक अंग्रेज इतिहासकार ने कुछ प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ईसा से चौथी और तीसरी शताब्दी पूर्व मौर्य सम्राटों के शासनकाल में दस्तकारी की वस्तुओं और अन्य कीमती सजावटी चीजें तथा शान शौकत में उतनी ही वृद्धि हो चुकी थी जितनी कि अठारह शताब्दी बाद मुगल सम्राटों के शासन काल में हुई थी।

इसी राजभवन में चन्द्रगुप्त हिंसा द्वारा सिंहासन पर अधिकार करने के बाद चौबीस वर्ष तक रहा, वह अपने महल के बाहर बहुत कम निकला करता था और जब भी निकलता था तो हल्के हरे रंग का जरीदार मलमल का वस्त्र धारण करता था और सुनहरी पालकी या बढ़िया सजे हुए हाथी पर बैठ कर निकलता था। वह शिकार तथा अन्य मनोरंजन के कार्य-क्रमों में बहुत कम भाग ले पाता था क्योंकि उसका अधिकांश समय अपने बढ़ते हुए साम्राज्य के काम की देख-भाल में ही व्यतीत होता था। उसने अपने दिनों को नव्वे मिनटों के सोलह भागों में विभाजित कर रखा था। पहले घन्टे में वह उठता था और ध्यान तथा मनन की तैयारी करता था; दूसरे घन्टे में अपने गुप्तचरों द्वारा भेजी गयी सूचनाओं का अध्ययन करता था और गुप्त आदेश जारी करता था; तीसरे घन्टे में वह अपने विश्वसनीय परामर्शदाताओं के साथ बैठ कर विचार-विमर्श करता था; चौथे घन्टे में वह राजस्व, वित्त व्यवस्था और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा व्यवस्था पर ध्यान देता था; पाँचवें घन्टे में वह कुछ खास-खास मुकदमों का निर्णय करता था और प्रजा की फरियाद सुनता था; छठे घन्टे में वह स्नान करके भोजन करता था और धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करता था; सातवें घन्टे में कर और भेंट स्वीकार करता था तथा आवश्यक राजकीय नियुक्तियाँ करता था; आठवें घन्टे में वह पुनः अपने मंत्री परिषद् के साथ विचार विमर्श करता था, गुप्तचरों तथा उन नर्तकियों से गुप्त सूचना प्राप्त करता था जिनको उसने इसी काम के लिए नियुक्त कर रखा था; नवें घन्टे में वह आराम करता था और पूजापाठ करता था; दसवें और ग्यारहवें घन्टे में वह अपनी विशाल सेना से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करता था; बारहवें घन्टे में वह पुनः गुप्त सूचनाओं पर विचार करता था; तेरहवें घन्टे में सायंकालीन स्नान और भोजन तथा चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें

---

[१] सर जान मार्शल ने तक्षशिला के स्थान पर जो खुदाई करवाई है, उसमें बहुत सुन्दर तरासे हुए पत्थर, अच्छी पालिसदार मूर्तियाँ, ६०० वर्ष ई० पू० पुराने सिक्के और शीशे की ऐसी सुन्दर चीजें मिली हैं जैसा कि भारत में उसके बाद के युग में भी नहीं बन सकीं। विन्सेंट स्मिथ, "इन प्रमाणों के आधार पर यह पता चलता है कि उस समय भौतिक सभ्यता ने विकास का उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था और ऐसी सभी कलाओं तथा शिल्प का विकास हो चुका था जोकि एक सम्पन्न और सुसंस्कृत नागरिक जीवन में पायी जाती हैं।

घन्टे में शयन। अथवा यह भी हो सकता है कि चन्द्रगुप्त की इस चरित्र की कल्पना इतिहासकारों के मस्तिष्क की उपज हो या कौटिल्य ने जान-बूझ कर उसको एक आदर्श राजा सिद्ध करने के लिए यह सब गढ़ा हो, क्योंकि राजाओं के बारे में सच्चाई का ज्ञान बहुत कम हो पाता है।

शासन-व्यवस्था के संचालन का असली सूत्र उसके बुद्धिमान मंत्री कौटिल्य के हाथ में था। कौटिल्य जाति के ब्राह्मण थे और धर्म के राजनीतिक महत्व से परिचित थे लेकिन उससे कोई नैतिक प्रेरणा नहीं लेते थे। हमारे आधुनिक अधिनायकों की भाँति कौटिल्य का भी विश्वास था कि राज्य की देख-भाल के लिए किसी भी प्रकार के साधन का सहारा लिया जाना अनुचित नहीं होता। कौटिल्य बहुत ही चालाक और कई माने में धोखे से काम लेने वाले आदमी थे लेकिन चन्द्रगुप्त को उन्होंने कभी भी धोका नहीं दिया। उन्होंने पराजय, देश निकाला, षडयंत्र, हत्या और विजय सब में चन्द्रगुप्त का वफादारी के साथ साथ दिया और अपने बुद्धि कौशल से चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को भारत का महानतम साम्राज्य बना दिया था। प्रसिद्ध पाश्चात्य कूटिनीतिकार मैकियाविली की भाँति कौटिल्य ने भी रणनीति और कूटिनीति सम्बंधी अपने सिद्धांतों को लिपि-बद्ध कर लेना उचित समझा। उन्हें "अर्थ-शास्त्र" का रचयिता माना जाता है जो कि संस्कृत का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कौटिल्य ने लिखा है कि शत्रु के किले पर इन साधनों से अधिकार किया जा सकता है—षड्यंत्र, गुप्तचर, शत्रु राज्य की जनता को अपनी ओर मिला लेना, घेरे-बन्दी और अंत में आक्रमण। यह इस पुस्तक की यथार्थवादिता का एक उदाहरण है।

उस समय की सरकार लोकतंत्र का दावा नहीं करती थी। वह सम्भवतः भारत की सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था थी। महानतम् मुगल सम्राट अकबर की शासन-व्यवस्था भी उसकी बराबरी नहीं कर सकती थी और कुछ इतिहासकारों का यहाँ तक मत है कि प्राचीन यूनानी नगर राज्यों की शासन-व्यवस्था भी इससे अच्छी नहीं थी। इतना स्पष्ट है कि इसका मूल आधार सैनिक शक्ति पर ही टिका था। मेगस्थनीज़ के कथनानुसार चन्द्र-गुप्त की सेना में ६ लाख पैदल, ३० हजार घुड़सवार, ९ हजार हाथी और असंख्य रथ थे। ब्राह्मणों और किसानों को सैनिक सेवा से मुक्त रखा गया था। स्त्राबो ने लिखा है कि युद्ध के दिनों में भी किसान शांति से खेती किया करते थे और सुरक्षित रहते थे। सैद्धान्तिकरूप से राजा का अधिकार असीम था लेकिन व्यावहारिकरूप से मंत्री परिषद् उसके अधिकार को कुछ सीमित कर देती थी। राजा की उपस्थिति और उसकी अनुपस्थिति में भी मंत्रि परिषद् ही कानून बनाने का काम करती थी और राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था तथा परराष्ट्रनीत को निर्धारित करती थी और राज्य के महत्वपूर्ण कर्मचारियों की नियुक्ति करती थी। मेगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के मंत्रियों के चरित्र और उनकी बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की है।

शासन-व्यवस्था को विभिन्न विभागों में विभाजित किया गया था और चुने हुए अधिकारी इन विभागों की देख-भाल करते थे। राजस्व, चुंगी, सीमा-व्यवस्था, प्रवेश पत्र, संचार, आबकारी, खदान, कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, भंडार-गृह या गोदाम, जहाजरानी, वन, उपवन शिकार और सार्वजनिक खेल-कूद, वेश्याएँ, और टकसाल। आबकारी विभाग के अधीक्षक का काम था कि नशीली वस्तुओं की बिक्री को नियंत्रित करना, मदिरालयों की संख्या सीमित रखना और मदिरालयों में बेची जाने वाली वस्तुओं की मात्रा निश्चित करना, खदान विभाग का अधीक्षक निजी व्यापारियों को खदानों के पट्टे देता था और उनसे एक निश्चित शुल्क तथा उनके मुनाफे का एक अंश राज्य के लिए

वसूल करता था। यही व्यवस्था कृषि के क्षेत्र में भी लागू थी क्योंकि सारी जमीन राज्य की सम्पत्ति मानी जाती थी। सार्वजनिक खेल-कूद विभाग या क्रीड़ा का अधीक्षक जुए के अड्डों की देख-भाल करता था, उनसे शुल्क प्राप्त करता था और जुएखाने को प्राप्त हुए धन का पाँच प्रतिशत राज्य के लिए वसूल करता था। वेश्याओं का अधीक्षक वार-वणिकाओं की देख-भाल करता था, उनके आय व्यय को नियंत्रित करता था, प्रतिमास उनकी दो दिन की कमाई को कर के रूप में राज्य के लिए वसूल करता था और उनमें से दो को मनोरंजन तथा गुप्तचर का कार्य करने के लिए राज महल में भेजा करता था। प्रत्येक उद्योग और पेशे पर कर लगा हुआ था, इसके अलावा धनियों को समय समय पर राजा को भेंट भी देनी पड़ती थी। सरकार वस्तुओं का मूल्य निश्चित करती थी और समय समय पर बटखरों आदि की नापजोख भी करती थी। इसके अलावा सरकार कुछ राजकीय कारखानों में उत्पादन का कार्य भी करती थी, तरकारी बेचती थी। इसके अलावा खदानों पर तथा नमक, इमारती लकड़ी, कीमती वस्त्र, घोड़े और हाथी पर राज्य का ही एकाधिकार माना जाता था।

गाँवों में कानून की व्यवस्था गाँव के मुखिये या पंचायत के हाथ में थी। नगर, जिले और प्रदेश के स्तर पर न्यायालयों की व्यवस्था थी। सर्वोच्च न्यायालय राजधानी में था। विशेष मामलों पर अंतिम निर्णय राजा द्वारा दिया जाता था। दंड-व्यवस्था काफी कड़ी थी, और अंग-भंग, यातना तथा मृत्यु दंड की व्यवस्था थी। दंड साधारणतया बदले के सिद्धांत पर आधारित था। परन्तु सरकार का काम केवल दमन करना ही नहीं था, वह जनता की सुख-सुविधा और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि की भी देख-भाल करती थी तथा औषधालयों और निर्धनों के लिए सहायताकेन्द्रों की स्थापना करती थी। अकाल या अभाव के समय राज्य की ओर से अन्न-वितरण की भी व्यवस्था थी और इसके लिए राजकीय भंडारगृहों में अन्न जमा करके रखा जाता था। संकटकाल में धनियों को इसके लिए विवश भी किया जाता था कि वे निर्धनों और अभावग्रस्त जनता की सहायता करे। ऐसे अवसरों पर अभावपीड़ितों की सहायता के लिए राज्य की ओर से बड़े पैमाने पर निर्माण-कार्य भी आरम्भ किये जाते थे।

जहाजरानी विभाग जलमार्ग से होनेवाले यातायात का नियंत्रण करता था और यात्रियों की सुरक्षा की व्यवस्था करता था। यह विभाग पुलों और बन्दरगाहों की देख-भाल करने के अलावा सरकारी नावें भी चलाता था। निजी स्तर पर बड़े-बड़े महाजन भी अपनी नावें और जहाज चलवाया करते थे। संचार विभाग सड़कें बनवाता था और उनकी मरम्मत करता था। इस विभाग की ओर से समस्त साम्राज्य में सड़कें बनवायी गई थीं, जिनमें गावों की छोटी सड़कों से लेकर ३२ फुट चौड़े व्यापारिक मार्ग और ६४ फुट चौड़े राजमार्ग सम्मिलित थे। इस प्रकार की एक शाही सड़क पाटलिपुत्र से लेकर उत्तर-पश्चिमी सीमांत तक लगभग १२ सौ मील लम्बी थी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि इन सड़कों पर प्रत्येक मील पर मार्ग-सूचक स्तंभों का निर्माण किया गया था, जिन पर एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी भी लिखी रहती थी। मार्ग पर जगह- जगह छायादार वृक्षों, कुओं, थानों और धर्मशालाओं की व्यवस्था की गई थी। रथ, पालकी, बैलगाड़ी, घोड़े, ऊँट, हाथी, गदहे और कुली माल ढोने के काम आते थे। हाथी एक बहुत ही कीमती जानवर माना जाता था और राजा तथा राजकीय अधिकारियों की सवारी के काम आता था। एक हाथी की कीमत एक स्त्री के सतीत्व से भी अधिक मानी जाती थी।[1]

---

[1] एरियन ने अपनी पुस्तक "इंडिका" में लिखा है—"इनकी स्त्रियाँ, जो कि आम-

नगरों की शासन-व्यवस्था का संचालन भी प्रशासकीय विभागों के आधार पर होता था। उद्योगों का नियंत्रण, यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था और उनकी निगरानी का काम, जन्म और मृत्यु का लेखा-जोखा रखने का काम, व्यापारियों को अनुमति-पत्र देने और उनके माल तथा तराजू-बटखरों की जाँच-पड़ताल का काम, तैयार माल की बिक्री के नियंत्रण का काम आदि-आदि विभिन्न विभागों के सुपुर्द थे। एक विभाग हर प्रकार की बिक्री पर दस प्रतिशत के हिसाब से बिक्री कर वसूला करता था। हावेल का कहना है—"इस प्रकार संक्षेप में पाटलिपुत्र ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में एक सुसंगठित और सुव्यवस्थित नगर था। वहाँ का प्रशासन समाज-विज्ञान के प्रमुख सिद्धांतों के आधार पर संचालित था। विन्सेन्ट स्मिथ का मत है—"प्रशासन की इस व्यवस्था को देखकर आश्चर्य होता है। इसका परिचय तो हमें मोटे तौर पर ही प्राप्त हो सका है। लेकिन यदि प्राप्त तथ्यों के आधार पर ध्यान से विचार किया जाय तो यह देखकर दंग रह जाना पड़ता है कि ३०० वर्ष ई० पू० में भारत में ऐसी सुनियोजित शासन-व्यवस्था का विकास हो चुका था।"

इस राज्य-व्यवस्था की एक खामी थी एकाधिपत्यता और इसी कारण राजा को अपनी सेना और गुप्तचरों पर निर्भर रहना पड़ता था। प्रत्येक निरंकुश सम्राट की भाँति चन्द्रगुप्त भी सारा अधिकार अपनी मुट्ठी में रखता था और उसे हमेशा विद्रोह और हत्या का डर बना रहता था। कहा जाता है कि प्रतिदिन वह अपना शयनकक्ष बदलता रहता था और हमेशा अंगरक्षकों से घिरा रहता था। हिन्दू परम्परागत मान्यता के आधार पर, जिसे यूरोपीय इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है, पता चलता है कि जब चन्द्रगुप्त के राज्य में एक बहुत बड़ा अकाल पड़ा तो उसने राजसिंहासन त्याग दिया और बारह वर्ष तक एक जैन संन्यासी के रूप में जीवन व्यतीत करने के बाद अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये।

२. एक दार्शनिक सम्राट

अशोक; संयम और सहिष्णुता का पक्षपाती; अशोक के धर्म-प्रचारक; अशोक की सफलता और असफलता।

सम्राट चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी बिन्दुसार कुछ बौद्धिक प्रवृत्ति का था। कहा जाता है कि उसने सीरिया के राजा आन्तिओकोस से एक यूनानी दार्शनिक भेंट में माँगा था और कहा था कि एक योग्य यूनानी दार्शनिक के लिए मैं काफी बड़ी कीमत देने के लिए तैयार हूँ। लेकिन उसकी माँग पूरी नहीं हो सकी, क्योंकि आन्तिओ-कोस को एक भी दार्शनिक ऐसा नहीं मिल सका जो बिकने के लिए राजी होता। परन्तु संयोग से बिन्दुसार को अपने पुत्र के रूप में ही एक दार्शनिक प्राप्त हो गया।

अशोकवर्धन २७३ वर्ष ई० पू० में सिंहासन पर बैठा। उसका साम्राज्य जितना बड़ा था, उतना बड़ा साम्राज्य उसके पहले के किसी भारतीय सम्राट का नहीं था, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान से लेकर समस्त आधुनिक भारत उसके साम्राज्य का अंग था। केवल सुदूर दक्षिण का तामिल प्रदेश उसके अन्तर्गत नहीं था। कुछ समय तक

तौर से बहुत अधिक सदाचारी होती हैं, एक हाथी के बदले किसी भी अजनबी के साथ सोने को तैयार हो सकती हैं। भारतीय स्त्रियाँ इसे अपने लिए एक सम्मान की बात मानती हैं कि उनकी सुन्दरता का मूल्य एक हाथी के बराबर माना गया।"

तो उसने अपने पितामह चन्द्रगुप्त की भाँति बड़ी दृढ़ता और क्रूरता से शासन किया। युआन च्वांग नामक एक चीनी यात्री ने, जिसने सत्रहवीं सदी में कई वर्ष तक भारत में निवास किया था, लिखा है कि अशोक ने अपनी राजधानी के उत्तर में जो कारागार वना रखा था, उसकी स्मृति से उस समय भी लोग काँप उठते थे और यह कारागार जनश्रुति में 'अशोक के नरक' के नाम से कुख्यात था। इस चीनी यात्री को लोगों ने वताया था कि अशोक के इस कारागार में अपराधियों को तरह तरह की क्रूर यातनाएँ दी जाती थीं, और स्वयं सम्राट का इसके वारे में यह कहना था कि इस कारागार में एक वार वन्द किया जानेवाला कभी जीवित बाहर नहीं आ सकता। लेकिन एक दिन की वात है कि वहाँ एक वौद्ध भिक्षु को लाया गया। उसे विना किसी कारण के ही पकड़ लिया गया था। जब इस भिक्षु को खौलते हुए पानी के कड़ाह में डाला गया तो इसका उस पर कोई असर ही नहीं हुआ और जीवित वचा रहा। कारागार के प्रधान ने राजा के पास खबर भेजी। राजा ने स्वयं आकर इस विचित्र घटना को देखा। जव वह चलने लगा तो कारागार के प्रधान ने उसे उसके इस आदेश की याद दिलायी कि इस कारागार से कोई भी व्यक्ति जीवित वाहर नहीं जा सकता। सम्राट ने उसकी वात को स्वीकार किया और आदेश दिया कि कारागार के प्रधान को कड़ाह में फेंक दिया जाय और भिक्षु को छोड़ दिया जाय।

जनश्रुति के अनुसार वहाँ से अशोक अपने महल में लौट आया और गहरे सोच में पड़ा। काफी देर तक विचार करने के वाद उसमें इतना परिवर्तन हो गया कि उसने उस कारागार को नष्ट कर देने का आदेश दिया और दंड-व्यवस्था को भी काफी हल्का कर दिया। तभी उसे यह सूचना मिली कि उसके सैनिकों ने विद्रोही कलिंग जाति पर एक वहुत वड़ी विजय प्राप्त की है और हजारों विद्रोहियों को तलवार के घाट उतार दिया है और अनेक को वन्दी वना लिया है। भयानक हिंसा और हत्याकांड के इस समाचार से सम्राट का मन ग्लानि से भर उठा, वह यह सोचकर विचलित हो उठा कि इतनी वड़ी संख्या में वन्दियों को अपने प्रियजनों से विछुड़ना पड़ेगा। उसने आदेश दिया कि सभी वन्दियों को रिहा कर दिया जाय और कलिंगवासियों को उनकी भूमि लौटा दी जाय। यही नहीं उसने इस हत्याकांड के लिए उनसे क्षमा की प्रार्थना भी की, जो कि इतिहास में अपने ढंग की एक अद्वितीय घटना है। इसके वाद सम्राट ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। वह भिक्षुओं की भाँति पीत वस्त्र धारण करने लगा और उसने मांस खाना छोड़ दिया। वह वुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार ही रहने लगा।

आज हमारे लिए यह कहना सम्भव नहीं है कि इस कथा में इतिहास का अंश कितना है और कल्पना का कितना। इसके अलावा इतने लम्वे व्यवधान के वाद हम यह भी नहीं कह सकते कि इस परिवर्तन के लिए पीछे कौन-सा रहस्य था और सम्राट का वास्तविक उद्देश्य क्या था। हो सकता है कि उसने वौद्ध धर्म की वढ़ती हुई शक्ति को पहचानकर यह सोचा हो इसके प्रचार से उसकी प्रजा शांत रहेगी और जब लोग धर्मानुसार आचरण करने लगेंगे तो उसे अपने राज्य में शांति और सुव्यवस्था को वनाये रखने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अपने शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष में इसी आशय के आदेश जारी करने शुरू किये। उसने अपने इन आदेशों को राज्य भर में स्तंभों और शिलालेखों पर खुदवाना शुरू किया। इन शिलालेखों में वहुत सरल और स्थानीय भाषाओं का प्रयोग किया जाता था कि प्रत्येक साधारण पढ़ा-लिखा आदमी भी उनको समझ सके। अशोक के शिलालेख भारत के लगभग सभी भागों में पाये गये हैं। उसके द्वारा स्थापित कराये गये स्तंभों में से दस तो आज भी अपनी जगह पर खड़े हैं और वीस अन्य स्तंभों के वारे में पता लगा लिया गया है कि उन्हें किस स्थान पर स्थापित किया गया था। इन शिलालेखों में सम्राट ने वौद्धमत में अपने विश्वास की घोषणा की

है और राज्य-व्यवस्था को बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों के अनुसार चलाने की प्रतिज्ञा की है।

हालाँकि इन शिलालेखों में बौद्ध मत का प्रतिपादन किया गया है, लेकिन उनका मूल स्वरूप धार्मिक नहीं है। उनमें बौद्ध के विचारों के प्रतिकूल एक भावी जीवन की भी कल्पना की है, जिससे पता चलता है कि बुद्ध के अनुयायियों ने अपने मौलिक धर्म में कितना परिवर्तन कर लिया था। परन्तु इन शिलालेखों में न तो किसी एक ईश्वर का उल्लेख ही किया गया है और न उसमें विश्वास प्रकट किया गया है। इसके अलावा इनमें गौतम बुद्ध के बारे में एक भी शब्द नहीं कहा गया है। इनमें धर्मशास्त्रों का भी कोई विशेष उल्लेख नहीं है। सारनाथ के लेख में धर्मसंघ में शांति और एकता बनाये रखने को कहा गया है और संघ में विभेद उत्पन्न करनेवालों के लिए दंड की व्यवस्था की गई है, परन्तु अन्य सभी शिलालेखों में धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी गई है। इनमें कहा गया है कि बौद्ध भिक्षुओं की ही भाँति ब्राह्मणों को भी भिक्षा दी जाय और किसी के धार्मिक विश्वास की निन्दा न की जाय। इन शिलालेखों में सम्राट ने यह घोषणा की है कि वह अपनी समस्त प्रजा को अपनी संतान की भाँति मानता है और किसी के धार्मिक विश्वास के कारण वह उसके प्रति अपने व्यवहार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं लायेगा।

एक शिलालेख में कहा गया है—महामहिम धर्मप्रिय सम्राट की दृष्टि में सभी धर्मावलंबी समान हैं। सम्राट सबको समान रूप से दान देते हैं और सबका समान रूप से सम्मान करते हैं। सम्राट बाह्य स्वागत-सत्कार और दान-दक्षिणा को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि इस बात को कि सब मतों को माननेवाले आपस में पूर्ण सद्भाव से रहें। कोई भी व्यक्ति अकारण अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे। इस प्रकार के व्यवहार द्वारा मनुष्य न केवल अपने धर्म का सम्मान बढ़ाता है बल्कि दूसरे के धर्म के सम्मान में वृद्धि करता है। इसके विपरीत व्यवहार द्वारा व्यक्ति न केवल अपने धर्म का अहित करता है, वरन् दूसरे के धर्म का भी अहित करता है। ....समदृष्टि ही श्रेयस्कर है।"

इस दृष्टि से स्वयं एक आदर्श उपस्थित करने के उद्देश्य से अशोक ने राज्य भर के अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि वे प्रजा को सम्राट की संतान की तरह मानें और उसके साथ कभी भी रूखा या क्रूर व्यवहार न करें, जनता को कष्ट न दें और अकारण किसी को बंदी न बनायें। सम्राट ने अपने अधिकारियों को यह आदेश भी दिया कि इन सूचनाओं को समय समय पर पढ़कर जनता को सुनाया जाय।

क्या इन नैतिक शिक्षाओं से जनता के चरित्र में कुछ सुधार हुआ? संभवतः इनके कारण अहिंसा का प्रचार तो अवश्य हुआ। उच्च वर्ग के लोगों में मांस और मदिरा के सेवन में भी कमी हुई। एक सुधारक के रूप में अशोक में काफी आत्म-विश्वास था। एक शिलालेख में उसने स्वयं घोषित किया है कि इन शिक्षाओं का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा है—"अब महामहिम सम्राट के धर्मप्रेम के कारण युद्ध-घोषणाओं की प्रतिध्वनि न्याय और नियम की प्रतिध्वनि के रूप में बदल गई है। ....जैसा कि पहले बहुत वर्षों से संभव नहीं हो सका था, महामहिम सम्राट द्वारा धर्म-राज्य की स्थापना के बाद जीवधारियों की हत्या और हिंसा बहुत कम हो गई है; संबंधियों के प्रति सम्यक् व्यवहार, ब्राह्मणों के प्रति सम्यक् व्यवहार और माता-पिता के प्रति आदर की भावना में विकास हुआ है। इस प्रकार धर्मानुशासन में वृद्धि हुई है और

सम्राट इस धर्म-व्यवस्था को और अधिक विकसित करेंगे।....सम्राट के पुत्र और प्रपौत्र सृष्टि के अन्त तक इस धर्म-व्यवस्था को जारी रखेंगे।"

अशोक ने स्वयं भी धर्म-प्रचार के लिए काफी काम किया। उसने बौद्ध धर्मसंघ के प्रधान का पद सँभाला और ८४,००० धर्मसंघों की स्थापना की। उसने धर्म के नाम पर अपने सारे साम्राज्य में मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालयों की स्थापना की। उसने भारत और श्रीलंका के सभी भागों में अपने धर्म-प्रचारक भेजे। यही नहीं उसने सीरिया, मिस्र और यूनान में भी अपने प्रचारकों को भेजा और उसकी मृत्यु के कुछ ही समय बाद तिब्बत, चीन, मंगोलिया और जापान में भी बौद्ध धर्म का प्रसार करने के लिए भारत से धर्म-प्रचारक रवाना हुए। अपनी इन बढ़ी हुई धार्मिक गतिविधियों के बावजूद अशोक ने अपनी शासन-व्यवस्था को अधिक से अधिक धर्मनिरपेक्ष बनाये रखने का प्रयास किया। वह दिन में कई घंटे काम करता था और सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए कोई भी अधिकारी किसी भी समय सम्राट से मिल सकता था।

अशोक में एक प्रमुख खामी यह थी कि वह कुछ अहमवादी था, और किसी आदमी के लिए यह सचमुच बहुत कठिन होता है कि वह सुधारक भी हो और साथ ही विनम्र भी हो। प्रत्येक शिलालेख में उसकी आत्म प्रशंसा की भावना स्पष्ट रूप से सामने आती है। अशोक इस बात का अन्दाज लगाने में भी असफल रहा कि ब्राह्मण भीतर ही भीतर उससे घृणा करते थे और अपने मौके की ताक में बैठे हुए थे ताकि अवसर पाते ही उसको और उसकी व्यवस्था को नष्ट कर सकें न केवल ब्राह्मण जो कि पशु बलि के पक्षपाती थे बल्कि कई हजार शिकारी और मछुए तथा ऐसे ही लोग अशोक के उन आदेशों से असन्तुष्ट थे जिनमें जीव हत्या की मनाही की गई थी। यहाँ तक कि किसान भी सम्राट के इस आदेश से असंतुष्ट थे कि अनाज के भूसे को जलाया न जाय क्योंकि इससे भूसे में पाये जाने वाले जीवों की हत्या होती है। इस प्रकार आधी जन संख्या अशोक से संतुष्ट नहीं थी।

युवान-च्वांग ने लिखा है कि बौद्ध जन श्रुति के अनुसार अशोक के अन्तिम समय में उसके पोते ने दरबारियों की सहायता से अशोक के हाथ से सारे अधिकार छीन लिए और सिंहासन पर कब्जा कर लिया। बूढ़े राजा के हाथ में अब कुछ भी नहीं रह गया था और बौद्ध धर्म संघों को दिया जाने वाला अनुदान बन्द कर दिया गया था। स्वयं अशोक को मिलने वाला खर्च कम कर दिया गया यहाँ तक कि उसका भोजन भी धीरे-धीरे कम कर दिया गया और एक दिन तो उसके हिस्से में सिर्फ एक आधा आँवला आया। दुखी राजा कुछ देर तक आँवले को देखता रहा और फिर उसने अपने वृद्ध मित्रों को यह कहते हुए दान कर दिया कि आज यही मेरे पास देने के लिए है। परन्तु वास्तविकता यह है कि अशोक के अन्तिम दिनों और यहाँ तक कि उसके मृत्यु के बारे में भी हमें निर्विवादरूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसकी मृत्यु के बाद एक पीढ़ी के समय में ही इखनातोन के साम्राज्य की भाँति उसका साम्राज्य भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया। साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य थे, वे एक एक करके विद्रोह करते गए और साम्राज्य से बाहर निकलते गए। मगध पर अशोक के वंशजों का राज्य ईसा के बाद सातवीं शताब्दी तक रहा। चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित किया गया मौर्य राज वंश राजा बृहद्रथ की हत्या के बाद समाप्त हो गया। वास्तव में किसी राज्य का निर्माण उसके निवासियों की प्रकृति और चरित्र के आधार पर होता है न कि आदर्शों के आधार पर।

राजनीतिक दृष्टि से अशोक सफल नहीं रहा, लेकिन दूसरी दृष्टि से उसने इति-

हास में एक महानतम कार्य पूरा किया। उसकी मृत्यु के दो सौ साल के भीतर ही बौद्ध धर्म समस्त भारत में फैल गया और एशिया के विभिन्न भागों में भी उसका प्रसार होने लगा था। आज भी यदि श्री लंका में कैन्डी से लेकर जापान में कामाकुरा तक गौतम बुद्ध की दिव्य प्रतिमाएँ मनुष्य को शान्ति और सहिष्णुता का सन्देश दे रही हैं तो इसका श्रेय इस बात को भी है कि कभी एक स्वप्नदर्शी भिक्षु ने भारत में राज किया था।

३. भारत का स्वर्णयुग

आक्रमणों का युग; कुषाण राजा; गुप्त साम्राज्य; फाहियान की यात्रा; साहित्य का पुनरुत्थान; भारत में हूणों का आगमन; महादानी हर्ष; युवान-च्याँग की यात्रा।

अशोक की मृत्यु के बाद से लेकर गुप्त साम्राज्य की स्थापना के मध्य काल तक अर्थात् लगभग छः सौ वर्षों की अवधि के सम्बन्ध में शिला लेख तथा अन्य लिखित प्रमाण इतनी कम मात्रा में उपलब्ध हैं कि इस समय का इतिहास लगभग अन्धकार में विलीन हो गया है। यह जरूरी नहीं है कि युग अन्धकार का युग रहा हो क्योंकि इस युग में भी तक्षशिला के जैसे विश्वविद्यालय बराबर स्थित रहे और भारत के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में फारसी वास्तु कला और यूनानी शिल्प के सम्मिश्रण से एक सभ्यता का निर्माण हो रहा था। ईसा से एक और दो शताब्दी पूर्व सीरियाई, यूनानी और सीथियाई आक्रमण-कारी पंजाब में घुस आये और उसको पराजित करके उन्होंने वहाँ लगभग ३०० वर्षों तक राज किया और एक यूनानी-बाक्तीरियाई संस्कृति की स्थापना की। ईसवी सन् की पहली शताब्दी में कुषाणों ने, जोकि मध्य एशिया में रहने वाली और तुर्कों से मिलती जुलती एक जाति के लोग थे, काबुल पर कब्जा कर लिया और उसको अपनी राज-धानी बना कर समस्त उत्तर पश्चिमी भारत और मध्य एशिया के अधिकांश क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया। उनके महानतम् सम्राट कनिष्क के शासन काल में विभिन्न कलाओं और ज्ञान विज्ञान की प्रगति हुई। यूनानी-बौद्ध शिल्प ने कई सुन्दर कला कृतियों का निर्माण किया। पेशावर, तक्षशिला और मथुरा में कई सुन्दर भवनों का निर्माण हुआ। चरक ने औषधि-विज्ञान का विकास किया। नागार्जुन और अश्वघोष ने बौद्ध धर्म की उस महायान शाखा की आधार शिला रखी जिसकी सहायता से चीन और जापान में बौद्ध धर्म सफलता प्राप्त कर सका। कनिष्क ने अपने राज्य में अनेक धर्मों को पनपने दिया वह एक के बाद एक कई देवताओं की पूजा भी करता रहा। लेकिन अन्त में उसने नये पौराणिक बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया जिसने कि बुद्ध को एक देवता का रूप प्रदान कर दिया था और अनेक बोधिसत्वों और अर्हतों की कल्पना कर ली थी। उसने बौद्ध धर्म को एक निश्चित रूप प्रदान करने के उद्देश्य से बौद्ध धर्म शास्त्रियों का एक सम्मेलन भी बुलाया था। बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में अशोक के बाद कनिष्क का ही स्थान है। इस बौद्ध धर्म सम्मेलन ने तीन लाख सूत्रों की रचना की, जिनमें बुद्ध के दर्शन का आम जनता की दृष्टि से साधारणीकरण किया गया है और बुद्ध को देवत्व प्रदान किया गया है।

इस बीच चन्द्रगुप्त प्रथम ने मगध में गुप्त राजवंश की स्थापना की। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने पचास वर्षों के अपने शासनकाल में इतनी सफलता प्राप्त की कि भारत के इतिहास में उसको एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह पाटलिपुत्र से अपनी राजधानी अयोध्या में ले आया। उसकी सेना ने बंगाल, आसाम और नेपाल, दक्षिणी भारत पर

विजय प्राप्त की। इन क्षेत्रों से उसे कर और नजराने के रूप में वहुत अधिक धन प्राप्त होता था, जिसका उपयोग उसने साहित्य, विज्ञान धर्म और विभिन्न कलाओं की उन्नति के हेतु किया। वह स्वयं भी एक अच्छा कवि और संगीतज्ञ भी था। उसके पुत्र विक्रमादित्य ने भी साम्राज्य का विस्तार किया और साहित्य तथा कला को प्रोत्साहन प्रदान किया। महान् नाटककार और कवि कालिदास का वह संरक्षक था। उसके अपने दरवार में और उसकी राजधानी उज्जयनी में चुने हुए कवियों, दार्शनिकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, और विद्वानों की भरमार थी। इन दो राजाओं के शासन काल में भारत ने चौमुखी विकास का वह स्तर प्राप्त किया जो कि वुद्ध के वाद अव तक प्राप्त नहीं हो सका। राजनीतिक संगठन और एकता की दृष्टि से भी इनकी शासन व्यवस्था अशोक और अकवर की शासन व्यवस्था के जोड़ की ही थी।

ईसा के पश्चात् पाँचवीं शताव्दी के आरम्भ में भारत की यात्रा करने वाले एक चीनी यात्री फाहियान के यात्रा विवरणों के आधार पर हमें गुप्त सभ्यता की एक रूप रेखा प्राप्त होती है। फाहियान भी उन वुद्ध यात्रियों में से एक था जो इस स्वर्ण-युग में चीन से भारत आये थे। इन यात्रियों की तुलना में पूर्व और पश्चिम यहाँ तक कि सुदूर रोम से आने वाले व्यापारियों और राजदूतों की संख्या अधिक थी। इनके कारण भारत विदेशी रीति-रिवाजों और विचारों से परिचित और प्रभावित हुआ। फाहियान ने यात्रा के दौरान में पश्चिमी चीन की अराजकता में अपने प्राणों को संकट में डालने के वाद भारत में अपने आपको वहुत सुरक्षित पाया। भारत में जहाँ उसकी इच्छा हुई, वहाँ वह गया लेकिन यहाँ कभी उसे चोर, लुटेरों और ठगों का सामना नहीं करना पड़ा। उसने लिखा है कि किस प्रकार भारत पहुँचने में उसे छः वर्ष का समय लगा, छः वर्ष तक वह यहीं रहा और फिर सिंहल और जावा के रास्ते वापस चीन लौटने में उसे तीन वर्ष का समय लगा। उसने वड़े प्रशंसापूर्ण शब्दों में भारत की सुख-समृद्धि और यहाँ की जनता के आराम तथा सामाजिक और धार्मिक मामलों में मिली स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है। वह भारत के महानगरों में वसने वाली विशाल जन संख्या को देखकर दंग रह गया था। निःशुल्क चिकित्सालय और ऐसी ही अन्य संस्थाएं पूरे देश में फैली हुई थीं। यह चीनी यात्री यहाँ के विश्वविद्यालयों और मठों की संख्या देखकर भी आश्चर्यचकित रह गया था।

फाहियान ने अपनी यात्रा वर्णन में लिखा है—"यहाँ की जन संख्या वहुत वड़ी है और लोग सुखी हैं। जनता पर किसी प्रकार की पावन्दी नहीं है, लोग विल्कुल स्वतन्त्र हैं। केवल जो लोग सरकारी भूमि पर खेती करते हैं उन्हें अपनी उपज का एक अंश राज्य को देना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति जहाँ चाहता है विना किसी रोक-टोक के आ जा सकता है। लोगों को मारने पीटने या मृत्यु दंड की सजा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती और राजा का शासन वड़े सुचारुरूप से चलता रहता है। अपराधियों को केवल अर्थ दंड दिया जाता है. . . .यहाँ तक कि वार-वार विद्रोह का षडयंत्र करने वालों को उनका दाहिना हाथ काटकर उन्हें छोड़ दिया जाता है। सारे देश के लोग न तो किसी जीवित प्राणी की हत्या करते हैं और यहाँ तक कि प्याज और लहसुन से भी दूर रहते हैं। इनमें केवल चान्डालों को अपवाद स्वरूप माना गया है।. . . . . इस देश के लोग सुअर और मुर्गी नहीं पालते तथा अपने जानवरों को जीवित वेच नहीं सकते हैं। वाजार में न तो कसाइयों की दूकानें हैं और न ही मदिरालय हैं।"

फाहियान इस तथ्य पर ध्यान देना भूल गया कि व्राह्मण, जो कि अशोक के वाद से ही मौर्य राजवंश से असंतुष्ट थे और अव गुप्त राजाओं के संरक्षण में धन और

शक्ति प्राप्त करने लगे थे। उन्होंने बुद्ध पूर्व के दिनों की धार्मिक और साहित्यिक परम्पराओं का पुनः विकास किया और संस्कृत को वे ऐसी आसान भाषा बनाने लगे, जोकि भारत भर के विद्यालयों में समझी जा सकती थी, उनके ही प्रभाव तथा राज दरबार से प्राप्त होने वाले प्रोत्साहन के फलस्वरूप महाभारत और रामायण को वह रूप प्रदान किया जा सका जिस रूप में कि ये दोनों महाकाव्य आज हमें उपलब्ध हैं। गुप्त राजवंश के शासनकाल में बौद्ध कला ने अजन्ता की गुफाओं की भित्ति चित्रों के रूप में चरम सफलता प्राप्त की। एक भारतीय विद्वान के मतानुसार कालिदास और वराहमिहिर, गुणवर्मन और वसुबन्धु, आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त जैसे व्यक्तियों के नाम ही इस बात के प्रमाण हैं कि यह युग भारतीय संस्कृति का महानतम् युग था। हावेल ने लिखा है—"यदि ब्रिटिश प्रशासन भारत को पुनः उस स्थिति में ला दे जिस स्थिति में वह पाँचवी शताब्दी में था, तो इसे एक निष्पक्ष इतिहासकार की दृष्टि में ब्रिटेन की सबसे बड़ी सफलता माना जायगा।

भारतीय सभ्यता का यह स्वर्णयुग उन हूणों के आक्रमण से अधिक प्रगति नहीं कर सका जिन्होंने अब तक एशिया और यूरोप में अपने आक्रमण आरम्भ कर दिये थे और जिनके आक्रमणों के फलस्वरूप भारत और उधर योरप में रोम कुछ समय के लिए बिल्कुल बरबाद हो गए। इस जाति का एक योद्धा अत्तीला यूरोप पर आक्रमण कर रहा था और इधर मिहिरकुल नामक एक दूसरा क्रूर योद्धा गुप्त साम्राज्य को नष्ट करने में लगा हुआ था। लगभग एक शताब्दी तक भारत पुनः पराधीनता और अराजकता की स्थिति का शिकार हो गया। इसके बाद गुप्त वंश के ही एक छोटे से राजा हर्ष वर्धन ने उत्तरी भारत पर पुनः विजय प्राप्त की और कनौज में अपनी राजधानी स्थापित की। उसके बयालिस वर्ष के शासन काल में सर्वत्र शान्ति और सुरक्षा का वातावरण रहा और एक बार फिर से कला और साहित्य को विकास का अवसर मिला। हम कनौज की विशालता और उसकी सम्पन्नता का अन्दाज इस अविश्वसनीय कथन से लगा सकते हैं कि जब सन् १०१८ में मुसलमानों ने उस नगर को लूटा था तो उन्होंने दस हजार मन्दिरों को नष्ट किया था। इस नगर में सार्वजनिक उद्यान थे और जल विहार के लिए सरोवरों की व्यवस्था थी। हर्ष स्वयं उन राजाओं में से था जिनका शासन इस बात का प्रमाण पेश करता है कि राजतंत्र में जनता को पर्याप्त सुख प्राप्त होता है। उसका व्यक्तित्व सुन्दर और प्रभावशाली था, उसने ऐसी कविताओं और नाटकों की रचना की है जिन्हें आज भी भारत में पढ़ा जाता है। लेकिन वह केवल कवि ही नहीं बल्कि एक कुशल प्रशासक भी था। युवान-च्वांग ने उसके बारे में लिखा है—"वह बहुत अधिक परिश्रमी था और अपनी प्रजा की सेवा के लिए कठिन परिश्रम करता रहता था। यहाँ तक कि कभी कभी वह काम के कारण सोना तक भूल जाता था। आरम्भ में वह शैव था लेकिन बाद में उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और अशोक की ही भाँति उसने भी बौद्ध धर्म के हित के लिए काफी काम किया। उसने अपने राज्य भर में मांस भक्षण की मनाही कर दी। गंगा के किनारे हजारों बौद्ध आश्रमों और मठों की स्थापना की और राज्य भर में यात्रियों के लिए विश्रामालयों की स्थापना की।

युवान-च्वांग ने आगे लिखा है कि हर्ष प्रति पाँच वर्ष पर बड़े पैमाने पर एक दान-समारोह का आयोजन करता था, जिसमें वह सभी धर्मों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित करता था और उनको तथा निर्धन याचकों को दान दिया करता था। उसने यह नियम बना लिया था कि एक से दूसरे दान-समारोह के बीच की अवधि में सरकारी खजाने

में जो कुछ अतिरिक्त आय जमा हो जाती थी, उसको इन समारोहों के अवसर पर दान कर दिया जाय। ऐसे ही एक समारोह के समय युवान-च्वांग यह देखकर चकित रह गया था कि एक वड़े भारी खुले हुए मैदान में सोना, चांदी, मुद्रा, हीरे, जवाहरात और मूल्यवान वस्त्रों के ढेर लगे हुए थे तथा पास ही सौ वड़े वड़े मण्डप बने थे जिनमें से प्रत्येक में लगभग एक हजार व्यक्ति वैठे थे। तीन दिन तक धार्मिक वाद-विवाद और प्रवचन आदि हुए और चौथे दिन दान-समारोह आरम्भ हुआ। दस हजार बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराया गया और उनमें से प्रत्येक को एक मोती, वस्त्र, पुष्प, सुगन्धित द्रव्य और एक सौ स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान की गयीं। इसके वाद ब्राह्मणों को इसी प्रकार दान दिया गया। इसके वाद जैनियों को तथा अन्य धर्मों के साधु-सन्तों को दान दिया गया। कभी कभी तो इस दान कार्य में तीन या चार महीने का समय लग जाता था। सब वस्तुओं का दान हो जाने के वाद हर्ष अपने वहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर उन्हें भी दान में दे देता था।

युवान-च्वांग के यात्रा वर्णन में कुछ धार्मिक अतिशयोक्ति से काम लिया है, वह स्वयं धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपना सुखी जीवन त्याग कर और मार्ग के अर्धसभ्य क्षेत्रों में यात्रा करने का संकट मोल लेकर और हिमालय पार करके भारत आया और तीन वर्ष तक उसने नालन्दा के धार्मिक विश्वविद्यालय में विद्याध्ययन किया था। एक विद्वान के रूप में उसकी प्रसिद्धि चारों तरफ फैलने लगी थी और कई राजाओं ने उसको अपने दरवार में आने के लिए आमंत्रित किया था। हर्ष ने जव यह सुना कि युवान आसाम के राजा कुमार के दरवार में है तो उसने कुमार को युवान के साथ कनौज आने के लिए कहा कुमार ने यह कहते हुए उसके आदेश को अस्वीकार कर दिया कि मैं अपने प्राण दे दूँगा लेकिन अपने अतिथि को नहीं दूँगा। हर्ष ने उसको फिर से वुलाया। जव कुमार युवान को लेकर आया तो हर्ष युवान के पांडित्य और शिष्ट व्यवहार से वहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसने प्रमुख वौद्ध भिक्षुओं को युवान का भाषण सुनने के लिए और महायान मत पर उसके विचार जानने के लिए आमंत्रित किया। युवान ने तत्कालीन प्रथा के अनुसार मण्डप के द्वार पर अपने मत के प्रमुख सिद्धांतों को लिखकर टाँग दिया और उसके नीचे यह भी लिख दिया कि अगर कोई इसमें एक भी वात को गलत सिद्ध कर देगा तो मैं उसके हाथों अपना सिर कटवाने के लिए राजी हूँ। युवान ने ही लिखा है कि यह शास्त्रार्थ लगभग अठारह दिन तक जारी रहा और उसने भिक्षुओं के सारे प्रश्नों और शंकाओं का ठीक ठीक उत्तर दिया। एक अन्य सूचना के अनुसार उसके विरोधियों ने मण्डप में आग लगाकर उस सम्मेलन को भंग करा दिया था। इस प्रकार के कई शास्त्रार्थों में भाग लेने और कई स्थानों की यात्रा करने के वाद युवान वापस चीन के चांग-आन नामक अपने नगर को लौट गया। वह भारत से बुद्ध के जिन पवित्र आदेशों को ले गया था, उन्हें वहाँ के सम्राट ने एक वड़े मंदिर में स्थापित करा दिया और युवान भारत से जिन महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों को लाया था, उनका अनुवाद करने के लिए कई विद्वानों की सहायता उसे प्रदान की।

बुद्ध की मृत्यु के वाद उसके साम्राज्य का सारा गौरव समाप्त हो गया और एक महत्वाकांक्षी ने राज सिंहासन पर अधिकार करके लोगों को राजतंत्र के दूसरे रूप से भी परिचित करा दिया। उसने सिद्ध कर दिया कि राजतंत्र में जनता केवल सुखी ही नहीं रहती है वल्कि उसे भयानक कष्ट भी झेलना पड़ता है। लगभग एक हजार वर्ष तक भारत में अराजकता का वातावरण रहा और यूरोप की भाँति

भारत का मध्य युग भी लुटेरे और वर्बर आक्रमणकारियों के अत्याचार के युग में वदल गया। इसके वाद तो अकवर के शासन काल में ही भारत को शांति और एकता प्राप्त हो सकी।

४. राजपूतों की गौरव-गाथा

वीरता का युग; चित्तौड़ का पतन।

भारतीय इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण युग में राजपूताने की गौरव-गाथा एक मशाल की तरह प्रकाश फैला रही है, राजपूताना के मेवाड़, मारवाड़, आम्वेर, वीकानेर आदि राज्यों के निवासियों ने जो कि आधे तो यहीं के मूल निवासी थे और आधे सीथियाई और हूण आक्रमणकारियों के वंशज थे, लड़ाकू राजाओं के शासन में एक सामन्ती सभ्यता का निर्माण किया था। राजपूतों की गाथा का आरम्भ उस समय से होता है जव कि उन्होंने मौर्य और गुप्त सम्राटों का आधिपत्य स्वीकार किया और इनकी गाथा का अन्त होता है इनके द्वारा अपनी और समस्त भारत की स्वतंत्रता की मुसलमान आक्रमणकारियों से रक्षा करने के अन्तिम प्रयास से। राजपूतों के महान् इतिहासकार टोड का कथन है कि इस अत्यन्त साहसी और सैनिक जाति का प्रत्येक पुरुष योद्धा होता था और प्रत्येक स्त्री वीर गना होती थी। राजपूत शब्द का ही अर्थ होता है "राजा का पुत्र," और वे अपने प्रदेश को राजस्थान के नाम से पुकारते थे जिसका अर्थ होता है "राजाओं का देश या निवास स्थान।"

वीर युग का सारा गौरव और उसके साथ ही हर तरह की अःखड़ता और वुद्धिहीनता हमें इन छोटे छोटे राज्यों के इतिहास में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है—वीरता, स्वामिभक्ति, सुन्दरता, संघर्ष, हत्या, युद्ध, षड्यंत्र और स्त्रियों की दासता आदि सव कुछ यहाँ देखने को मिलता है। राजपूतों की स्त्रियाँ बड़ी सुन्दर होती थीं जिनके लिए वे अपनी जान तक देने को तैयार रहते थे और उनकी स्त्रियाँ भी पति की मृत्यु पर उसके साथ सती होना अपना कर्तव्य समझती थीं, इनमें से कुछ स्त्रियाँ सुशिक्षित और सुरुचि सम्पन्न भी थीं। राजपूत राजाओं में कुछ कवि और वैज्ञानिक भी थे तथा उनमें से कुछ चित्रकला के भी शौकीन थे और मध्य युगीन फारसी शैली के चित्र भी वनाया करते थे। लगभग चार शताव्दियों के अपने शासन काल में उन्होंने काफी वड़ी मात्रा में धन सम्पत्ति एकत्र की थी। उनकी सम्पन्नता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मेवाड़ के राजा के राज्यारोहण के अवसर पर लगभग दस करोड़ रुपया खर्च हुआ था।

राजपूतों की यह सवसे वड़ी विशेषता थी और सवसे वड़ी कमजोरी थी कि वे युद्ध को वहुत महत्व देते थे और युद्ध कला को सव कलाओं से श्रेष्ठ मानते थे। इस सैनिक मनोवृत्ति के कारण ही वे ऐतिहासिक साहस के साथ मुसलमान आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा कर सके, लेकिन इसी सैनिक और युद्ध-प्रिय मनोवृत्ति के कारण उनके छोटे छोटे राज्य आपस में कभी एक दूसरे से मिल कर नहीं रह सके। आपस के संघर्षों के कारण धीरे धीरे उनकी शक्ति विल्कुल क्षीण हो गई। इस दृष्टि से चित्तौड़ के पतन का टोड द्वारा किया गया वर्णन उल्लेखनीय है। राजस्थान की इस समय की गौरव गाथा में वताया गया है कि मुसलमान आक्रमणकारी अलाउद्दीन चित्तौड़ के वजाय रानी पद्मिनी को प्राप्त करना चाहता था, जोकि अनिन्द्य सुन्दरी थी। उसने चित्तौड़ के शासक के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अगर वह पद्मिनी उसको सौंप दे तो वह चित्तौड़ पर

से घेरा हटाने को तैयार है परन्तु जव उसने अस्वीकार कर दिया तो अलाउद्दीन ने दूसरा प्रस्ताव रखा कि अगर मुझे पद्मिनी को एक नजर देखने भर दिया जायगा तो मैं घेरा उठाकर चला जाऊँगा। लेकिन उसकी इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया। अन्त में उसने पद्मिनी की शक्ल आइने में देखने की माँग की लेकिन उसकी यह माँग भी स्वीकार नहीं की गई और चित्तौड़ की स्त्रियाँ तक हाथ में हथियार ले कर अपने नगर की रक्षा के लिए तैयार हो गयीं। जव वीर राजपूतों ने देखा कि उनकी वहू वेटियाँ तक युद्ध में उनका साथ दे रही हैं तो वे प्राणों का मोह त्याग कर लड़े और चित्तौड़ की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति ने लड़ते लड़ते वीरगति प्राप्त की। जव अलाउद्दीन ने राजधानी में प्रवेश किया तो उसे नगर द्वार पर एक भी आदमी जीवित नहीं मिला। नगर के सभी पुरुष युद्ध में मारे गए और उनकी स्त्रियों ने जौहर कर लिया था।

५. दक्षिण के प्रमुख राज्य

दक्षिण के कुछ राज्य; विजय नगर; राजा कृष्णराय; एक मध्ययुगीन राजधानी; नियम; कानून; कला; धर्म; नाटक का दुखान्त।

जैसे जैसे मुसलमान भारत में आगे वढ़ते गए भारत की मूल संस्कृति अधिक से अधिक दक्षिण की ओर खिसकती गयी और मध्य युग के अन्त में हिन्दू सभ्यता का चर्मोत्कर्ष दक्षिण में ही दिखाई दिया। कुछ समय तक चालुक्यों का राज्य विल्कुल स्वतन्त्र रहा और उसकी सीमा मध्य भारत तक पहुँची। पुलकेशिन द्वितीय के शासन में इस राज्य ने इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि इसने युद्ध में हर्ष को हरा दिया। इसकी उन्नति से प्रभावित होकर युवान-च्वांग यहाँ भी पहुँचा; भारत के वाहर भी इस राज्य को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था और फारस के सम्राट खोसरू द्वितीय ने यहाँ अपना एक राजदूत नियुक्त कर रखा था। पुलकेशिन के शासन काल में ही भारतीय चित्रकला के महानतम प्रतिनिधि अजन्ता के भित्ति चित्रों का निर्माण सम्पन्न हुआ। पुलकेशिन को पल्लवों के राजा ने हरा दिया और कुछ समय तक मध्य भारत में उन्हीं का आधिपत्य रहा। ईसवी सन् की पहली शताव्दी के आरम्भ में मदुरा, तिनेवेली और त्रावणकोर के कुछ हिस्सों को मिला कर पान्ड्य राजाओं ने एक राज्य की स्थापना की और मदुरा को अपनी राजधानी वनाया। यहाँ उन्होंने एक विशालकाय मन्दिर तथा अनेक सुन्दर भवनों का निर्माण कराया। वाद में इस क्षेत्र पर चोल राजाओं और मुसलमानों का आधिपत्य हुआ। चोलों का राज्य मदुरा से मद्रास तक और पश्चिम में मैसूर तक था। यह जाति वड़ी पुरानी थी और इसका उल्लेख अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है लेकिन नवीं शताव्दी तक हमें उनके वारे में कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाता क्योंकि इसी समय के आस पास उन्होंने समीपवर्ती क्षेत्रों पर आक्रमण करना आरम्भ किया और दक्षिण भारत के लगभग सभी राज्यों तथा सिंहल से भी उन्हें नज़राने मिलने लगे। धीरे-धीरे उनकी शक्ति भी क्षीण होती गई और वे दक्षिण भारत के सवसे शक्तिशाली राज्य विजय नगर के अन्तर्गत आ गए।[1]

---

[1] इस क्षेत्र में इस दौरान में कई छोटे छोटे राज्यों की स्थापना हुई जिनमें से वहुत से विस्मृत हो चुके हैं। इन राज्यों में साहित्य और कला की विशषकर वास्तु शिल्प की उन्नति होती रही। कई सम्पन्न राजधानियों का निर्माण हुआ जिनमें सुन्दर

विजय नगर का राज्य भारतीय इतिहास के गौरवशाली राज्यों में से एक रहा है। एक समय दक्षिण के लगभग सभी राज्य इसके अन्तर्गत माने जाते थे। इस राज्य की शक्ति और इसके साधनों का अनुमान हम इसी उदाहरण से लगा सकते हैं कि तालीकोटा के युद्ध में राजा कृष्णराय की सेना में ७०,००० पैदल, ३२,६०० घुड़सवार, ५५१ हाथी, कई हजार व्यापारी और वेश्याएँ तथा नौकर-चाकर आदि थे। राजा पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था और उसकी इच्छा के अनुसार ही राजकाज का संचालन होता था लेकिन गाँवों को कुछ हद तक स्वशासन के अधिकार प्राप्त थे। राजा कृष्णराय बड़ा लोकप्रिय शासक था। उसका प्रयत्न रहता था कि हर आदमी को न्याय प्राप्त हो सके। सभी हिन्दू धर्मों के प्रति उसका दृष्टिकोण उदार था। वह खूब दान-दक्षिणा दिया करता था और अपने पराजित शत्रुओं को क्षमा कर देता था तथा उनके नगरों की लूट पाट नहीं करता था। वह साहित्य और कला का भी प्रेमी था और इनको प्रोत्साहन प्रदान करता था। एक पुर्तगाली धर्म प्रचारक दोमिंगोज़ पायेस (सन् १५२२) ने राजा कृष्णराय के बारे में लिखा है—

"यह राजा हर दृष्टि से एक पूर्ण शासक है। इसका स्वभाव बहुत अच्छा है और यह विनोदी प्रकृति का है। यह विदेशियों का सम्मान करता है और उन्हें आदर से अपने यहाँ रखता है। यह बड़ा न्याय प्रिय है लेकिन कभी-कभी इसे बड़ा क्रोध हो आता है। इस क्षेत्र का यह सबसे बड़ा राजा है और सर्वगुण सम्पन्न है।"[१]

इस राजधानी की स्थापना सन् १३३६ में हुई थी और यह भारत का एक सबसे अधिक सम्पन्न नगर था। सन् १४२० में निकोलो कोंती ने इस नगर की यात्रा की थी और लिखा था कि इसका घेरा ६० मील लम्बा है। पायेस ने भी इसकी तुलना विस्तार की दृष्टि से रोम से की थी। उसने लिखा है कि नगर में घने पेड़ों के कई कुन्ज थे और कई सरोवर बने हुए थे। इस सरोवर में तुंग भद्रा नदी से पानी आता था, जिस पर एक बड़े भारी बांध का निर्माण किया गया था। इस बाँध से एक बड़ी भारी झील बन गई थी जिसका पानी शहर तक पहुँचाने के लिए पन्द्रह मील लम्बी एक नहर बनाई गई थी तथा कई मील तक इस नहर की चट्टानों को तोड़ कर निकालना पड़ा था। अब्दुर रज्जाक ने, जिसने कि १४४३ में इस नगर की यात्रा की थी, लिखा है कि ऐसा शहर न मैंने कभी देखा था और न कभी सुना था, दुनिया भर में इसका सानी मिलना मुश्किल है। पायेस ने भी इसको संसार का सबसे सम्पन्न राज्य माना है। उसने लिखा है कि नगर में एक लाख से अधिक मकान थे और यहां की जन संख्या लगभग पाँच लाख थी। उसने एक महल का वर्णन किया है जिसका एक कमरा पूरा का पूरा हाथी दाँत का बना था। जब दिल्ली के सुल्तान फिरोजशाह का विजय नगर

भवनों का निर्माण हुआ था। परन्तु भारत इतना बड़ा है और इसका इतिहास भी इतना लम्बा है कि यहाँ हम इस प्रकार के छोटे-छोटे राज्यों से परिचय नहीं प्राप्त कर पायेंगे। ये राज्य छोटे अवश्य थे लेकिन अपने आप में पूर्ण थे और इनके शासक कभी-कभी अपने को पृथ्वी का सबसे बड़ा राजा मान बैठते थे। उदाहरणार्थ विक्रमादित्य ने लगभग आधी शताब्दी तक (१०७६-११२६) चालुक्यों पर राज्य किया था। उसने अपने नाम से एक सम्वत् भी चला दिया और इतिहास को अपने पहले और बाद के दो भागों में विभाजित कर दिया परन्तु इतिहास में उसका स्थान विशेषरूप से उल्लेखनीय नहीं है।

[१] इसकी रानियों की संख्या बारह हजार बतायी जाती है।

के राजा की पुत्री से विवाह हुआ, उस समय राजमार्ग को छः मील तक वहुमूल्य वस्तुओं से सजाया गया था और मार्ग पर मखमल और रेशम के जरीदार कपड़े विछाये गए थे। काफी दूर तक तो सिर्फ कालीन ही विछे थे। हो सकता है कि इस वर्णन में कुछ अतिशयोक्ति हो क्योंकि यात्रियों के वर्णन पूर्णरूप से विश्वसनीय कभी नहीं होते।

इस तड़क भड़क और सम्पन्नता के पीछे दासों और श्रमिकों की एक वहुत वड़ी संख्या थी जोकि गरीबी और तवाही के दिन काटते थे। अपराध के दंड के रूप में अपराधी के हाथ पाँव तोड़ दिए जाते थे, उसे हाथी से कुचलाया जाता था। इसके अलावा फांसी, सूली और सिर काटने की सजायें भी दी जाती थीं। वलात्कार तथा वड़े पैमाने पर चोरी डकैती के लिए कड़े से कड़े दंड की व्यवस्था थी। वेश्यावृत्ति जायज थी, राज्य की ओर से उसका नियंत्रण होता था और वेश्याओं को अपनी आमदनी का एक हिस्सा राज्य को देना पड़ता था। अव्दुर्रज्जाक ने लिखा है, "टकसाल के सामने ही इस नगर का प्रमुख कार्यालय है जिसके मातहत वारह हजार सिपाही काम करते हैं। वताया जाता है कि इनकी तनख्वाह का रुपया वेश्याओं से वसूला जाता है।" स्त्रियों की स्थिति पराधीनता की थी और पति की मृत्यु पर उनके लिए सती होना आवश्यक माना जाता था।

विजयनगर के राजाओं के शासन काल में संस्कृत और तेलगू साहित्य ने काफी प्रगति की। स्वयं राजा कृष्णराय एक कवि था और कवियों का आश्रयदाता था। उसके राजकवि अलसानी-पेद्दना एक वहुत वड़े संगीतकार भी थे। इस काल में चित्र-कला और वास्तुकला की अच्छी उन्नति हुई, वड़े वड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये पूरे के पूरे मन्दिर मूर्तियों और प्रस्तर चित्रों से सजाये जाते थे। वौद्ध धर्म का प्रभाव घट चुका था और एक ऐसे व्राह्मणवाद का प्रभाव वढ़ रहा था जोकि विष्णु की पूजा करता था। गाय को पवित्र माना जाता था और कभी भी उसकी हत्या नहीं की जाती थी लेकिन अन्य कई पशु पक्षियों को देवताओं के नाम पर वलि चढ़ाया जाता था और उनका मांस खाया जाता था।

लेकिन देखते देखते एक दिन यह शक्तिशाली और धन-धान्य से पूर्ण राज्य भी समाप्त हो गया। दक्षिण में मुसलमानों का प्रभाव वढ़ता जा रहा था। अन्त में वीजापुर, अहमदनगर, गोलकुन्डा और विदूर के सुल्तानों ने मिलकर हिन्दुओं के इस आखिरी राज्य को नष्ट करने का निश्चय किया। उनकी संयुक्त सेनाओं और राम राजा के पाँच लाख सैनिकों में तालीकोटा में घमासान युद्ध हुआ। मुसलमान आक्रामकों की विजय हुई। राम राजा पकड़ा गया और उसके सैनिकों के सामने ही उसका सिर काट लिया गया। सैनिकों में भगदड़ मच गई। मुसलमानों ने उनका पीछा किया और लगभग एक लाख आदमियों को मौत के घाट उतार दिया। फिर मुसलमानों ने राजधानी को लूटना शुरू किया और हर एक मुसलमान सिपाही ने काफी सारा सोना और हीरे जवा-हरात वटोर लिए। लगभग पाँच महीने तक लूटपाट जारी रही। आक्रामकों ने असहाय निवासियों को वेरहमी से मारना शुरू किया। मन्दिरों और महलों को वरवाद कर डाला और वड़ी मेहनत से वनी सभी मूर्तियों और चित्रों को वरवाद कर डाला। अच्छी तरह लूटपाट करने के वाद उन्होंने पूरे नगर में आग लगा दी। जव मुसलमान आक्रामकों ने विजय नगर से कूच किया तो विजय नगर इस तरह वरवाद हो चुका था जैसे किसी वड़े भारी भूकम्प ने पूरे नगर को तहस नहस कर डाला हो। सर्वनाश की यह नीति उन मुसलमान आक्रमणकारियों की मुख्य प्रवृति थी जिन्होंने एक हजार वर्ष पहले भारत पर आक्रमण किया था और अव तक भारत को अपने सिकन्जे में जकड़ लिया था।

६. मुस्लिम आक्रमण और विजय

भारत की शक्ति का ह्रास; महमूद गजनवी; दिल्ली की सल्तनत; सांस्कृतिक पक्ष; क्रूर नीति; भारतीय इतिहास की सीख।

भारत पर मुस्लिम आक्रमण और विजय की कथा इतिहास की संभवतः सबसे अधिक रक्तरंजित कथा है। यह एक बड़ी निराशापूर्ण कहानी है, क्योंकि इससे यही सीख मिलती है कि सभ्यता एक बड़ी नाजुक चीज होती है जिसकी शांति और सुव्यवस्था, संस्कृति और स्वतंत्रता किसी भी समय बाहर से आनेवाले बर्बर आक्रमणकारियों या आन्तरिक बर्बर तत्वों द्वारा समाप्त की जा सकती है। हिन्दुओं ने अन्दरूनी फूट और आपस की लड़ाई-भिड़ाई में अपनी अधिकांश शक्ति गँवा दी थी; उन्होंने बौद्ध और जैन जैसे धर्मों को स्वीकार कर लिया था, जिनके प्रभाव ने जीवन संघर्ष की दृष्टि से जनता को शक्तिहीन कर दिया था; वे भारत की सीमा पर लगातार मँडरानेवाले और अंदर घुसने के लिए राष्ट्रीय शक्ति के ह्रास का मौका देखनेवाले सीथियाई, हूण, अफगान और तुर्क आक्रामकों से अपनी सीमा और अपनी राजधानियों की रक्षा के लिए संगठित नहीं हो सके। लगभग चार सौ वर्षों तक ईस्वी सन् ६०० से १००० तक भारत आक्रमण को आमंत्रित करता रहा और अन्त में उसे आक्रमण का शिकार होना पड़ा।

भारत पर पहला मुस्लिम आक्रमण पश्चिमी पंजाब में मुल्तान पर (सन् ६६४) में हुआ। इसी प्रकार के छिटपुट हमले अगली तीन शताब्दियों तक जारी रहे, जिनका नतीजा यह हुआ कि सिंधु कांठे में मुसलमानों ने अपने पैर जमा लिए। लेकिन भारत पर बड़े पैमाने पर पहला मुस्लिम आक्रमण ईसा से लगभग एक हजार साल बाद हुआ।

सन् ९९७ में महमूद नामक एक तुर्क सरदार पूर्व अफगानिस्तान के एक छोटे से राज्य गज़नी का सुल्तान बना। महमूद ने देखा कि उसका राज्य छोटा और गरीब है और सीमा के उस पार भारत है, जो कि विशाल और सम्पन्न है। उसने हिन्दू मूर्तिपूजकों को नष्ट करने और इस्लाम का प्रसार करने के नाम पर धर्मान्ध मुसलमानों की एक फौज तैयार की और भारत पर चढ़ाई कर दी। हिन्दू इस हमले के लिए तैयार नहीं थे। जब महमूद भीमनगर पहुँचा तो हिन्दुओं ने उसको रोकने की कोशिश की लेकिन मुसलमानों के सामने उनके पैर जम नहीं सके। महमूद ने कत्लेआम शुरू कर दिया और शहरों को लूटने लगा। उसने मंदिरों को तहस-नहस कर डाला और सदियों से एकत्र किये गए धन को लूट लिया। इस प्रकार बहुत-सा धन लूटकर वह वापस गज़नी लौट गया। उसने जब अपने राज्य में नियुक्त विदेशी प्रतिनिधियों को लूट का माल दिखाया तो वे लोग चकित रह गये। "लूट के माल में ढेरों हीरे मोती और जवाहरात थे, बड़े-बड़े नीलम, लाल और पुखराज थे तथा अनार के बराबर हीरे थे।" हर साल जाड़े में वह भारत पर हमला करता था और सोने-चांदी और हीरे-मोती से अपने बोरे भरकर वसन्त ऋतु तक वापस अपने देश को लौट जाता था। मथुरा पर आक्रमण करके उसने वहाँ के मंदिरों में जमा सारा सोना-चांदी और हीरे-जवाहरात लूट लिए और सोने की उन सारी मूर्तियों को छीन लिया जिनमें कीमती हीरे-मोती जड़े हुए थे। वह उस भव्य मंदिर की वास्तु कला को देखकर बड़ा प्रभावित हुआ और उसने अंदाज लगाया कि ऐसा दूसरा मंदिर बनाने में कम से कम दस करोड़ दीनार का खर्चा बैठेगा और लगभग दो सौ साल का समय लगेगा, इसलिए उसने हुक्म

दिया कि मंदिर को जला डाला जाय। इस तरह वह सुन्दर मंदिर जलाकर राख कर दिया गया। छठे साल उसने सुराष्ट्र के एक सम्पन्न नगर सोमनाथ पर आक्रमण किया और वहाँ के पचास हजार निवासियों में से एक को भी जिन्दा नहीं छोड़ा। सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर को नष्ट करके और सारा धन लूटकर वह वापस गजनी चला गया। अन्त में उसके पास इतना धन हो गया जितना कि इतिहास में शायद किसी भी राजा के पास नहीं रहा होगा। कभी कभी वह पराजित नगरों के निवासियों को मारने के बजाय उन्हें बंदी बना लेता था और अपने देश में उन्हें बेच देता था, लेकिन कुछ ही दिनों में गजनी में गुलामों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि कुछ आने में गुलाम बिकने लगे। कहा जाता है कि महमूद नमाज पढ़ता था और खुदा से रहम की दुआ करता था। उसने लगभग तैंतीस वर्ष तक राज्य किया और फिर उसकी मृत्यु हो गई। मुसलमान इतिहासकारों ने महमूद को अपने समय का सबसे बड़ा बादशाह बताया है और संसार के इतिहास का एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व सिद्ध किया है।

इस शाही लुटेरे की नकल पर कई अन्य मुसलमान शासकों ने भारत पर हमले किये। लेकिन महमूद गज़नवी की तरह उनमें से किसी को सफलता नहीं मिल सकी। सन् ११८६ में अफगानिस्तान की एक तुर्क जाति के सरदार गौरी ने भारत पर आक्रमण किया और राजधानी दिल्ली को अपने कब्जे में कर लिया। उसने वहाँ के मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और सारी सम्पत्ति को जब्त कर लिया। उसने दिल्ली में अपनी सल्तनत का झंडा गाड़ दिया। इस प्रकार तीन शताब्दियों तक उत्तर भारत में एक स्वेच्छाचारी विदेशी शासन का बोलबाला रहा। इन रक्तपिपासु सुल्तानों में प्रथम था कुतुबुद्दीन ऐबक, जो धर्मांधता, कट्टरता और क्रूरता की दृष्टि से इन सुल्तानों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। स्वयं मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि उसने कई लाख आदमियों का वध कराया था। एक युद्ध में उसने पचास हजार हिन्दुओं को बंदी बनाया था और इतने आदमियों को मौत के घाट उतारा था कि सारा मैदान खून से लाल हो गया था। एक दूसरा सुल्तान बलबन विद्रोहियों और दूसरे अपराधियों को हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा देता था या उनकी खाल खिंचवाकर और उसमें भूसा भरवाकर दिल्ली के दरवाजों पर उनके पुतले लटका देता था। चित्तौड़ के विजेता सुल्तान अलाउद्दीन ने दिल्ली में बसे हुए कुछ मंगोलों द्वारा विद्रोह किये जाने पर उनके सारे पुरुषों को, जिनकी संख्या पन्द्रह से तीस हजार तक बतायी जाती है, एक ही दिन में कत्ल करवा दिया था। सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक ने अपने पिता की हत्या करके गद्दी पर अधिकार किया था। वह बड़ा विद्वान था और एक कुशल लेखक भी था तथा गणित, भौतिक-शास्त्र और यूनानी दर्शन में भी कुछ दखल रखता था। लेकिन क्रूरता और हत्याकांड में भी वह अपने पूर्वजों से आगे बढ़ा हुआ था। उसने एक बार अपने एक विद्रोही भतीजे को मरवाकर उसका मांस उसकी बीबी और बच्चे को खिलाया था। मुद्रास्फीति के कारण उसने देश की अर्थव्यवस्था को चौपट कर डाला। उसने लूटमार और हत्याकांड के कारण लोगों को इतना आतंकित कर डाला कि वे घर-बार छोड़कर जंगलों में भाग गये। उसने शासनकाल में इतने अधिक हिन्दुओं की हत्या करवायी कि स्वयं मुसलमान इतिहासकारों के शब्दों में "उसके महल और उसके शाही खेमे के आगे हमेशा मुर्दों का ढेर लगा रहता था, तथा जल्लाद और मेहतर लोगों के सिर काटते-काटते और उनकी लाशों को ढोते-ढोते थक जाते थे। दौलताबाद में अपनी राजधानी बसाने के लिए उसने दिल्ली के प्रत्येक निवासी को दिल्ली छोड़कर दौलताबाद जाने के लिए मजबूर किया। जब उसने सुना कि एक अंधा आदमी दिल्ली में

ही रह गया तो उसने हुक्म दिया कि उस आदमी को पुरानी राजधानी से नई राजधानी तक घसीटकर लाया जाय। जब उस आदमी को दिल्ली से घसीटकर दौलताबाद लाया गया तो सिर्फ उसकी एक टांग बची रह गई थी। सुल्तान को शिकायत रहती थी कि लोग उससे मुहब्बत नहीं करते और उसकी इंसाफ पसन्दगी की तारीफ नहीं करते। उसने लगभग पचीस साल तक भारत पर राज्य किया। उसके वारिस फिरोज़ शाह ने बंगाल पर आक्रमण किया और १,८०,००० हिन्दुओं के सिर कटवाये तथा प्रत्येक सिर के लिए इनाम दिया। वह गुलामों की खोज में गाँवों में हमले किया करता था। उसकी मृत्यु ८० वर्ष की आयु में हुई। सुल्तान अहमद शाह ऐसे अवसर पर तीन दिन तक दावत दिया करता था, जब उसके इलाके में किसी एक दिन मारे जानेवाले हिन्दुओं की संख्या बीस हजार तक पहुँच जाती थी।

इन सुल्तानों में से कुछ अच्छे कुशल शासक भी थे। इनके अनुयायी भी उद्यमी और साहसी हुआ करते थे, अन्यथा इतनी कम संख्या में होते हुए भी इतनी बड़ी जनसंख्या पर कैसे शासन कर सकते थे। ये सब जिस धर्म को मानते थे, वह व्यावहारिक रूप से सैनिक प्रवृत्ति का होते हुए भी तत्कालीन भारतीय धार्मिक मतों से अधिक जीवन्त था। इनमें से कुछ खूंखार सुल्तान कला और संस्कृति में भी रुचि रखते थे और अपनी आलीशान मस्जिदों के निर्माण के लिए ढूंढ-ढूंढ़कर कारीगरों और कलाकारों को अपने यहाँ रखते थे, जिनमें से अधिकांश हिन्दू होते थे। इनमें से कुछ अच्छे खासे विद्वान भी थे और इतिहासकारों और कवियों तथा वैज्ञानिकों की संगत पसंद करते थे। एशिया का एक बहुत बड़ा विद्वान अल्बेरूनी महमूद गज़नवी के साथ भारत आया था और उसने भारत का एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण तैयार किया था, जो प्लिनी की प्रसिद्ध पुस्तक "नेचुरल हिस्ट्री" और हम्बोल्ट के ग्रंथ "कॉसमॉस" की बराबरी कर सकता है। जनता से धन वसूलने के लिए इन सुल्तानों ने सीधे-सीधे लूटमार और डकैती के अलावा चुंगी और कर की बड़ी कड़ी व्यवस्था जारी कर रखी थी। लेकिन एक बात उल्लेखनीय है कि ये लोग भारत में ही बस गये थे और इन्होंने लूटमार से कुछ धन इकट्ठा किया उसे भारत में ही खर्च भी किया। फिर भी इनके आतंक और इनकी शोषण की नीति के कारण हिन्दुओं की शारीरिक शक्ति और उनका मनोबल दिनोंदिन क्षीण ही होता गया, जो कि यहाँ की जलवायु के विपरीत प्रभाव और अपर्याप्त भोजन तथा निराशावादी धर्मों के प्रभाव से वैसे ही कमजोर होता जा रहा था।

ये सुल्तान जिस नीति का अनुसरण किया करते थे, उसका एक उदाहरण यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने अपने सलाहकारों को हुक्म दिया था कि वे ऐसे नियम और कानून तैयार करें, "जिनकी सहायता से हिन्दुओं को उनके धन और सम्पत्ति से वंचित किया जा सके, ताकि वे बगावत करने का नाम तक न ले सकें।" भूमि की आधी उपज सरकारी खजाने में चली जाती थी, जबकि भारतीय राजा उपज का केवल छठा अंश ही लगान के रूप में वसूला करते थे। एक मुसलमान इतिहासकार ने लिखा है, "कोई भी हिन्दू सिर उठा कर नहीं चल सकता था, उनके घरों में सोना-चांदी या दूसरा सजावटी सामान दिखाई नहीं देता था। ....लगान वसूली के लिए मार-पीट, कैद और जंजीरों में जकड़ दिये जाने की सजा एक आम बात थी।" जब अलाउद्दीन के सलाहकारों में से एक ने इसका विरोध किया तो उसने कहा, "तुम एक पढ़े-लिखे और काबिल आदमी हो, लेकिन तुमको कोई तजुर्बा नहीं है, जबकि मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूं, लेकिन मुझे काफी तजुर्बा है। इतना याद रखो कि जब तक हिन्दुओं को बिलकुल फटेहाल नहीं बना दिया जायगा तब तक वे हमारे हुक्मबरदार और गुलाम नहीं बन सकेंगे।

इसलिए मैंने हुक्म दे दिया है कि उनके पास हर साल इतना ही अनाज और दूध-दही छोड़ा जाय जितना कि जरूरी है और उनको दौलत इकट्ठा न करने दिया जाय।"

आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास का यही रहस्य है। फूट और मतभेद के कारण यह हमलावरों का शिकार बना; हमलावरों द्वारा कमजोर बना दिये जाने के कारण यह प्रतिरोध की शक्ति से हाथ धो बैठा और आध्यात्मिक चिन्तन में संतुष्ट रहने लगा; यहाँ ऐसे धार्मिक मतों का विकास हुआ जिनका कहना था कि स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों ही भ्रामक हैं तथा मनुष्य का जीवन इतना छोटा है कि अपने शरीर या राष्ट्र की स्वतंत्रता की रक्षा में समय खोना बेकार है। इस नाटक के दुखान्त से यही कड़वी सीख मिलती है कि सभ्यता का मूल्य यही है कि उसकी हिफाजत के लिए हमेशा तैयार रहा जाय। किसी भी राष्ट्र को शांतिप्रिय अवश्य होना चाहिए, लेकिन उसे आत्मरक्षा के अपने हथियार भी तैयार रखने चाहिये।

७. अकबर महान

तैमूर लंग; बाबर; हुमायूं; अकबर; उसकी राज्य-व्यवस्था; उसका चरित्र; उसकी कलाप्रियता; उसका दर्शन-प्रेम; हिन्दू और ईसाई धर्मों के प्रति उसका मैत्रीभाव–उसका नवीन धर्म—अकबर के अंतिम दिन।

पतन और ह्रास भी राज्य-व्यवस्थाओं का एक स्वाभाविक गुण होता है, क्योंकि शक्ति और अधिकार, जैसा कि कवि शेली ने कहा है, एक ऐसाविष होता है जो छूनेवाले को बरबाद कर देता है। दिल्ली के सुल्तानों ने अपनी ज्यादती के कारण न केवल हिन्दुओं का बल्कि अपने मुसलमान अनुयायियों का समर्थन भी खो दिया। जब उत्तर की ओर पुनः आक्रमण होने शुरू हुए तो ये सुल्तान भी उतनी ही आसानी से अपनी सल्तनत खो बैठे जितनी आसानी से इन्होंने उसे हथियाया था।

इन सुल्तानों पर विजय प्राप्त करनेवाला पहला आक्रामक था तैमूरलंग, जोकि जाति का तुर्क था और जिसने इस्लाम को एक हथियार के रूप में अपना रखा था। वह अपने मंगोल साथियों को प्रभावित करने के लिए अपने को चंगेज़ खां का वंशज बताता था। समरकंद के सिंहासन पर बैठने के बाद से ही उसे ज्यादा से ज्यादा सोना बटोरने की धुन सवार हुई और इसके लिए उसने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। सन् १३९८ में उसने सिंधु नदी को पार किया और कत्लेआम मचाते हुए वह दिल्ली तक आ धमका। उसने सुल्तान महमूद तुगलक की सेना को हराकर दिल्ली पर कब्जा कर लिया और एक लाख कैदियों को खड़े-खड़े मरवा डाला। दिल्ली के अफगान सुल्तानों ने जो कुछ संपत्ति इकट्ठी की थी, उस पर तैमूर ने कब्जा कर लिया। बहुत सा धन और हजारों दास-दासियों को लेकर वह वापस समरकंद लौट गया। उसके लौटने पर यहाँ अराजकता फैल गई तथा अकाल और महामारी ने बचेखुचे लोगों की जान लेनी शुरू की।

दिल्ली में फिर से सुल्तानों का राजा हुआ और करीब एक सौ साल तक उन्होंने फिर से भारत का शोषण किया। इसके बाद बाबर ने आक्रमण किया। महान मुगल राजवंश का संस्थापक बाबर वीरता और बुद्धि में सिकन्दर से किसी भी माने में कम नहीं था। उसमें गजब की शारीरिक और मानसिक शक्ति थी। वह थकना तो जानता ही नहीं था। रणक्षेत्र में वह गाजर-मूली की तरह शत्रुओं को काटता था। एक बार उसने घोड़े पर दो दिन में एक सौ साठ मील की यात्रा की थी और गंगा को दो बार

तैर कर पार किया था। अपने जीवन के आखिरी दिनों में उसने बताया था कि मैंने ग्यारह साल की उम्र के बाद से कभी भी एक ही जगह पर दो बार रोजा नहीं रखा।

बाबरनामा नामक अपने संस्मरणों में उसने लिखा है कि अपने बारहवें साल में मैं फरगना का राजा बना था। पन्द्रह साल की उम्र में उसने समरकंद पर घेरा डाल दिया और उसे अपने कब्जे में कर लिया था। लेकिन थोड़े ही समय में समरकंद उसके हाथ से निकल गया, क्योंकि अपनी फौज के सिपाहियों को तनखाह देने के लिए उसके पास पैसा नहीं था। वह बीमार पड़ गया और लगभग दो साल तक उसे पहाड़ों में छिपकर रहना पड़ा। फिर उसने दो सौ चालीस आदमियों की एक छोटी सी फौज के बल पर समरकंद पर दोबारा कब्जा कर लिया। लेकिन किसी की गद्दारी के कारण उसे फिर से इस नगर से हाथ धोना पड़ा। दो साल तक वह मारा-मारा इधर-उधर फिरता रहा और गरीबी में दिन काटता रहा। वह चीन जाकर किसानी का काम करने की सोचने लगा। फिर अचानक उसने सेना इकट्ठी की और बाइस साल की उम्र में ही उसने काबुल पर हमला कर दिया और उस पर कब्जा कर लिया। आगे बढ़ने पर पानीपत के मैदान में सुल्तान इब्राहीम की सेना से उसकी मुठभेड़ हुई तथा केवल बारह हजार सैनिकों और कुछ अच्छे घुड़सवारों की मदद से उसने शाही फौज को हरा दिया और कई हजार कैदियों की हत्या करने के बाद दिल्ली पर कब्जा कर लिया। इस पर दिल्ली में उसने उस मुगल राजवंश की स्थापना की, जो कि भारत के विदेशी शासक राजवंशों में सबसे अधिक उदार और कल्याणकारी सिद्ध हुआ। चार वर्ष तक और जीवित रहने के बाद सैंतालिस वर्ष की आयु में वह मरा। उसने अपने संस्मरणों के अलावा कुछ कविताएँ भी लिखी हैं।

बाबर का लड़का हुमायूँ इतना योग्य और शक्तिशाली नहीं था कि वह अपने पिता के काम को आगे बढ़ा पाता। कहा जाता है कि वह अफीम का बहुत अधिक प्रयोग करता था इसलिए शरीर और मन से कमजोर था। एक अफगान सरदार शेर-शाह ने उसको दो युद्धों में हरा दिया और कुछ समय के लिए भारत में फिर से अफगान राज्य की स्थापना की। शेरशाह एक कट्टर मुसलमान योद्धा की तरह नृशंसता में किसी से कम नहीं था, लेकिन साथ ही उसे एक अच्छा शासक भी कहा जा सकता है। उसने दिल्ली का बड़ी सुरुचि के साथ पुनर्निर्माण कराया था। इसके अलावा उसने राज्य-व्यवस्था में ऐसे सुधार किये थे जिनसे बाद में अकबर ने प्रेरणा प्राप्त की थी। लगभग एक दशक तक दो छोटे-छोटे शाहों ने राज किया। फिर लगभग बारह साल तक इधर-उधर भटकने और काफी परेशान होने के बाद हुमायूँ फारस में एक नई सेना इकट्ठी करके भारत लौटा और उसने फिर से दिल्ली पर कब्जा कर लिया। इसके आठ मास बाद हुमायूँ अपने पुस्तकालय की सीढ़ी पर से गिर पड़ा और मर गया।

जब हुमायूँ एक देश से दूसरे देश भागता फिर रहा था और गरीबी में दिन काट रहा था तब उसकी पत्नी ने एक लड़के को जन्म दिया। हुमायूँ ने लड़के का नाम मुहम्मद रखा, लेकिन वह बाद में अकबर (अर्थात् बहुत बड़ा, या महान) के नाम से विख्यात हुआ। लड़का बाबर की वंश-परम्परा के योग्य सिद्ध हो सके इसलिए उसकी देखभाल और शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया। उसके लिए अच्छे से अच्छे शिक्षक नियुक्त किये गये, लेकिन उसने पढ़ना सीखने तक से इनकार कर दिया। इसके बजाय युद्ध विद्या में उसे विशेष रुचि थी। उसे घुड़सवारी का बड़ा शौक था। बिगड़ैल हाथियों को वह बड़ी आसानी से वश में कर लेता था और शेर-चीते आदि के शिकार में बड़े साहस का प्रदर्शन करता था। उसके शरीर में बाबर, तैमूर और

चंगेज़ खां का रक्त वह रहा था इसलिए मानव-हत्या से उसे किसी प्रकार की हिचक नहीं थी। चौदह वर्ष की उम्र में जब उसे एक हिन्दू बंदी को मारने के लिए कहा गया तो उसने तलवार के एक ही वार में उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। यह उस आदमी के जीवन की वर्बर शुरुआत थी जो वाद में इतिहास का सबसे बुद्धिमान, सुसंस्कृत और सुरुचि सम्पन्न सम्राट सिद्ध हुआ।[1]

अठारह वर्ष की उम्र में ही उसने राज-काज सँभालना शुरू कर दिया। उस समय उसका राज्य भारत के आठवें हिस्से पर फैला हुआ था—उत्तर में मुल्तान से लेकर पूर्व में वाराणसी तक उसके राज्य की सीमा थी। अपने पूर्वजों के उत्साह और साहस के साथ उसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार करना शुरू किया और अन्त में वह मेवाड़ के एक छोटे-से राजपूत राज्य को छोड़कर सारे हिन्दुस्तान का एक छत्र सम्राट बन गया। इसके बाद उसने अपने राज्य को सुसंगठित और व्यवस्थित करने का काम सँभाला। राज्य की व्यवस्था की सारी शक्ति उसने अपने हाथ में रखी और दूर-दूर के प्रदेशों में भी अधिकारियों की नियुक्ति वह स्वयं किया करता था। राज-काज में उसके चार प्रमुख सहायक थे—वकील या प्रधान मंत्री; वज़ीर, या अर्थमंत्री, जिसे कभी-कभी दीवान भी कहा जाता था; बख्शी, या मुख्य न्यायाधीश, और सदर, जो कि इस्लाम धर्म की देखभाल का काम करता था। जैसे-जैसे उसका शासन व्यवस्थित और दृढ़ होता गया और जनता में उसका सम्मान बढ़ता गया, वैसे-वैसे वह सैनिक शक्ति पर कम निर्भर रहने लगा और उसने अपनी सेना घटाकर सिर्फ पचास हजार सैनिकों को अपनी सेना में रखा। युद्धकाल में इस छोटी-सी सेना की सहायता के लिए विभिन्न प्रदेशों के सैनिक प्रधान सेना भर्ती करके भेजा करते थे—यह एक ऐसी संदिग्ध व्यवस्था थी जो बाद में औरंगजेब के जमाने में मुगल साम्राज्य के पतन का एक कारण सिद्ध हुई। प्रादेशिक प्रशासकों और उनके कर्मचारियों में घूसखोरी और भ्रष्टाचार व्याप्त था, जिसकी रोकथाम में अकबर का अधिकांश समय चला जाता था। उसने अपने दरबार और परिवार के खर्च को काफी नियंत्रित कर रखा था और राज्य का काम करनेवाले मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर रखी थी। उसकी मृत्यु के समय उसके खजाने में दस अरब रुपया था और उसका साम्राज्य संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली था।

अकबर के शासन में कानून और कर-प्रणाली काफी कड़ी थी, लेकिन पहले की तुलना में अधिक उदार थी। किसानों से कुल उपज के छठे हिस्से से लेकर एक तिहाई हिस्सा तक लगान के रूप में वसूला जाता था। महत्वपूर्ण मुकदमों के फैसले बादशाह स्वयं किया करता था। उसके कानून में बाल-विवाह का निषेध था, किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती नहीं किया जा सकता था, विधवाओं के लिए पुनर्विवाह की छूट थी। बंदियों से गुलामी नहीं करायी जा सकती थी और बलिदान के लिए किसी पशु की हत्या नहीं की जा सकती थी, सब धर्मों को समान रूप से स्वतंत्रता प्राप्त थी और जाति के आधार पर भेदभाव की मनाही थी। उसने हिन्दुओं पर लगनेवाला वह कर भी उठा लिया था, जो अफगान सुल्तानों द्वारा लगाया गया था। उसके शासन-

---

[1] बाद में वह पुस्तकों का महत्त्व भी स्वीकार करने लगा और विद्वानों को बैठाकर घंटों उनकी बातें सुना करता था, और कठिन विषयों की पुस्तकों को पढ़वाकर सुनता था। इस प्रकार निरक्षर होने के बावजूद उसने विद्वत्ता प्राप्त कर ली। वह विद्वानों का सम्मान करता था और उनकी सहायता करता रहता था।

काल के आरम्भ में अंग-भंग का दंड दिया जाता था, लेकिन बाद में दंड-व्यवस्था में काफी सुधार हो गया था।

अकबर में कई उल्लेखनीय गुण थे। वह बड़ा बुद्धिमान था और उसने अपने दरबार में कई इतिहासकारों और विद्वानों को रख रखा था। घुड़सवारी और तलवार चलाने में वह अपना सानी रखता था। उसका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और सुन्दर था। उसकी भुजाएँ लम्बी थीं और आँखें चमकदार, पैनी और साफ थीं। वह बहुत सजधज कर नहीं रहता था और आमतौर से नंगे पैर ही घूमा करता था। मांस-भक्षण का उसे कोई खास शौक नहीं था और बाद के दिनों में तो उसने यह कहकर मांस खाना छोड़ दिया कि "यह ठीक नहीं है कि अपने पेट को जानवरों की कब्र बनाया जाय।" वह बहुत ताकतवर था और एक दिन में छत्तीस मील तक चल लेना उसके लिए एक मामूली बात थी। वह पोलो खेलने का इतना शौकीन था कि उसने रात में खेलने के लिए एक चमकदार गेंद का आविष्कार किया था। वह बहुत दयालु, उदार और क्षमाशील था। वह दान देने में भी किसी से कम नहीं था और बराबर जरूरत-मन्दों की मदद किया करता था। गरीबों का वह हमेशा बड़ा ध्यान रखता और एक यहूदी धर्मप्रचारक ने लिखा है कि "वह निर्धनों द्वारा ल यी गई छोटी से छोटी सौगात को भी बड़े प्रेम से ग्रहण करता था।" अकबर के समकालीनों में से एक का कहना है कि उसे मिर्गी के दौरे आया करते थे, जिन्हें छिपाने के लिए वह खूब शराब पीता था और अफीम भी खाया करता था। अत्यधिक सुरापान की यह आदत उसके यहाँ पुश्त दर पुश्त से चली आ रही थी, लेकिन वह कभी भी इतना नशा नहीं करता था कि अपना काबू खो बैठे। उसके दो लड़के बहुत ज्यादा शराब पीने के कारण जवानी में ही चल बसे थे। उसके अपने हरम भी थे। एक जनश्रुति में तो बताया जाता है कि "बादशाह के पास आगरे और फतहपुर सीकरी में एक हजार हाथी, तीस हजार घोड़े, चौदह सौ पालतू हरिण और आठ सौ रखेलें थीं।" लेकिन ऐसा लगता है कि बहुत अधिक भोग-विलास में उसकी रुचि नहीं थी। उसने राजनीतिक दृष्टि से कई विवाह किये थे। राजपूत राजकुमारियों से विवाह करके उसने कई राजाओं का विश्वास और समर्थन प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार उसके बाद से मुगल राजवंश में भारतीय रक्त भी मिल गया। एक राजपूत सरदार उसका प्रमुख सेनापति था और एक राजा ने उसका मंत्रित्व भी प्राप्त किया था। इस प्रकार वह एक संयुक्त भारत की स्थापना करना चाहता था।

अध्यात्म-विद्या में उसकी बड़ी रुचि थी। वह विचारशील प्रकृति का था, और अपनी व्यवस्था में बराबर सुधार किया करता था। खलीफा हारूँ-अल-रशीद की भाँति वह भी रात में वेश बदलकर अपने राज्य में घूमने के लिए निकल जाता था और लोगों की शिकायतों का पता लगाकर उनके अनुसार आवश्यक सुधार किया करता था। इतने व्यस्त जीवन के बावजूद उसका विद्यानुराग बराबर जारी था और उसने हाथ से लिखित और चित्रित पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह तैयार कर लिया था, इन पुस्तकों को तैयार करनेवाले कातिबों का भी वह कलाकारों की भाँति सम्मान करता था। उसे छपी हुई पुस्तकों से घृणा थी और जब उसके कुछ ईसाई मित्रों ने उसे यूरोप में छपी हुई कुछ पुस्तकें भेंट कीं तो उनको उसने अपने पुस्तकालय में स्थान नहीं दिया। उसके पुस्तकालय में २४ हजार पुस्तकें थीं। वह कवियों का भी खूब सम्मान करता था और हिन्दू या मुसलमान का भेद नहीं करता था। बीरबल, जो कि हिन्दू था, उसका बड़ा प्रिय दरबारी था। बाद में उसने बीरबल को सेना में खिताब देकर एक

जगह लड़ने के लिए भेजा था। लेकिन बीरबल को वहाँ से भागना पड़ा और भागते समय ही उसकी जान चली गई। अकबर ने साहित्य, इतिहास और विज्ञान संबंधी हिन्दू ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया था, जिनमें "महाभारत" भी थी। उसने लगभग सभी कलाओं को प्रोत्साहन और प्रेरणा प्रदान की। हिन्दू संगीत और काव्य की इस समय बड़ी उन्नति हुई तथा हिन्दू और फारसी चित्रकला ने भी इस युग में बड़ी ऊँचाइयाँ पार कीं। आगरा में उसने प्रसिद्ध किले का निर्माण कराया। कहा जाता है कि इस किले में पाँच सौ खूबसूरत इमारतें बनवायी गई थीं, जिन्हें शाहजहाँ ने तुड़वा डाला था। अकबर की समय की वास्तुकला का एक नमूना है दिल्ली में बना हुमायूँ का मकबरा और फतेहपुर-सीकरी में फकीर शेख सलीम चिस्ती का मकबरा।

लेकिन उसकी अध्यात्म संबंधी रुचि इन सब रुचियों से अधिक गहरी थी। यह सर्वशक्तिमान सम्राट मन ही मन दार्शनिक बनने के सपने देख रहा था, उसी तरह जिस तरह कि दार्शनिकगण सम्राट बनने के सपने देखते हैं कि इस बात पर अचरज करते हैं कि इतने ज्ञानवान होने पर भी उनके हाथ में शासन की बागडोर क्यों नहीं थमा दी जाती। अकबर कहा करता था, "हालाँकि मैं इतनी बड़ी सल्तनत का मालिक हूं, और राज्य की सारी ताकत मेरी मुट्ठी में है, लेकिन चूंकि सबसे बड़ी महानता इस बात में है कि आदमी खुदा की मर्जी के मुताबिक काम करे, इसलिए मुझे इन तरह तरह के धर्मों और मतों के चलते मुझे चैन नहीं मिल पाता है।....मुझे किसी ऐसे आदमी की तलाश है जो मेरे मन की इन मुश्किलों को आसान कर दे। फलसफे की बातें मुझे बहुत अच्छी लगती हैं और मैं उनको घंटों सुनता रहता हूं और इस तरह मेरा दूसरा काम अधूरा ही रह जाता है।"

उसकी धर्म में भी बड़ी गहरी रुचि थी। उसने "महाभारत" को बड़े ध्यान से सुना था और हिन्दू कवियों और संतों की बानी का अध्ययन किया था तथा उनसे वार्तालाप किया था, इसलिए हिन्दू धर्म के विभिन्न मतों में उसकी रुचि उत्पन्न हो गई थी। कुछ समय तक पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी उसका विश्वास हो गया था। वह कभी कभी हिन्दुओं जैसा तिलक माथे पर लगाकर निकलता था और इस तरह अपने मुसलमान अनुयायियों को चिंतित कर देता था। वह लगभग सभी धर्मवालों को खुश रखने की कोशिश करता था। कभी कभी वह पारसियों की धार्मिक पोशाक पहना करता था। जैनियों के कहने पर उसने शिकार खेलना बंद कर दिया था और कुछ विशेष दिनों पर जीव-हत्या की मनाही कर दी थी। जब उसे एक नये ईसाई धर्म का पता चला, जो कि गोवा में पुर्तगालियों के आधिपत्य के माध्यम से भारत पहुँचा था, तो उसने दो विद्वान पादरियों को अपने दरबार में आने के लिए आमंत्रित किया। बाद में कुछ ईसाई दिल्ली पहुँचे और उन्होंने अकबर को इतना प्रभावित किया कि उसने बाइबिल के "न्यू टेस्टामेंट" को फारसी में अनूदित करने का हुक्म दिया। उसने ईसाइयों को धर्म प्रचार की पूरी छूट दे दी और अपने एक लड़के की शिक्षा-दीक्षा का भार भी उन्हें सौंप दिया। जब फ्रांस में कैथलिक प्रोटेस्टेंटों का वध कर रहे थे और इंगलैंड में रानी एलिजाबेथ के राज में प्रोटेस्टेंट कैथलिकों का गला काट रहे थे, और जब स्पेन में यहूदियों को लूटा-मारा जा रहा था इटली में ब्रूनो को जिन्दा जलाया जा रहा था, उस समय भारत में अकबर ने अपने साम्राज्य के सभी धर्मों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया था और उन्हें धर्म-प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया था और यह हुक्म निकाल दिया था कि किसी भी धर्म के साथ भेदभाव की नीति नहीं बरती जाय। अपनी धार्मिक तटस्थता सिद्ध करने के उद्देश्य से उसने मुसलमान, राजपूत, ब्राह्मण और बौद्ध स्त्रियों से विवाह किया था।

उसे धार्मिक वादविवादों में वड़ा आनन्द आता था। उसने इस्लाम की रुढ़िवादिता का इस हद तक परित्याग कर दिया था कि मुसलमान उससे तटस्थ शासन में कुछ असुविधा का अनुभव करने लगे थे। उसे धार्मिक तर्कहीनता और बुद्धिहीनता से चिढ़ थी। जव कभी मुल्लाओं और पादरियों में विवाद उठ खड़ा होता था तो वह दोनों को फटकारता था और कहता था कि ईश्वर की भक्ति बुद्धि से करनी चाहिए न कि धर्मान्धता से। वह शायद उपनिषद् और कबीर की शिक्षाओं से प्रभावित होकर ही कहा करता था कि "हर आदमी अपनी परिस्थिति के अनुसार ही ईश्वर को विभिन्न नामों से पुकारता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि उस अज्ञात ईश्वर को किसी नाम से पुकारना ही गलत है।" कुछ मुसलमानों ने एक वार यह सुझाव दिया कि इस्लाम और ईसाई मत की अग्नि-परीक्षा होनी चाहिए—एक मौलवी हाथ में कुरान लेकर और एक पादरी हाथ में वाइविल लेकर अग्नि की ज्वाला में से गुजरे, जो विना जले वाहर आ जाय उसे ही सत्य धर्म का प्रचारक माना जाय। अकवर ने तो फौरन इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, क्योंकि जिस मौलवी का नाम इसके लिए प्रस्तावित किया गया था, उसे वह चाहता नहीं था, लेकिन पादरी इस प्रकार की परीक्षा को धर्म-विरुद्ध मानकर इसके लिए तैयार नहीं हुआ।

अपने राज्य में प्रचलित धार्मिक मतवादों से परेशान होकर और संभवतः यह सोचकर कि उसकी मृत्यु के वाद इनके कारण अव्यवस्था फैल सकती है, इसलिए अन्त में उसने एक नया धर्म चलाने का निश्चय किया। इस धर्म में उसने सभी प्रमुख धर्मों की शिक्षाओं को सम्मिलित किया। ईसाई धर्म-प्रचारक वार्तोली ने इस संवंध में लिखा है—

"उसने सभी धर्मों के विद्वानों और आसपास के नगरों के सैनिक प्रधानों का एक सम्मेलन बुलाया। फादर रिदोल्फो नामक पादरी ने इस प्रकार के प्रयास को धर्म-विरुद्ध मानकर सम्मेलन में भाग नहीं लिया। जव सव लोग इकट्ठे हो गए तो उसने अपने नये धर्म के मूल उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। 'उसने कहा. . . .इसलिए इन सव को मिलाकर हमें एक करना पड़ेगा, वह भी इस तरह कि सव धर्म एक भी रहें और अनेक भी। किसी भी धर्म की अच्छी वातों को सुरक्षित रखने के साथ ही हमें दूसरे धर्म की अच्छी वातों को भी अपना लेना चाहिए। इस तरह हम ईश्वर के प्रति अपना सम्मान प्रकट करेंगे, जनता में शांति रहेगी और साम्राज्य सुरक्षित रहेगा।"

उसके अनुरोध पर सम्मेलन ने उसके नये धर्म को मान्यता प्रदान की और उसे ही उस धर्म का प्रधान नियुक्त किया। वास्तव में यह धर्म हिन्दू धर्म की सर्वोत्तम परम्पराओं पर आधारित था तथा इसमें पारसी मत की सूर्य पूजा और अग्नि-पूजा के साथ ही जैनियों की अहिंसा का भी समावेश था। गोहत्या के लिए मृत्युदंड की घोषणा की गई। इससे हिन्दू जितने ही प्रसन्न हुए, मुसलमान उतने ही अप्रसन्न हुए। वाद की एक आज्ञा द्वारा राज्य की समस्त जनता के लिए वर्ष में कम से कम सौ दिन निरामिष भोजन अनिवार्य कर दिया गया, वाद में प्याज और लहसुन खाने पर भी रोक लगा दी गई। मस्जिदों का निर्माण, रमजान में रोजा रखना, हज की यात्रा पर जाना आदि मुस्लिम रीति-रिवाजों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। जिन मुसलमानों ने इन आज्ञाओं का विरोध किया उन्हें देश निकाला दे दिया गया। फतेहपुर-सीकरी के अमनगाह में नये संयुक्त धर्म का एक मंदिर वनवाया गया, जो कि अकवर की इस इच्छा के प्रतीक के रूप में आज भी खड़ा हुआ है कि अव आगे से भारत के सभी निवासी आपस में भाई-भाई की तरह रहेंगे और एक ही ईश्वर की भक्ति करेंगे।

परन्तु यह नया धर्म, जिसका नाम उसने "दीन इलाही" रखा था, कभी सफल नहीं हो सका। परम्परागत मान्यताओं को मिटाना अकबर की शक्ति के बाहर की बात थी। थोड़े से कुछ हजार व्यक्तियों ने ही मन से इस धर्म को स्वीकार किया बाकी, ज्यादातर सरकार की कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से ही इसका समर्थन करते थे। राजनीतिक दृष्टि से इस धर्म का कुछ अच्छा प्रभाव भी हुआ—हिन्दुओं पर लगनेवाले विशेष कर हटा लिए गये, सभी धर्मों को समान स्वतंत्रता प्राप्त हुई, धार्मिक और जातिगत पक्षपात कम हुआ, धर्मान्धता में भी कुछ कमी आई। इससे आम हिन्दू जनता का विश्वास भी अकबर को प्राप्त हुआ।

लेकिन मुसलमानों में "दीन इलाही" के प्रति बड़ा असन्तोष फैलने लगा। उनमें विद्रोह की भावना बढ़ने लगी। यहाँ तक कि शाहजादा जहाँगीर ने अपने पिता के विरुद्ध षड्यंत्र भी आरम्भ कर दिया। उसने फुसफुसाना शुरु किया कि अकबर ने चालीस साल तक राज्य कर लिया और अब भी उनकी सेहत इतनी अच्छी है कि जल्दी राजगद्दी के खाली होने की कोई आशा नहीं है। जहांगीर ने तीस हजार घुड़सवारों की एक सेना संगठित की और अकबर के एक प्रिय मित्र और उसके दरबार के इतिहासकार अबुल फज़ल को मार डाला और अपने को बादशाह घोषित कर दिया। अकबर ने समझा-बुझाकर उसे हथियार डालने के लिए मजबूर किया और एक दिन बाद उसको माफ कर दिया। लेकिन अपने लड़के की बेवफाई से अपनी माता तथा अपने मित्र की मृत्यु से उसका दिल टूट गया और फिर वह नहीं सँभल सका। उसके अंतिम दिनों में उसके लड़कों ने उसकी उपेक्षा आरम्भ कर दी और गद्दी के लिए आपस में झगड़ने लगे। अन्त में पेचिश के कारण उसकी मृत्यु हो गई। कुछ लोगों का कहना है कि जहांगीर ने उसे जहर दे दिया था। उसकी आखिरी घड़ी में मौलवी-मुल्लाओं ने उसको फिर से इस्लाम कबूल कर लेने की सलाह दी, लेकिन अकबर ने उनकी बात नहीं मानी। बहुत कम लोग उसके जनाजे के साथ गये, और उसके लड़कों और दरबारियों ने उसी शाम से मातम बन्द कर दिया। मन ही मन वे उसकी मृत्यु से प्रसन्न थे। एशिया के सबसे अधिक बुद्धिमान और सबसे अधिक न्यायप्रिय शासक का यह दुखपूर्ण अन्त था।

८. मुगलों का पराभव

महापुरुषों की संतानें; जहाँगीर; शाहजहाँ; शाहजहाँ की शान-शौकत; उसका पतन; औरंगजेब; उसकी धर्मान्धता; उसकी मृत्यु; अंग्रेजों का आगमन।

अकबर के उन लड़कों के लिए जो इतनी बेचैनी से अपने पिता की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे, उस साम्राज्य को बनाये रखना कठिन हो गया जिसकी स्थापना अकबर ने अपनी प्रतिभा के बल पर की थी। ऐसा क्यों होता है कि महापुरुषों की सन्तानें आमतौर से अत्यन्त साधारण कोटि की होती हैं? क्या इसका कारण यह है कि वह प्राणशक्ति जो कि महापुरुषों की रचना करती है, वंश-परम्परा पर नहीं बल्कि संयोग पर आधारित होती है? या, ऐसा इसलिए होता है कि प्रतिभा व्यक्ति की उन मानसिक और शारीरिक शक्तियों को निचोड़ देती है, जो कि भावी संतति को प्राप्त हो सकती है? अथवा, क्या ऐसा इसलिए होता है कि ऐसे लोगों की संतानें आलसी और आरामतलब हो जाती हैं और उनमें आराम की जिन्दगी उन्हें महत्वाकांक्षा और विकास की इच्छा से वंचित कर देती है?

वैसे, जहांगीर अपने पिता की तुलना में तो निश्चय ही बहुत साधारण था, लेकिन

बिलकुल गया-बीता नहीं था। वह तुर्क पिता और हिन्दू माता की संतान था और शराबी तथा आरामतलब था। अपनी पुश्तैनी क्रूरता भी उसमें काफी उभरी हुई थी। लोगों की खाल खिंचवाने और उनको सूली पर चढ़वाने तथा हाथी के पैरों तले रौंदवाने में उसे बड़ा आनन्द आता था। अपने संस्मरणों में लिखा है कि किस प्रकार एक बार शिकार खेलते समय एक साईस की गलती से शिकार भाग गया और उसने इसके बदले में साईस को मरवा डाला और उसके कर्मचारियों के घुटने की नसें कटवाकर उन्हें जिन्दगी भर के लिए लँगड़ा करवा दिया और फिर शिकार की खोज में आगे बढ़ गया। जब उसके लड़के खुसरू ने उसके विरुद्ध षडयंत्र किया तो उसने उसके सात सौ विद्रोहियों को लाहौर की सड़कों पर एक कतार में सूली पर चढ़वा दिया। उसने अपने संस्मरणों में बड़ी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए लिखा है कि इन आदमियों को मरने में काफी देर लगी। उसके यौन जीवन का यह हाल था कि उसके हरम में छः हजार औरतें थीं। बाद में वह अपनी मलका नूरजहां को बहुत अधिक प्यार करने लगा था। नूरजहां को उसने उसके पति की हत्या करा के प्राप्त किया था। वह न्याय के समय निष्पक्ष रहता था लेकिन उसका दंड काफी कड़ा होता था। उसका खर्च इतना अधिक बढ़ने लगा कि सरकारी खजाने के लिए रुपया प्राप्त करने के उद्देश्य से भारी कर बैठाना जरूरी हो गया।

अपने जीवन के अन्तिम समय में जहांगीर शराब पीने में ही मसगूल रहता था और राज काज की ओर बहुत कम ध्यान देता था, इसका नतीजा यह हुआ कि उसको गद्दी से उतारने के लिए षड्यंत्र होने लगे। सन् १६२२ में ही एक बार उसके लड़के शाहजहां ने राजगद्दी पर कब्जा करने की कोशिश की थी। जहांगीर के मरने की खबर सुनते ही शाहजहां दक्षिण से भागकर सीधा दिल्ली पहुँचा था। इस बीच वह दक्षिण में छिप कर रहने लगा था। दिल्ली पहुँच कर उसने अपने आप को बादशाह घोषित कर दिया और अपने सभी भाइयों की हत्या करवा दी ताकि बाद में व्यर्थ की झंझट न रहे। क्रूरता असंयम और भोग विलास की प्रवृत्ति उसे अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। राज्य की आय का अधिकांश हिस्सा शाहजहां के दरबार और उसके महल पर तथा ओहदेदारों को दी जाने वाली लम्बी-लम्बी तनख्वाहों में खर्च हो जाता था। अकबर के समय की धार्मिक सहिष्णुता और जहाँगीर की उदासीनता के स्थान पर अब फिर से इस्लाम धर्म को प्रश्रय दिया जाने लगा। इसाइयों को तंग किया जाने लगा और बड़े पैमाने पर हिन्दू मन्दिरों का सर्वनाश आरम्भ हो गया।

अपने मित्रों और निर्धनों के प्रति शाहजहां बहुत उदारता का व्यवहार करता था। वह कला प्रिय भी था और भारत को उसने कुछ सुन्दरतम कला कृतियों से सजाने का प्रयास किया। अपनी बेगम मुमताज महल को वह बहुत चाहता था। उससे उसने एक्कीस वर्ष की उम्र में विवाह किया था जबकि उससे पहले वाली बेगम से उसे दो लड़के हो चुके थे। मुमताज ने अठारह वर्ष के दौरान में चौदह बच्चों को जन्म दिया और आखिरी बच्चे के पैदा होने के समय उन्तालीस वर्ष की आयु में चल बसी। शाहजहाँ ने उसकी यादगार में ताजमहल जैसे संसार के एक सुन्दरतम भवन का निर्माण कराया। इसके बाद वह फिर से भोग विलास में लिप्त हो गया। आगरा और दिल्ली में शाहजहां ने कई खूबसूरत मकबरे बनवाये। इन भवनों के निर्माण पर, अपने दरबार पर और हीरे-जवाहरात से बने 'तख्तेताऊस'[1] पर शाहजहां ने जितना रुपया

---

[1] इस तख्त के निर्माण में सात साल का समय लगा था और यह पूरा कीमती धातुओं और हीरे-जवाहरातों से बना था। इसमें पन्ने से बने पांच खंभों पर मीनाकारी

खर्च किया उससे अन्दाज लगाया जा सकता है कि जनता से कितना अधिक कर वसूला जाता था। हालाँकि भारतीय इतिहास का सबसे भयानक दुर्भिक्ष शाहजहां के शासन काल में ही पड़ा था। लेकिन वैसे उसके राज्य में भारत ने काफी उन्नति और प्रगति की।

शाहजहां ने अपनी गद्दी को सुरक्षित रखने के लिए शुरू में ही अपने भाइयों को मरवा डाला था। लेकिन अपने लड़कों को मरवाने की बात उसने शायद नहीं सोची थी, क्योंकि उन्हीं में से एक ने अन्त में उसको गद्दी पर से उतारा था। सन् १६५७ में उसके एक लड़के औरंगजेब ने दक्षिण में बगावत का झंडा बुलन्द किया। शाहजहां ने अपने सरदारों को हुक्म दिया कि बागी फौज को खत्म कर दिया जाय लेकिन अगर हो सके तो औरंगजेब की जान बचाई जाय। औरंगजेब ने अपने मुकाबले में भेजी गयी हर एक फौज को हरा दिया। वह बढ़ता हुआ दिल्ली आ पहुँचा उसने अपने पिता को कैद कर लिया और उसे आगरे के किले में बन्द कर दिया। लगभग ९ साल तक शाहजहाँ कैदी के रूप में मौत का इन्तजार करता था। औरंगजेब कभी भी उसको देखने नहीं गया सिर्फ शाहजहां की बेटी जहांनारा ही आखिरी दिनों में उसकी देख भाल करती रही।

जिस आदमी ने अपने पिता के साथ इतनी निर्दयता का व्यवहार किया, उसे इसलाम के इतिहास में एक सबसे बड़ा फकीर माना गया और वास्तव में मुगल बादशाहों में उसका जोड़ मिलना मुश्किल है। जिन मौलवी मुल्लाओं ने उसको धर्म की शिक्षा दी थी, उन्होंने उसमें इतनी अधिक धार्मिक भावना भर दी कि एक समय तो वह संसार छोड़ कर फकीर बनने की सोचा करता था। जिन्दगी भर वह एक कट्टर मुसलमान रहा। अपना अधिकांश समय वह नमाज़ पढ़ने और कुरान याद करने में लगाया करता था। एक धर्म प्रिय मुसलमान की तरह वह काफिरों का नाश किया। राजनीतिक दाँव पेच और शासन कार्य के संचालन में वह बड़ी चालाकी और कूटनीति से काम लेता था और केवल मुसलमानों के प्रति ही नैतिकता का व्यवहार करना उचित मानता था। लेकिन वैसे वह मुगल सम्राटों में सबसे कम क्रूर था। उसके राज में नरहत्या बहुत कम हो गई थी और अपराधियों को बहुत कड़ा दंड नहीं दिया जाता था। वह बड़ा संयमी और शान्त प्रकृति का था और बड़े से बड़े दुर्भाग्य के समय भी विचलित नहीं होता था। इसलाम धर्म की शिक्षाओं के अनुसार वह खाने-पीने में बहुत अधिक संयम से काम लेता था और भोग-विलास से दूर रहता था। उसका अपना खर्च बहुत ही कम था जो कुछ वह खुद अपने हाथ की मेहनत से कमा पाता था, उसे ही अपने आप पर खर्च करता था। इस दृष्टि से वास्तव में वह बादशाह होते हुए भी फकीर था।

जबकि शाहजहाँ अपनी सरकारी आय का आधा हिस्सा बढ़िया इमारतों को बनवाने तथा अन्य कलाओं को प्रोत्साहन प्रदान करने में खर्च करता था तो औरंगजेब अपने अधिकांश धन और अपनी सारी शक्ति का उपयोग हिन्दू तथा अन्य गैर मुस्लिम

का छत्र बना हुआ था। तख्त के पाये ठोस सोने के बने थे। खंभों पर दो-दो मोर नाच रहे थे, जिन पर बेशकीमती जवाहरात जड़े हुए थे। मोर के प्रत्येक जोड़े के बीच में हीरे-मोती, लाल और पन्ने का एक-एक पेड़ बना हुआ था। इस तख्त का मूल्य लगभग ३,५०,००,००० रुपये था। सन् १७३९ में नादिरशाह इस तख्त को फारस उठा ले गया। और बाद में फारस के राजघराने में ही यह धीरे-धीरे लुट गया।

स्मारकों को नष्ट कराने और इसलाम को छोड़कर बाकी सभी धर्मों को हिन्दुस्तान से नष्ट करने के लिए खर्च किया करता था। उसने अपने अधिकारियों को हुक्म दे रखा था कि हिन्दुओं के सारे मन्दिरों और ईसाइयों के गिरजाघरों को ध्वस्त कर दिया जाय, सभी मूर्तियों को तोड़ डाला जाय और हिन्दू आश्रमों तथा विद्यालयों को नष्ट कर डाला जाय। सन् १६७९–८० के बीच के एक साल में सिर्फ आम्बेर में ६६ मन्दिर तोड़े गए, चित्तौड़ में ६३ मन्दिर और उदयपुर में १२३ मन्दिर तोड़े गए तथा वाराणसी में हिन्दुओं के एक सबसे पवित्र मन्दिर को नष्ट करके उसने वहाँ एक मस्जिद बनवायी। उसने हिन्दू धर्म के सभी सार्वजनिक अनुष्ठानों पर रोक लगा दी और प्रत्येक हिन्दू को विशेष कर देने के लिए मजबूर किया। उसकी इस धर्मान्ध नीति के कारण हजारों हिन्दू मन्दिर जोकि लगभग एक हजार वर्ष से भारतीय संस्कृति और कला के सर्वोत्तम प्रतीक थे, नेस्तनाबूद हो गए। आज हम भारत को देखकर इस बात का अनुमान नहीं लगा सकते कि कभी वह कितना सुन्दर और भव्य था।

अपनी इस उग्र नीति के कारण औरंगजेब थोड़े से डरपोक हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में सफल हो गया लेकिन अधिकांश जनता उससे घृणा करने लगी और इस प्रकार उसने अपने राजवंश और अपने साम्राज्य की नींव खोखली कर डाली। कुछ थोड़े से मुसलमान एक सन्त और फकीर के रूप में भले ही उसकी पूजा करते रहे हों लेकिन भारत के करोड़ों असहाय निवासी उसको एक दैत्य ही मानते थे, उसके अहलकारों की छाया से भी दूर भागते थे और उसकी मृत्यु की कामना करते थे। उसके राज में मुगल साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से अपनी चरम सीमा पर पहुँचा था। दक्षिण पर भी उसका आधिपत्य था लेकिन इस विशाल साम्राज्य की नींव जनता के दिलों में नहीं थी और एक शक्तिशाली विरोधी धक्के पर इसका नष्ट भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक था। स्वयं औरंगजेब को अपने अन्तिम दिनों में यह अनुभव होने लगा था कि उसने अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण पूर्वजों से प्राप्त विरासत को बरबाद कर डाला है। मृत्यु शैया पर से लिखे गए उसके कुछ पत्रों में इसका संकेत मिलता है—"मुझे पता नहीं कि मैं कौन हूँ, और मैं कहाँ जाऊँगा? . . . . अपनी जिन्दगी में मैं कोई काम नहीं कर सका और मैंने अपने दिन बरबाद कर डाले, खुदा मेरे दिल में रहा है लेकिन मेरी अंधी आंखों ने उसकी रोशनी को नहीं देखा. . . . मेरे लिए आगे अब कोई उम्मीद नहीं है। मैंने बहुत पाप किया है और पता नहीं मेरा क्या हस्र होगा . . . . खुदा तुम लोगों पर रहम करे।"

उसने स्पष्ट आदेश दे दिया था कि उसका जनाजा बहुत सादगी से निकाला जाय और उसने टोपियाँ सिल कर जो चार रुपये कमाये हैं उनसे एक चादर खरीद कर उसको ओढ़ा दी जाय तथा उसके कफन को सिर्फ एक मोटे कपड़े से ढक दिया जाय कुरान की नकल करके उसने तीन सौ रुपये जमा किये थे। इन रुपयों को उसने गरीबों में बाँट देने के लिए कहा। उसकी मृत्यु ८९ वर्ष की अवस्था में हुई।

उसकी मृत्यु के सत्रह साल के भीतर ही उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। अकबर ने जिस बुद्धिमानी के साथ भारतीय जनता का विश्वास और समर्थन प्राप्त किया था, जहांगीर ने अपनी निर्दयता से, शाहजहां ने अपनी फजूलखर्ची से और औरंगजेब ने अपनी असहिष्णुता से जनता के इस विश्वास को खो दिया। अल्पसंख्यक मुसलमान भी भारत की उष्ण जलवायु के कारण अब तक अपनी शारीरिक शक्ति खो चुके थे उनमें अब वह सैनिक क्षमता भी नहीं रह गई थी जोकि आरम्भ के दिनों में थी और उनकी गिरती हुई ताकत को मदद पहुँचाने के लिए उत्तर से नये आक्रमणकारी

भी नहीं आ रहे थे। इस बीच सुदूर पश्चिम के एक छोटे से द्वीप ने भारत में रुपया कमाने के लिए अपने सौदागरों को भेजा। फिर शीघ्र ही वह इस विशाल साम्राज्य को हड़पने के लिए अपनी तोपें भी भेजने की तैयारी कर रहा था, जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर इतिहास की एक महान् सभ्यता का स्वरूप प्रदान किया था।

अध्याय १७

जनता की स्थिति

१. सम्पदा के निर्माता

वन्य पृष्ठभूमि; कृषि; खदान-उद्योग; हस्तकला; वाणिज्य; धन; कर; दुर्भिक्ष; निर्धनता और सम्पत्ति।

भारत की भूमि ने बहुत आसानी से सभ्यता के लिए जगह नहीं दी है। इसके बहुत बड़े भाग में जंगल था, जहाँ शेर, चीते, हाथी और अन्य भयानक जीव-जंतुओं का वास था। आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठिभूमि में यहाँ के निवासियों और इन वन्य पशुओं के बीच बराबर संघर्ष जारी था। अकबर मथुरा के पास शेर का शिकार किया करता था और ऐसे स्थानों पर जंगली हाथियों को पकड़ा करता था, जहाँ आज इस तरह के जानवर मीलों दूर तक नहीं पाये जाते। वैदिक युग में उत्तरपश्चिमी और मध्य भारत में कहीं भी शेर मिल सकता था। लेकिन अब बहुत कम स्थान ऐसे रह गये हैं, जहाँ शेर पाये जाते हैं। साँप और अन्य विषैले जीव-जंतु अब भी बहुतायत से पाये जाते हैं। सन् १९२६ में दो हजार व्यक्ति जंगली जानवरों द्वारा मारे गये थे, जिनमें से ८७५ व्यक्ति शेर या चीते का शिकार बने थे; लेकिन बीस हजार आदमियों की मृत्यु सर्पदंश के कारण हुई थी।

जंगली जानवरों को भगाकर धीरे-धीरे भूमि को कृषि के योग्य बनाया गया और धान, दाल, मक्का आदि की खेती होने लगी और फल तथा तरकारियाँ उगायी जाने लगीं। भारतीय इतिहास के पूरे दौरान में यहाँ के अधिकांश निवासी शाकाहारी रहे हैं और केवल धनी तथा अन्त्यज वर्ग के लोग ही मांसाहार करते रहे हैं।[1] भारत में मसाले काफी मात्रा में पैदा होते हैं और यहाँ के लोग मसालों का उपयोग भी खूब करते हैं। युरोपवासियों के लिए इन मसालों की इतनी अधिक कीमत रही है कि उन्होंने तो मसालों के लिए भारत की खोज के प्रयास में पृथ्वी का एक गोलार्ध ही खोज निकाला—अमेरिका की खोज इसी बहाने हुई है। वैदिक युग में भूमि पर जनता का अधिकार था, लेकिन चंद्रगुप्त मौर्य और उसके बाद से प्रत्येक शासक भूमि पर अपना दावा पेश करता रहा और किसान से सालाना लगान और कर वसूल करता रहा। सिचाई की जिम्मेदारी आमतौर से सरकार की मानी जाती रही है। चन्द्रगुप्त द्वारा बनवाया गया एक बाँध सन् १५० तक काम में आता था और प्राचीन नहरों के भग्नावशेषों को आज भी देखा जा सकता है। मेवाड़ के राणा राजसिंह ने सन् १६६१ में सिंचाई के लिए जिस कृत्रिम झील का निर्माण कराया था, उसके अवशेष आज तक मौजूद हैं। इस झील के आसपास बारह मील लम्बी संगमरमर की दीवार थी।

ऐसा लगता है कि भारतीयों ने ही सबसे पहले सोना खदान से निकाला था।

---

[1] इस अध्याय में उत्तर वैदिक काल से लेकर पूर्व ब्रिटिश काल की स्थिति का ही विश्लेषण किया गया है।

हीरोदोतस और मेगस्थनीज़ ने ऐसी बड़ी-बड़ी "सोना खोदनेवाली चींटियों का उल्लेख किया है, जो कि कुत्तों से छोटी और लोमड़ियों से बड़ी" होती थीं। लेकिन हमें इन चींटियों के बारे में कुछ भी पता नहीं चल सका है। ईसा से पाँचवीं शताब्दी पूर्व फ़ारस के साम्राज्य में जितना सोना काम में आता था, उसका अधिकांश भारत से आया करता था। खदानों से चाँदी, ताँबा, सीसा, टिन, जस्ता और लोहा भी निकाला जाता था—लोहा १५०० वर्ष ई० पू० से ही निकाला जाने लगा था। यूरोप में लोहे का पता चलने के बहुत पहले ही भारत में लोहे की ढलाई और सफाई का काम शुरू हो गया था। उदाहरणार्थ, विक्रमादित्य ने सन् ३८० के आसपास दिल्ली में एक लौह स्तंभ की स्थापना की थी, जो कि पन्द्रह शताब्दी बाद आज भी वैसा का वैसा ही खड़ा है। इसका लोहा किस कोटि का है और उसे किस प्रकार तैयार किया गया है कि क्षरण और जंग आदि से यह आज तक बचा हुआ है। यह आधुनिक धातुविज्ञान के लिए आज तक एक रहस्य का विषय बना हुआ है। कोयले की छोटी छोटी भट्ठियों में लोहा तैयार करने का उद्योग भारत में यूरोपीय लोगों के आक्रमण के पूर्व तक काफी प्रचलित था और यहाँ का एक प्रमुख उद्योग था। औद्योगिक क्रांति के दौरान में यूरोप ने सीखा कि लोहे को अधिक सस्ते ढंग से और बड़े पैमाने पर किस प्रकार साफ किया जा सकता है, और भारतीय उद्योग इस प्रतियोगिता में मारा गया। इसके बाद तो अब जाकर हमारे युग में ही भारत में धातुओं की खुदाई और उनके उत्पादन का काम ढंग से शुरू हो सका है।

कपास की खेती भी भारत में अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक पहले से आरंभ हो गई थी, क्योंकि इसका प्रमाण मिला है कि कपड़े के लिए रुई का उपयोग मोहन-जोदड़ो में हुआ करता था। हीरोदोतस ने भी अज्ञानवश लिखा है—"भारत के कुछ जंगली पौधे फल की जगह 'ऊन' पैदा करते हैं। यह ऊन भेड़ के ऊन से अच्छी किस्म का और ख़ूबसूरत होता है। भारतीय लोग इन्हीं पेड़ों की ऊन से अपने कपड़े बनाया करते हैं।" पश्चिमी एशिया में युद्ध के दौरान में ही रोमनों को "ऊन" पैदा करनेवाले इन पौधों का पता चल पाया था। नौवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करनेवाले अरब मुसाफिरों ने लिखा है—"यहाँ के निवासी जैसे ख़ूबसूरत कपड़े तैयार करते हैं, वैसे अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आते। ये कपड़े इतने बारीक और मुलायम होते हैं कि उन्हें एक मामूली आकार की अँगूठी में से निकाला जा सकता है।" मध्य युग के अरब निवासियों ने इस कला को भारत से सीखा था, और रुई के लिए उनके शब्द "क़त्तान" से ही अंग्रेजी का "काटन" शब्द बना। "मस्लिन" नाम उस बढ़िया किस्म के सूती कपड़े के लिए व्यवहार में आता था, जो कि भारत की नकल पर मोसुल में तैयार किया जाता था; एक विशेष प्रकार के कपड़े का नाम "कैलिको" इसलिए पड़ा कि वह (सबसे पहले १६३१ में) कालिकट से आया था। मार्को पोलो ने सन् १२९३ के गुजरात के बारे में लिखा है, "यहाँ कसीदाकारी का काम जैसा होता है वैसा दुनिया में और कहीं नहीं होता।" काश्मीर के शाल और भारत के कालीन आज भी भारत की बुनाई कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। भारत में बुनाई के अलावा अन्य हस्तकलाओं का भी ख़ूब विकास हुआ था। यूरोपवासी भारतीयों को लगभग हर कला के विशेषज्ञ मानते रहे हैं—जैसे लकड़ी का काम, हाथी दांत का काम, धातु का काम, चमड़ा कमाना, साफ करना और रंगना, साबुन बनाना, शीशा फूंकना, बारूद और बारूद की आतिशबाजी बनाना, सीमेंट तैयार करना आदि आदि। चीन सन् १२६० में भारत से आतिशी शीशे का आयात किया करता था। सत्रहवीं सदी में भारत की यात्रा करते

समय वर्नियर ने भारत को उद्योग-धंधों से भरा-पूरा पाया था। फिच ने १५८५ में तरह तरह के माल से लदी हुई १८० नावों को जमुना नदी में यात्रा करते हुए देखा था।

भारत में आंतरिक व्यापार का खूब विकास हुआ था और सड़कों के किनारे ही वाजार थे और आज भी हैं। विदेशों से होनेवाला भारत का व्यापार उसके इतिहास की ही भाँति वहुत पुराना है। सुमेरिया और मिस्र में पायी जानेवाली प्राचीन वस्तुओं से पता चलता है कि इन देशों में भारत का व्यापार ३००० वर्ष ई० पू० से होता चला आ रहा है। ७०० से ४८० वर्ष ई० पू० तक भारत और वेविलन के बीच फारस की खाड़ी से होकर व्यापार हुआ करता था। संभवतः सालोमन के लिए "हाथी दाँत, वंदर और मोर" इसी मार्ग से और भारत से ही आये थे। चंद्रगुप्त के जमाने में भारतीय जहाज वरमा और चीन तक की यात्रा किया करते थे। ईसा के जन्म के कई शताब्दी पहले से लेकर कई शताब्दी वाद तक यूनानी व्यापारी, जिन्हें हिन्दू "यवन" कहा करते थे, भारत के वाजारों में काफी तादाद में घूमा करते थे। रोम अपनी सम्पन्नता के दिनों में मसाले और इत्र-फुलेल आदि के लिए भारत पर ही निर्भर करता था और भारतीय रेशम, किमखाव और मलमल तथा जरीदार कपड़ों के लिए इतनी भारी कीमत चुकाया करता था कि इतिहासकार प्लिनी को शिकायत के स्वर में लिखना पड़ा कि शान-शौकत की इन चीजों के लिए रोम प्रति वर्ष भारत को ढाई करोड़ रुपया भेजा करता है। रोम के क्रीडांगन में भारतीय शेर, चीते और हाथी से रोमवासियों का मनोरंजन किया करते थे। रोम ने पार्थियन युद्धों को इसी लिए लड़ा था कि भारत और उसके बीच व्यापार का मार्ग खुला रहे। सातवीं शताब्दी में अरबों ने फारस और मिस्र पर कब्जा कर लिया था और अब मुसलमानों के माध्यम से ही युरोप और एशिया के बीच व्यापार हुआ करता था, शायद इसीलिए ईसाइयों के "क्रूसेड" या धर्म-युद्ध हुए और कोलम्वस को भारत के लिए नया रास्ता ढूंढ़ने के उद्देश्य से निकलना पड़ा। मुगलों के शासनकाल में विदेशों से होनेवाले व्यापार ने फिर उन्नति की। वेनिस, जिनोआ और दूसरे इतालवी नगरों ने भारत और एशिया के माल के लिए वंदरगाहों के रूप में काफी उन्नति की। इस व्यापार से प्राप्त होनेवाली सम्पदा ही इटली के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का मूल कारण थी। अकवर का जहाजरानी महकमा समुद्र मार्ग से होनेवाले व्यापार की देख रेख करता था और जहाजों का निर्माण किया करता था। जहाजों के निर्माण के काम के लिए वंगाल और सिंध के वंदरगाहों ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की थी कि कुस्तुन्तुनिया के सुल्तान को सिकन्दरिया के वजाय भारत में अपने जहाज वनवाना अधिक सस्ता मालूम पड़ा। यहाँ तक कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपने कई जहाज वंगाल के वंदरगाहों में तैयार कराये थे।

इस व्यापार की सुविधा की दृष्टि से मुद्रा-प्रणाली के विकास में सदियों का समय लग गया। वुद्ध के समय में कुछ व्यापारियों और राजाओं ने चौकोर और वेढंगी मुद्राएँ चलायी थीं। लेकिन राज्य द्वारा स्वीकृति प्राप्त मुद्रा-प्रणाली का विकास भारत में ईसा से चौथी सदी के पहले तक नहीं हो सका और वह भी यूनानी और फारसी प्रभाव के कारण हुआ। सवसे पहले शेरशाह ने ताँवा, चाँदी और सोने के अच्छे ढले हुए सिक्के चलाये तथा रुपये को आधारभूत मुद्रा माना। अकवर और जहाँगीर के राज्य में प्रचलित मुद्रा प्रणाली अपनी सुन्दरता और धातु की शुद्धता की दृष्टि से किसी भी आधुनिक यूरोपीय राज्य की मुद्रा प्रणाली से श्रेष्टतर थी। मध्य युगीन यूरोप की भाँति मध्य युगीन भारत में भी व्याज लेना धर्म विरुद्ध माना जाता था और इस प्रथा से व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला। मेगस्थनीज ने लिखा है,

"भारतीय लोग व्याज के खिलाफ होते हैं और ऋण भी अधिक नहीं लेते हैं।" इस प्रकार हिन्दू लोग उधार तो देते ही नहीं हैं और जव अपने धन का उपयोग अपने व्यापार में नहीं कर पाते थे तो या तो धन को गाड़ देते थे या उससे गहने खरीद कर रख लेते थे। सम्भवतः कर-व्यवस्था का ठीक से विकास न हो पाने के कारण ही औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप भारत पर अपना प्रभाव जमा सका था। लेकिन धीरे-धीरे ब्राह्मणों के विरोध के वावजूद ऋण देने और लेने की प्रथा का चलन बढ़ता गया। व्य.ज की दर ऋण लेने वाले की जाति के अनुसार निश्चित होती थी जोकि १२ से ६० प्रतिशत तक होती थी लेकिन आमतौर से व्याज की दर २० प्रतिशत थी। ऋण से मुक्ति पाने के लिए दिवालिया करार दिये जाने की प्रथा नहीं थी। यदि कोई व्यक्ति ऋण चुकता किये विना ही मर जाता था तो उसकी छठी पीढ़ी तक के वंशजों को ऋण चुकता करने के लिए विवश माना जाता था।

कर-व्यवस्था काफी कड़ी थी और कृषि तथा उद्योग और व्यापार पर भारी कर वैठाया गया था। किसान को अपनी उपज के छठे हिस्से से लेकर आधे हिस्से तक को लगान के रूप में दे देना पड़ता था। माल के आने-जाने और विनिमय पर कई तरह की चुंगी और कर वसूला जाता था। अकवर ने भूमिकर को वढ़ाकर एक तिहाई तक कर दिया था लेकिन अन्य करों को उसने उठा लिया था। अकाल के दिनों में भूमिकर माफ कर दिया जाता था। अकवर के जमाने में भी अकाल पड़ा करते थे और १५५६ के अकाल में दुर्भिक्ष पीड़ित द्वारा नर-मांस का भक्षण तक आरम्भ हो गया था। उस समय सड़कें काफी खराव थीं और माल को ढोने के साधन पिछड़े हुए थे, इसलिए कमी वाले क्षेत्रों तक माल पहुँचाना काफी कठिन होता था।

सर्वत्र ही निर्धनता और सम्पन्नता की अति रही लेकिन भारत और आज के अमेरिका में जिस प्रकार कुछ लोग वहुत धनी हैं और कुछ वहुत ही गरीव हैं, इस प्रकार की स्थिति शायद ही कहीं रही हो। भारत में समाज के सवसे निचले स्तर में दासों की गिनती होती थी जिनकी संख्या काफी कम थी उनके ऊपर के वर्ग में शूद्रों को माना जाता था जोकि एक प्रकार से किराये पर काम करने वाले दास ही होते थे और उनकी यह स्थिति पुश्तैनी और जन्मना मानी जाती थी। मुगलों के शासन काल में जनता की स्थिति अपेक्षाकृत कुछ अच्छी थी। अकवर के शासन काल में मजदूरी की दर काफी कम थी लेकिन उसी हिसाव से चीजों के दाम भी काफी कम थे। सन् १६०० में एक रुपये में ९७ सेर गेहूँ या १३९ सेर जौ मिलता था लेकिन १९०१ में एक रुपये में सिर्फ १४॥ सेर गेहूं या २२ सेर जौ मिल पाता था। सन् १६१६ में भारत में रहने वाले एक अंग्रेज ने लिखा है, "पूरे देश में चीजों के दाम कम हैं और हर चीज खूव इफरात से मिलती है यहाँ किसी को रोटी के लाले नहीं हैं।" सत्रहवीं शताव्दी में भारत की यात्रा करने वाले एक अंग्रेज ने लिखा है कि उसका प्रतिदिन का खर्च तीन-चार आने से अधिक नहीं हो पाता था।

चन्द्रगुप्त मौर्य और शाहजहाँ के शासन काल में सम्पन्नता की दृष्टि से भारत ने सवसे अधिक उन्नति की थी। गुप्त राजाओं के शासन काल में भारत अपनी सम्पन्नता की दृष्टि से संसार भर में विख्यात था। युवान-च्वांग ने एक भारतीय नगर का वर्णन करते हुए वताया है कि वह सुन्दर उद्यानों और सरोवरों से सजा हुआ था तथा विभिन्न कलाओं और साहित्य तथा विद्याध्ययन से सम्वन्वित अनेक संस्थाएँ वहाँ थीं। वहाँ के निवासी काफी सम्पन्न थे और धनी परिवारों की संख्या कम नहीं थी....लोग देखने में स्वस्थ और सुन्दर थे और रेशमी वस्त्र ही धारण करते थे। एलफिन्सटन ने

लिखा है, "मुसलमानों ने जिन हिन्दू राज्यों को नष्ट किया था वे इतने धनी थे कि आक्रामकों ने वहाँ हीरे-जवाहरात और सोने-चाँदी की जो लूट मचाई उसका वर्णन करते-करते इतिहासकार थक जाते हैं। निकोलो कोंती ने सन् १४२० में लिखा है कि गंगा नदी के किनारे एक से एक सुन्दर और सम्पन्न नगर बसे हुए थे जहाँ उद्योग और व्यापार फल-फूल रहा था और जिनकी सुन्दरता देखते ही बनती थी। शाहजहाँ के खजाने में इतना धन था कि उसे सोना-चाँदी रखने के लिए १,५०,००० घन-फुट के दो तहखाने बनवाने पड़े थे। विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है कि तत्कालीन प्रमाणों से इस बात में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि उस समय के सभी महत्वपूर्ण नगरों की जनता बहुत सम्पन्न थी। तत्कालीन यात्रियों ने आगरा और फतेहपुर-सीकरी को लन्दन की अपेक्षा अधिक बड़ा और अधिक सम्पन्न बताया है। ऐंक्वेतिल-दूपेरों ने १७६० में महाराष्ट्र के जिलों की यात्रा करते समय उन्हें बहुत सुखी और धन धान्य से पूर्ण पाया। क्लाइव ने सन् १७५९ में बंगाल की प्राचीन राजधानी मुर्शिदाबाद की यात्रा करने के बाद उसके बारे में लिखा है कि वह नगर अपने विस्तार तथा अपनी जन-संख्या और सम्पन्नता की दृष्टि से उस समय के लन्दन के बराबर था, वहाँ के निवासी लन्दन के निवासियों से अधिक धनी थे और वहाँ के महल यूरोप के किसी भी नगर के महलों की तुलना में अधिक बड़े थे। क्लाइव ने भारत को एक ऐसा देश बताया है जिसका धन कभी भी समाप्त नहीं हो सकता। भारत में घूस लेने के आरोप में जब ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में क्लाइव पर मुकदमा चलाया गया तो उसने कहा कि हिन्दुस्तान के हर शहर में मुझे इतना अधिक धन देखने को मिलता था कि मैं दंग रह जाता था—नगर निवासी लूट-मार से बचने के लिए मुझे ढेरों रुपया पैसा देने को तैयार थे और सोने तथा जवाहरातों से भरे अपने खजाने खोल दिया करते थे। इस समय तो मुझे यह सोच कर आश्चर्य होता है कि मैंने उस समय इतने अधिक संयम से क्यों काम लिया।

२. समाज की रचना

राजतंत्र; कानून और नियम; मनुसंहिता; जाति प्रथा का विकास; ब्राह्मणों की उन्नति; ब्राह्मणों के विशेषाधिकार; उनके कर्तव्य; जाति प्रथा का समर्थन।

चूँकि उस समय सड़कें अच्छी नहीं थीं और आवागमन में कठिनाई होती थी इसलिए भारत पर आक्रमण करना और उस पर राज करना आसान था। भारत की भौगोलिक स्थिति ही ऐसी थी कि रेलों के आगमन के पहले तक यह बहुत स्वाभाविक था कि यहाँ एक दूसरे से पृथक अनेक राज्य हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी सरकार एक योग्य सेना के आधार पर ही टिक सकती थी। और चूँकि सेना के नेतृत्व के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती थी जोकि सारी शक्ति को अपनी मुट्ठी में रखता हो इसलिए यह स्वाभाविक था कि भारत में एक शासन पद्धति के रूप में राजतंत्र का ही विकास हो। यहाँ के प्राचीन राजाओं के राज्य में जनता को काफ़ी स्वतंत्रता प्राप्त थी, गाँवों में जनपदों को स्वायत्य शासन का अधिकार प्राप्त था और शहरों में भी व्यापारिक संघ और संगठन बने हुए थे। इसके अलावा ब्राह्मण वर्ग की ओर से भी राजा के अधिकार को कुछ हद तक सीमित करने का प्रयास होता था। मनुस्मृति में राजा के कर्तव्य के बारे में कहा गया है कि उसे निष्पक्ष और दृढ़ होना चाहिए और प्रजा को अपनी सन्तान मान कर उसका कल्याण करना चाहिए। इन हिन्दू राजाओं

की तुलना में बाद के मुसलिम शासक इन आदर्शों और सीमाओं पर बहुत कम ध्यान देते थे। वे लोग वास्तव में अल्प संख्यक आक्रामक थे और अपने शस्त्र वल के आधार पर ही विजेता के रूप में यहाँ रह रहे थे। एक मुसलमान इतिहासकार के शब्दों में वे फौज को ही सरकार की असली ताकत मानते थे। अकवर अवश्य एक अपवाद था जोकि अपनी शक्ति के लिए जनता की सद्भावना और सम्पन्नता पर निर्भर करता था। उस स्थिति में सम्भवतः उसकी शासन व्यवस्था ही सर्वोत्तम थी। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी यह थी कि यह मुख्य रूप से सम्राट के चरित्र पर निर्भर करती थी, क्योंकि वह ही इस व्यवस्था का केन्द्र था। इसी कारण जो व्यवस्था अकवर के उदार व्यक्तित्व के कारण हितकारी थी वही औरंगजेब के शासन में सर्वनाश का कारण बन गयी। चूंकि अफगान और मुगल शासक आम तौर से हिंसा के वल पर ही गद्दी प्राप्त करते थे इसलिए हिंसा और हत्या के वल पर ही उनके उत्तराधिकारी उन्हें गद्दी से हटाया करते थे। इस प्रकार उत्तराधिकार के लिए होने वाले संघर्ष आधुनिक चुनावों की भाँति ही खर्चीले हुआ करते थे हालाँकि उनका राज्य की साधारण अर्थ व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ता था।[1]

मुसलिम शासकों के शासन काल में वादशाह या सुल्तान की इच्छा ही कानून होती थी। लेकिन हिन्दू राजाओं के शासन में कानून राजा के आदेशों, गाँवों की परम्पराओं और जाति सम्वन्धी नियमों का एक सम्मिलित रूप होता था। हिन्दू राजाओं के शासनकाल में न्याय करने का अधिकार परिवार के प्रधान के वाद गाँव के मुखिया को, जाति के मुखिया को, व्यावसायिक प्रधान को, प्रदेश के शासक को और फिर राजा के न्यायमंत्री को और अन्त में स्वयं राजा को प्राप्त होता था। न्याय-व्यवस्था बहुत ही सीधी-सादी थी और न्याय शीघ्र ही प्राप्त हो सकता था। न्याय-व्यवस्था में वकीलों का दखल तो ब्रिटिश शासन के साथ आरम्भ हुआ। लगभग प्रत्येक शासक के शासन-काल में अपराधी को यातना देने की प्रथा का प्रचलन था, अन्त में फीरोज शाह ने इस प्रथा का अन्त किया। कई प्रकार के गंभीर अपराधों के लिए मृत्यु-दंड की व्यवस्था

---

[1] किस प्रकार उत्तराधिकारी शासन पर अधिकार प्राप्त करता था इसका मुसलिम मान्यता के अनुसार उदाहरण है नासिरुद्दीन की वह कहानी जिसमें उसने दिल्ली की सल्तनत प्राप्त करने के लिए (१५०१) अपने पिता गयासुद्दीन को जहर दिया था। जहाँगीर ने, जिसने अपने पिता अकवर से गद्दी छीनने के लिए भरसक कोशिश की थी इस कहानी को इस प्रकार लिखा है—"इसके बाद मैं खिलजियों का मकबरा देखने के लिए गया वहीं नासिरुद्दीन की कब्र है जिसने हमेशा के लिए अपने नाम को कलंकित कर लिया है। इस अभागे ने अपने पिता की हत्या करके गद्दी हथियाई थी, दो बार उसने अपने बाप को जहर दिया। लेकिन उसके बाप के पास एक ऐसा तावीज था जिसके कारण जहर का असर नहीं होता था। तीसरी बार उसने शर्वत में जहर मिला कर खुद अपने हाथ से अपने बाप को दिया। उसका बाप ताड़ गया कि लड़का क्या चाहता है, उसने अपने हाथ पर से तावीज खोल लिया और उसे आसमान की ओर उठाकर कहा—या खुदा मैं अब अस्सी साल का हो गया हूँ और अपनी जिन्दगी में मुझे जितना सुख मिला है उतना आज तक किसी सुल्तान को नहीं मिल सका है। मुझे उम्मीद है कि तुम नासिर को मेरे खून के लिए जिम्मेदार नहीं मानोगे। यह कह कर वह एक घूंट में ही शर्वत पी गया और हमेशा के लिए सो गया।

"फिर मैंने नासिर की कब्र के पास जाकर उसे कई लात मारा।"

थी। हाथ-पैर तोड़ देना, नाक या कान काट लेना, आँखें निकाल लेना, मुँह में पिघला हुआ सीसा छोड़ना, हथौड़े से पैर या हाथ की हड्डियाँ तोड़ देना, हाथ पैर या छाती में सुइयाँ चुभोना, शरीर को आग में जलाना, घुटने की नसों को काट देना, करवत से काटना, शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर डालना, सूली पर चढ़ाना, जिन्दा भूनना, हाथी से कुचलवाकर मरवा डालना, भूखे जंगली कुत्तों से नुचवाना आदि दंड के रूप में प्रचलित था।

एक ही प्रकार की विधि-संहिता सारे भारत में लागू नहीं थी। जीवन के साधारण क्षेत्रों में कानून का स्थान धर्मशास्त्रों को प्राप्त था, जिनकी रचना ब्राह्मणों ने अपने दृष्टिकोण से की थी। इन धर्मशास्त्रों में सबसे प्राचीन है "मनुसंहिता"। मनु को मानव जाति का पौराणिक पूर्वज माना जाता है। उन्हें देवपुत्र माना गया है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि उन्होंने जिन नियमों का प्रणयन किया है वे उन्हें स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त हुए थे। २६८५ श्लोकों की इस संहिता को पहले १२०० वर्ष ई० पू० का माना जाता है, लेकिन अब इसका समय ईसा के बाद की पहली या दूसरी सदी के आसपास का माना जाता है। मूल रूप से इसकी रचना 'मानव' जाति के ब्राह्मणों के आचार-व्यवहार को निर्देशित करने के उद्देश्य से हुआ था लेकिन बाद में इसे समस्त हिन्दू जाति द्वारा अपनी आचार-संहिता के रूप में स्वीकार कर लिया गया। हालाँकि मुसलमान शासकों ने इसे कभी भी मान्यता प्रदान नहीं की लेकिन हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत इसने कानून के सारे अधिकार प्राप्त कर लिए। हिन्दू समाज और नैतिक मान्यताओं का आगे जो विश्लेषण किया गया है, उसमें इस संहिता के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश पड़ा है। इसके सिलसिले में विभिन्न प्रकार की अन्धविश्वास पूर्ण परीक्षाओं का प्रचलन भी हुआ था।[1] इसके अलावा ब्राह्मणों के अधिकार और उनके कर्तव्यों आदि के सम्बन्ध में भी इसमें स्पष्ट निर्देश थे। हिन्दू समाज पर जाति प्रथा का प्रभाव दृढ़तापूर्वक स्थापित करना ही इस संहिता का उद्देश्य था। वैदिक युग के बाद से जाति व्यवस्था बड़ी दृढ़ और पेंचीली हो गयी। इसका कारण यह था कि राजनीतिक व्यवस्था अस्थिर थी और भारत पर विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे। यह आवश्यक हो गया कि हिन्दू और मुसलिम रक्त के सम्मिश्रण को रोकने के लिए कोई दृढ़ व्यवस्था की जाय। वैदिक युग में जाति का आधार, वर्ण या रंग था लेकिन मध्य युग में इसने दूसरा रूप ले लिया और जाति जन्म के आधार पर तय होने लगी। अब जाति के दो प्रमुख उद्देश्य थे। एक तो वंश की परम्परागत सामाजिक स्थिति और दूसरी धर्म की स्वीकृति अर्थात् अपनी जाति के परम्परागत कर्तव्यों का निर्वाह।

जाति प्रथा में जिनका स्थान सर्वोच्च था और जिन्हें इस व्यवस्था का सबसे अधिक लाभ प्राप्त था वे थे ब्राह्मण जाति के अस्सी लाख पुरुष। अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म के विकास के कारण ब्राह्मणों का प्रभाव कुछ कम हो गया था, पुरोहितों की उपेक्षा होने लगी थी। इसलिए ये लोग अपने अवसर की ताक में रहे और गुप्त वंश के शासन की स्थापना के साथ इन्होंने फिर से शक्ति प्राप्त की और समाज का नेतृत्व अपने हाथ में कर लिया। ईसा के बाद दूसरी शताब्दी से ही हमें ऐसे

---

[1] पियेरे दूब्वा नामक एक फ्रान्सीसी धर्म प्रचारक ने जिसका रुख भारत के प्रति असहानुभूतिपूर्ण रहा है लेकिन फिर भी उसने अपने समय में (१८२०) में प्रचलित कुछ धार्मिक परीक्षाओं का बड़ा सच्चा चित्रण किया है।

दस्तावेज मिलते हैं जिनमें ब्राह्मणों को मिले भूमिदान का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों की अन्य सम्पत्ति की भाँति दान में प्राप्त यह भूमि भी ब्रिटिश शासन के पूर्व तक कर से मुक्त थी। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा को ब्राह्मणों पर कभी भी कर नहीं लगाना चाहिए चाहे राजा की आय के सारे साधन समाप्त हो गए हों, क्योंकि क्रुद्ध ब्राह्मण के शाप से राजा और उसके राज्य का सर्वनाश हो सकता है। हिन्दुओं में मृत्यु के समय वसीयतनामा तैयार करने की प्रथा नहीं रही, क्योंकि उनके यहाँ यह प्रथा रही है कि परिवार की सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार होगा और परिवार के प्रधान की मृत्यु के बाद भी सम्पत्ति परिवार में ही रहेगी और उस पर परिवार के पुरुष उत्तराधिकारियों का अधिकार होगा। लेकिन बाद में यूरोपीय प्रभाव के कारण जब वसीयतनामे की प्रथा का प्रचलन हुआ तब ब्राह्मणों ने भी सहर्ष उसको अपना लिया। ब्राह्मणों की आय का प्रमुख साधन था पुरोहिती द्वारा होने वाली आय और भेंट-पूजा आदि। ब्राह्मण में कई प्रकार की अलौकिक शक्ति का वास माना गया था, जैसे—उसके आशीर्वाद से वंध्या स्त्री भी पुत्रवंती हो सकती है। ब्राह्मणों ने अपने इन गुणों को सिद्ध करने के लिए धोखा-धड़ी से भी काम लिया। पहले से सिखा पढ़ा कर ऐसे लोगों को किराये पर रक्खा जाता था जोकि पागलपन का या ऐसे ही किसी रोग का बहाना करते थे और जिनके लिए कहा जाता था कि इन्हें ब्राह्मणों के अपमान करने के कारण ईश्वर ने दंड दिया है। हर मामले में ब्राह्मण से राय ली जाती थी और उसके आदेश के बिना एक कदम भी आगे बढ़ाना मुश्किल था। पुत्र जन्म हो या शादी-विवाह, बीमारी हो या कोई झगड़ा-टंटा, हर मामले में ब्राह्मण की सहायता अत्यावश्यक थी और इस मूल्यवान परामर्श के उपलक्ष में उसे अच्छी दक्षिणा भी प्राप्त होती थी (यह स्थिति थोड़े-बहुत रूप में अब भी वर्तमान है।)

ज्ञान पर एकाधिकार ही ब्राह्मणों की शक्ति का मूल आधार था। ब्राह्मण ही परम्परा के रक्षक और संस्थापक थे। बच्चों को शिक्षा देना, साहित्य की रचना या उसका सम्पादन करना, पवित्र वेदों का अध्यापन आदि उनके ही काम थे। ब्राह्मण-वादी विधि ग्रन्थों के अनुसार यदि कोई शूद्र धर्म ग्रन्थों का पाठ सुन लेता था तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा भर दिया जाता था; यदि वह धर्म ग्रन्थों का पाठ करता था तो उसकी जीभ काट दी जाती थी; और अगर वह धर्म ग्रन्थों को कंठस्थ कर लेता था तो उसका वध कर दिया जाता था; इस प्रकार के दंड की आवश्यकता बहुत कम पड़ती थी और इसी आतंक के बल पर ब्राह्मण अपने ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखा करते थे। मनुसंहिता के अनुसार ब्राह्मण सभी प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया है लेकिन ब्राह्मण को भी अपने वर्ण के अधिकार तब तक प्राप्त नहीं होते थे जब तक कि वर्षों के तप और विद्याध्ययन के बाद उसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हो जाता था। उसके बाद से उसे पूर्ण ब्राह्मण माना जाता था और उसे ब्राह्मण के सारे विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते थे। मनु के अनुसार इस संसार की सब वस्तुओं पर ब्राह्मण का अधिकार है। ब्राह्मण को दिया जाने वाला दान भिक्षा नहीं बल्कि भेंट माना जाता था और ब्राह्मण को दान देना प्रत्येक व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य था। ब्राह्मण की सेवा और उसका सत्कार करना सब का धार्मिक कर्तव्य था।[1] यदि ब्राह्मण कोई अपराध

---

[1]ब्राह्मणों को कुछ यौन विशेषाधिकार प्राप्त थे। दक्षिण के नामबूदिरी ब्राह्मणों को प्रत्येक वधु के साथ प्रथम संभोग का अधिकार प्राप्त था और बम्बई के पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय के पुरोहित अभी हाल तक इस विशेषाधिकार का उपभोग करते थे। पियेरे

३. नैतिक मान्यताएँ और विवाह

धर्म; संतान; बाल विवाह; काम-कला; वेश्यावृत्ति; रोमांश और प्रेम; विवाह; परिवार; स्त्री; स्त्रियों का बौद्धिक जीवन; उनके अधिकार; पर्दा प्रथा; सती प्रथा; विधवा।

जाति प्रथा का अन्त होने पर भारत के नैतिक जीवन में काफी अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशंका है क्योंकि वहाँ नैतिक नियमों का जाति प्रथा के साथ अविभाज्य सम्बन्ध है। वहाँ नैतिकता को ही धर्म माना जाता रहा है—धर्म, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी जाति के द्वारा निश्चित जीवन नियम। हिन्दू होने का मतलब ही यह रहा है कि वह व्यक्ति जाति प्रथा के अनुसार किसी विशेष जाति से सम्बन्धित है और उस जाति के "धर्म" या कर्तव्य को, जोकि प्राचीन परंपरा के अनुसार चला आ रहा है, स्वीकार करता है। प्रत्येक जाति के अपने अधिकार और अपने कर्तव्य थे। इनका सम्मान करते हुए ही एक धर्म भीरु हिन्दू अपना जीवन व्यतीत करता रहा है और अपनी इसी स्थिति में संतुष्ट रहा है और कभी भी वह दूसरी जाति में प्रवेश करने की बात नहीं सोचता था। भगवत् गीता में कहा गया है, "दूसरे का काम (या धर्म) भली भाँति करने के बजाय यह अच्छा है कि आदमी अपने लिए निश्चित काम को करे, चाहे उसमें त्रुटि ही क्यों न हो।" धर्म का मनुष्य के लिए वही महत्व माना गया है जोकि पूर्णरूप से विकसित वृक्ष का बीज के लिए है—मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति और नियति का पूर्ण और व्यवस्थित विकास ही धर्म है। नैतिकता की यह मान्यता इतनी प्राचीन है कि आज भी अधिकांश हिन्दुओं के लिए यह सोच पाना कठिन और लगभग असम्भव है कि किसी विशेष जाति या वर्ण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और वे उसके नियमों और आदर्शों से बँधे हुए नहीं हैं। एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है कि बिना जाति व्यवस्था के हिन्दू समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

प्रत्येक वर्ण या जाति के लिए निश्चित धर्म का पालन करने के साथ ही हिन्दू लोग एक सामान्य धर्म का भी प्रतिपालन करते रहे हैं, जोकि सभी जातियों के लिए अनिवार्य रहा है। जैसे—ब्राह्मण का सम्मान करना और गाय की पूजा करना। इसके बाद संतान उत्पन्न करना भी प्रत्येक हिन्दू का धार्मिक कर्तव्य माना गया है। मनुस्मृति में कहा गया है, "कोई भी व्यक्ति तभी पूर्णता प्राप्त करता है जब कि वह त्रिगुणित होता है—वह स्वयं, उसकी पत्नी और उसका पुत्र।" संतान की उत्पत्ति इसी लिए आवश्यक नहीं मानी गयी कि पुत्र माता-पिता का धन होता है और वृद्धावस्था में उनका सहायक होता है बल्कि वह अपने पितृ की पूजा करता है और समयानुसार उनका श्राद्ध करता रहता है, जिसके अभाव में पितृ स्वर्ग में भूखे और पीड़ित रहते हैं। भारत में सन्तति नियमन या गर्भ निरोध की प्रथा नहीं रही है तथा गर्भपात को ब्रह्म हत्या के समान ही पाप माना गया है। शिशु हत्या कभी-कभी घटित होती थी लेकिन अपवाद के रूप में ही। पिता सन्तान प्राप्त करके सुखी होता था और पिता होने का उसे गर्व रहता था। बच्चों के प्रति बड़ों का स्नेह और वात्सल्य हिन्दू सभ्यता के उज्ज्वलतम पक्षों में से एक है।

बच्चे के जन्म लेने के बाद से ही माता पिता उसके विवाह के बारे में सोचते थे, क्योंकि हिन्दू समाज में विवाह अनिवार्य माना गया है। अविवाहित व्यक्ति एक प्रकार से समाज से बहिष्कृत माना जाता था और उसे कोई सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं होता था। इसी प्रकार स्त्री के लिए अधिक समय तक अविवाहित रहना कलंक

माना जाता था। विवाह को लड़के-लड़की की इच्छा पर नहीं छोड़ा जाता था और न ही रोमांशवादी प्रेम विवाह का आधार होता था। इसका समाज और जाति के लिए विशेष महत्व था और विवाह में समाज और जाति की उपेक्षा सम्भव नहीं थी। संतान के वयप्राप्त होने के पहले ही, इसके पहले ही कि उनमें काम भावना वेगवती हो, माता-पिता उनका विवाह कर देते थे। स्वयं अपने चुनाव और इच्छा के आधार पर किये जाने वाले विवाह को मनु ने गांधर्व विवाह का नाम लिया है। इस प्रकार के विवाह की अनुमति थी, लेकिन उसे कामेच्छा से प्रेरित माना जाता था और इसी लिए उसका सम्मान कम होता था।

भारत में वच्चों के वहुत कम आयु में ही वयप्राप्त हो जाने के कारण, जिससे कि वारह वर्ष की आयु की लड़की उतनी ही वड़ी दिखाई देती है जितनी कि अमेरिका में चौदह या पन्द्रह वर्ष की आयु की लड़की दिखाई देती है। यहाँ नैतिक और सामाजिक दृष्टि से एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी।[1] यौन दृष्टि से वयप्राप्त होने पर ही विवाह हो जाना चाहिए, या जैसा कि अमेरिका में होता है विवाह को तव तक स्थगित रक्खा जाय जव तक कि लड़का आर्थिक दृष्टि से प्रौढ़ता प्राप्त न कर ले। यदि पहले हल को स्वीकार किया जाय तो उसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य गिरता है और कमजोर शरीर के लोग पैदा होते हैं। जनसंख्या में अस्वाभाविकरूप से वृद्धि होती है और स्त्रियां सन्तान उत्पत्ति का साधन मात्र रह जाती हैं। यदि दूसरे हल को स्वीकार किया जाय तो विवाह में अप्राकृतिक विलम्व, यौनकुन्ठा और निराशा, वेश्यावृत्ति और लैंगिक रोगों की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस दृष्टि से हिन्दुओं ने दोनों में से वाल विवाह को कम हानिकर मान कर स्वीकार किया तथा इसके सम्भावित संकटों को कम करने के लिए गौने की प्रथा का प्रचलन किया, जिसमें वधू विवाह के वाद पूर्ण यौवना होने तक अपने पिता के घर ही रहती है। विवाह की यह प्रथा वहुत पुरानी है और पवित्र मानी जाती है। इसके पीछे यह भी उद्देश्य था कि क्षणिक आकर्षण के प्रभाव में आकर लोग अन्तर्जातीय विवाह को प्रश्रय न देने लगें। वाद के युग में इस प्रथा को इस लिए और भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ कि मुसलमान आक्रामक औरतों को उठा ले जाते थे लेकिन वे विवाहित स्त्रियों को गुलाम वनाकर नहीं ले जा सकते थे। क्योंकि इसलाम धर्म में इसकी मनाही की गई है। इस प्रथा का एक उद्देश्य यह भी था, और इस पर वाद में विशेषरूप से जोर भी दिया जाने लगा कि लड़की को पुरुषों के स्वाभाविक कामवेग के प्रभावों से वचाया जाय।

जैसा कि काम शास्त्र सम्वन्धी हिन्दू साहित्य से प्रकट होता है, इस वात को विल्कुल स्वाभाविक माना गया कि जरा से कामोत्तेजन पर ही पुरुष अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए सक्रिय हो जाते हैं। वात्स्यायन का (कामसूत्र) काम-कला के शारीरिक और मानसिक पक्षों पर विस्तार से प्रभाव डालने वाला एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके

---

[1] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि गाँधी जी इसको अस्वीकार करते थे कि इस प्रकार की शीघ्र वयप्राप्ति का कोई शारीरिक आधार है। उन्होंने लिखा है—"मुझे वाल-विवाह से घृणा है और मैं किसी वाल विधवा को देखकर काँप उठता हूँ। मेरी नजर में इससे वड़ा अन्धविश्वास दूसरा नहीं हो सकता कि भारत की जलवायु ही ऐसी है कि बच्चे कम उम्र में ही यौन वय प्राप्त कर लेते हैं। समय से पूर्व ही यौन प्रौढ़ता प्राप्त करने का कारण है वह वौद्धिक और नैतिक वातावरण जो कि हमारे पारिवारिक जीवन को घेरे रहता है।"

वारे में कहा जाता है कि वात्स्यायन ने इसकी रचना संसार के कल्याण के उद्देश्य से और ईश्वरीय प्रेरणा से प्रेरित होकर उस समय की थी जव वे वाराणसी में धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर रहे थे। वात्स्यायन ने इसमें एक जगह लिखा है, "यदि कोई पुरुष किसी युवती को वहुत अधिक लज्जाशील समझ कर उसकी उपेक्षा करता है तो वह स्त्री-मन की गति के प्रति निपट अज्ञानी के रूप में उस युवती की घृणा का पात्र होता है।"

लेकिन हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि यौन सम्वन्ध के प्रति हिन्दुओं की सम्वेदनशीलता ने व्यभिचार को प्रोत्साहन दिया होगा। वाल विवाह द्वारा विवाह पूर्व के यौन सम्वन्धों की रोकथाम की गयी थी और स्त्रियों में सच्चरित्रता और सतीत्व की ऐसी भावना भरी जाती थी कि यूरोप और अमेरिका की अपेक्षा भारत में व्यभिचार को किसी प्रकार का प्रोत्साहन मिलना कठिन था। वेश्यावृत्ति अधिकांशतः मन्दिरों तक ही सीमित थी। दक्षिण के मन्दिरों में "देवदासियों" की प्रथा प्रचलित थी। "देवदासी" का शाब्दिक अर्थ होता है देवता की दासी या सेविका, लेकिन वास्तव में वे वेश्याएँ होती थीं। प्रत्येक तामिल मन्दिर में इस प्रकार की देवदासियाँ होती थीं जो देव प्रतिमा के सम्मुख गाने और नाचने का काम करती थीं और पुरोहितों तथा भक्तों का मनोरंजन भी करती थीं। इनमें से कुछ तो निश्चय ही साध्वियों का जीवन व्यतीत करती थीं। लेकिन उनमें से अधिकांश को भक्तों की कामेच्छा की पूर्ति करने दिया जाता था। उनकी आय का एक अंश मन्दिर को प्राप्त होता था। इनमें से कई देवदासियाँ सार्वजनिक या निजी समारोहों के अवसर पर गाने-नाचने जाया करती थीं। जापान की "गीशाओं" की भाँति इनमें से कुछ शिक्षित भी होती थीं जो उन शिक्षित व्यक्तियों को सहवास का सुख प्रदान करती थीं जिनकी पत्नियाँ अशिक्षित होती थीं। एक धार्मिक ग्रन्थ के आधार पर पता चलता है कि सन् १००४ में तन्जोर में चोल नरेश राजराजा के मन्दिर में चार सौ देवदासियाँ थीं। यह प्रथा परंपरा से चली आ रही थी इस लिए शायद कोई भी इसे अनैतिक नहीं मानता था। भले घर की महिलाएँ प्रायः अपनी एक पुत्री को मन्दिर में देवदासी की तरह उसी धार्मिक भावना से रखवा देती थीं जिस तरह कि लड़कों को धार्मिक श्रद्धा के साथ भिक्षु वनने या मन्दिर में पुरोहित का काम करने के लिए भेज दिया जाता था। परन्तु आम जनता देवदासियों को वेश्या ही मानती थी और वेश्याओं के रूप में ही उनका उपयोग करती थी। डूव्वा ने उन्नीसवीं शदी के दक्षिणी मन्दिरों की इस प्रथा का विस्तार से वर्णन किया है और लिखा है कि "देवदासियों को दिन में दो वार मन्दिर में नृत्य और गायन करना पड़ता है। नृत्य में ये काफी कुशल होती हैं लेकिन इनके हाव भाव वहुत शृंगारिक होते हैं। गायन में भी ये प्रवीण होती हैं लेकिन इनके गीतों में देवी देवताओं के प्रेम सम्वन्धों का शृंगारपूर्ण चित्रण ही प्रधान होता है।"

आधुनिक भाषा में जिसे रोमांसवादी प्रेम कहा जाता है उसके लिए वहुत कम गुंजाइश छोड़ी गयी थी। भारतीय साहित्य में हमें जयदेव और चण्डीदास के काव्यों की भाँति प्रगाढ़ प्रेम के अनेक आदर्श उदाहरण मिलते हैं लेकिन साधारणतया ये आत्मा एवं परमात्मा के प्रति आत्म समर्पणपूर्ण प्रेम के प्रतीक थे। वास्तविक जीवन में इन्हें पति-पत्नी के प्रेम का प्रतीक माना जाता था। प्रेम काव्य ने कभी तो स्पष्टरूप से शृंगार भावना को अभिव्यक्ति प्रदान की और कभी रहस्यवाद का रूप लिया। परन्तु प्रेम के क्षणिक आवेग के आधार पर भारत में कभी भी विवाह सम्वन्धों की स्थापना को प्रोत्साहन नहीं प्रदान किया गया। मनु ने आठ प्रकार के विवाहों की स्वीकृति प्रदान

की है परन्तु उनमें अपहरण विवाह और प्रेम विवाह को नैतिक दृष्टि से सबसे नीचे स्थान दिया है। बाद के युग में उन विवाहों को सबसे अधिक दृढ़ और स्थायी माना गया जोकि आर्थिक आधार पर आधारित होते थे। डूब्वा का कहना है कि उसके समय में भारत में क्रय विवाह की इतनी अधिक प्रथा थी कि विवाह करने और पत्नी को खरीद कर लाने में कोई अन्तर नहीं था।[1] सबसे अच्छा विवाह उसे ही माना जाता था जोकि माता-पिता द्वारा धर्म शास्त्र के नियमों के अनुसार कराया जाता था। विवाह अपनी जाति में और अपने गोत्र के बाहर किया जाता था। पुरुष कई पत्नियाँ रख सकता था लेकिन उसकी उसी पत्नी को प्रधानता प्राप्त होती थी जो कि उसकी अपनी जाति की होती थी। स्त्री का धार्मिक कर्तव्य था तन-मन से पति की सेवा करना और पति का कर्तव्य था पत्नी को संतुष्ट और सुरक्षित रखना।

हिन्दू परिवार मुख्यरूप से पितृ प्रधान था। स्त्री का स्थान पुरुष के बाद में ही माना गया था। स्त्रियों की तुलना संसार की सबसे सुन्दर और कोमल वस्तुओं से की गई है। एक पौराणिक हिन्दू कथा में कहा गया है कि जब ब्रह्मा स्त्री की रचना करने बैठे तो उनके पास कोई साधन ही नहीं बचा था क्योंकि सारे तत्वों का उपयोग वे पुरुष का निर्माण करने में कर चुके थे इस लिए उन्होंने अपनी सृष्टि की विभिन्न वस्तुओं से तरह-तरह के तत्व लेकर स्त्री की रचना की—"उन्होंने चन्द्रमा से गोलाई, लताओं से वक्रता, तृण से कंपन, बेंत से पतलापन, पुष्पों से सौन्दर्य, पत्तियों से हल्कापन, हरिण से नेत्र, सूर्य किरणों से हास, मेघों से रुदन, वायु से अस्थिरता, मयूर से गर्व, तोते के वक्ष से मृदुता, मधु से मधुरता, सिंह से क्रूरता, अग्नि से उष्णता, आदि आदि तत्वों को लेकर स्त्री की रचना की और फिर उसे पुरुष को सौंप दिया।

इतना होने पर भी भारत में स्त्रियों की स्थिति दयनीय रही है। वैदिक युग में स्त्रियों को जो उच्च स्थान प्राप्त था वह बाद में ब्राह्मण पुरोहितों के प्रभाव के कारण और मुसलमानों का अनुकरण करने के कारण समाप्त हो गया। मनुस्मृति में स्त्री के विरुद्ध जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है वे प्राचीन ईसाई धर्म शास्त्रों के अनुरूप हैं—"स्त्री ही दुख कष्ट का मूल है, स्त्री ही संघर्ष और अपमान का मूल है, स्त्री ही संसार के बंधनों में बाँधती है इस लिए स्त्री से बचना ही श्रेयस्कर है।" यह नियम भी स्थापित किया गया कि स्त्री जीवन भर शासित रहेगी, पहले पिता उस पर शासन करेगा फिर पति और अन्त में पुत्र उस पर शासन करेगा। पत्नी अपने पति को "स्वामी", "प्रभु", "देवता" आदि कहा करती थी और सार्वजनिक स्थलों में अपने पति के साथ नहीं बल्कि उससे कुछ दूर पीछे चलती थी। स्त्री से यह आशा की जाती थी कि वह अत्यन्त विनम्रता से अपने पति की सेवा करे, उसके लिए भोजन बनाये, पति तथा पुत्रों के खा लेने के बाद ही जो कुछ भोजन बचे उसे स्वीकार करे तथा रात में सोते

---

[1] स्त्राबो ने (सन् २० के आस-पास) लिखा है कि तक्षशिला में एक विचित्र प्रथा प्रचलित थी—जो लोग निर्धनता के कारण अपनी लड़कियों का विवाह नहीं कर पाते थे वे बाजे-गाजे के साथ उनको बाजार में लाकर खड़ी कर देते थे और जब कोई ग्राहक आगे आता था और माँग करता था तो पहले तो लड़की के पिछले हिस्सों को कन्धे तक वस्त्रहीन करके दिखाया जाता था और फिर उसके सामने के अंगों को दिखाया जाता था, और ग्राहक राजी हो जाता था तथा लड़की भी उसके साथ जाने को तैयार होती थी तो उसको उसके हाथ बेच दिया जाता था और इस तरह दोनों का विवाह हो जाता था।

समय पति के पाँव दवाये और उसके चरणों की वंदना करे। मनु ने लिखा है कि पत्नी को अपने पति को देवता मान कर उसकी सेवा करनी चाहिए और कभी भी उसको कष्ट नहीं देना चाहिए। जो पत्नी अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन करती है उसे सियार का जन्म लेना पड़ता है।

हमारे इस युग के पूर्व तक जैसा कि यूरोप और अमेरिका में होता रहा है, भारत में भी केवल उच्चवर्ग की महिलाओं या देवदासियों को ही शिक्षा प्राप्त होती थी। स्त्री के लिए विद्याध्ययन अनुचित माना गया था। उसे वेद का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। महाभारत में भी स्त्रियों के वेदपाठ का विरोध किया गया है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त के समय में ब्राह्मण अपनी पत्नी को दर्शन या धर्म शास्त्र आदि की शिक्षा नहीं देते थे।

मनुस्मृति के अनुसार पत्नी, पुत्र और दास अपनी निजी सम्पत्ति नहीं रख सकते थे, उनके द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर परिवार के स्वामी का ही अधिकार माना गया है। परन्तु दहेज में प्राप्त धन पर स्त्री का ही अधिकार माना गया है। युवराज की शैशवावस्था में उसकी माता को राजकाज सँभालने का अधिकार था। दुश्चरित्रता के आरोप में पति पत्नी को छोड़ सकता था लेकिन पत्नी किसी भी हालत में पति को छोड़ नहीं सकती थी। पत्नी के रुग्ण, झगड़ालू, उद्दंड, शरावी या फजूल खर्च होने पर पति को अधिकार था कि वह दूसरी पत्नी रख ले। मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि स्त्रियों के प्रति कोमलता से व्यवहार करना चाहिए और उन पर पुष्प तक से आघात नहीं करना चाहिए। कहा गया है कि पति को चाहिए कि वह अपनी पत्नी को अच्छी तरह वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रखे। मार्ग में ब्राह्मण पुरोहित और वृद्ध की भाँति स्त्रियों के लिए भी जगह छोड़ देनी चाहिए तथा गर्भवती स्त्रियों, वधुओं और कन्याओं को सबसे पहले भोजन कराना चाहिए। परिवार में पत्नी का शासन नहीं चल पाता था लेकिन माता के रूप में उसकी आज्ञा का पालन किया जाता था। कई पुत्रों की माता को बहुत अधिक सम्मान प्राप्त था हालाँकि मनुस्मृति में पितृ प्रधान व्यवस्था पर जोर दिया गया है परन्तु माता को पिता से भी बढ़कर पूज्य माना गया है।

भारत में वैदिक युग के बाद स्त्रियों की स्थिति में जो ह्रास हुआ उसमें मुसलिम विचारों के प्रभाव का बहुत बड़ा हाथ है। ईरानियों और मुसलमानों के साथ ही भारत में पर्दा प्रथा की शुरुआत हुई। यही कारण है कि पर्दे की प्रथा का प्रचलन दक्षिण के बजाय उत्तर में अधिक है। मुसलिम आक्रमणकारियों से अपनी स्त्रियों की रक्षा के उद्देश्य से हिन्दुओं ने पर्दे की प्रथा को बहुत तेजी से अपनाया। भले घर की स्त्रियाँ केवल अपने पति और पुत्र को ही चेहरा दिखाती थीं और बिना घूँघट के घर के बाहर नहीं निकल सकती थीं। कुछ वर्गों में किसी आदमी से उसकी पत्नी के स्वास्थ्य आदि के बारे में पूछ-ताछ करना असभ्यता माना जाता था। अतिथि से भी घर की स्त्रियों से बात चीत की आशा नहीं की जाती थी।

सती प्रथा, या पति की मृत्यु होने पर उसके शव के साथ उसकी विधवा को भी जला देने की प्रथा भारत में बाहर से आई थी। हीरोदोतस ने लिखा है कि प्राचीन सीथियाइयों और थ्रेसियाइयों में सती प्रथा का प्रचलन था। सम्भवतः यह प्रथा उस विश्व-व्यापी प्राचीन प्रथा का ही एक रूप थी जिसमें किसी राजा या धनी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी अन्य वस्तुओं के साथ उसके दास-दासियों और उसकी पत्नियों या रखेलों में से एक या एकाधिक को उसके शव के साथ समाधिस्थ कर दिया जाता था।

अथर्ववेद में तो इस प्रथा को बहुत प्राचीन माना गया है लेकिन ऋगवेद में हमें ऐसा संकेत मिलता है कि वैदिक काल में यह प्रथा काफी हल्की हो गयी थी और विधवा के लिए केवल इतना आवश्यक माना जाता था कि वह अपने पति की चिता की दाह क्रिया के पूर्व कुछ क्षण के लिए चिता पर लेट लेती थी। परन्तु महाभारत से पता चलता है कि इस प्रथा का पुनः प्रचलन हो गया था। महाभारत में कई स्त्रियों के सती होने के उदाहरण मिलते हैं। स्त्री को पति की चिता के साथ ही जला दिया जाता था या जैसा कि दक्षिण में तेलगू लोगों में प्रचलित था, उसे जीवित ही दफन कर दिया जाता था। स्त्रावो ने लिखा है कि सिकन्दर के समय में भारत में सती प्रथा प्रचलित थी। मनु ने इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः ब्राह्मण पहले इस प्रथा के विरोधी थे परन्तु वाद में उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया था और अन्त में इसे एक धार्मिक महत्व प्रदान कर दिया। यह माना गया कि एक वार किसी पुरुष के साथ विवाह हो जाने पर स्त्री सदा-सर्वदा के लिए उसकी हो जाती है और अन्य दूसरे जन्मों में भी उसी की पत्नी होती है। राजस्थान में इस प्रथा ने जौहर का रूप लिया जिसमें राजपूत योद्धा अपनी पराजय को समीप देखकर अपनी पत्नियों को अग्नि की भेंट चढ़ा देते थे और फिर लड़ते हुए प्राण त्याग देते थे। मुगलों के शासन काल में जौहर प्रथा का वड़ा प्रचलन हुआ यहाँ तक कि अकवर भी इस प्रथा का अन्त नहीं कर सका। एक वार की वात है कि अकवर ने एक हिन्दू वधू को, जोकि अपने पति की चिता पर सती होना चाहती थी वहुत समझाने-बुझाने का प्रयास किया लेकिन वह नहीं मानी। जव वह चिता की ज्वाला में जलने लगी तो अकवर के पुत्र दानियाल ने भी उसको चिता से उतर आने के लिए कहा लेकिन उसने किसी की एक नहीं सुनी। इसी तरह एक दूसरी विधवा को जव सती होने से रोकने का प्रयास किया गया तो उसने दीये की लौ में अपनी उँगली रख दी। उसकी उँगली विल्कुल जल गई लेकिन उसने उफ तक नहीं किया और इस प्रकार यह प्रकट किया कि उसे सती होने से रोकना वेकार है। विजय नगर में स्त्रियाँ सामूहिक रूप से सती होती थीं। किसी राजा या वड़े आदमी के मरने पर उसकी सभी स्त्रियाँ एक साथ सती हो जाती थीं। कोंती ने लिखा है कि राय या राजा ने अपनी वारह हजार पत्नियों में से तीन हजार को अपनी प्रिय रानी चुन रक्खा था और वह भी इस शर्त पर कि उसकी मृत्यु होने पर वे सव स्वेच्छा से उसके शव के साथ जल मरेंगी, और इन स्त्रियों को अपने इस विशेषाधिकार पर वड़ा गर्व था।

जैसे जैसे भारत का यूरोप के साथ सम्पर्क वढ़ता गया, सती प्रथा की लोकप्रियता कम होती गयी, लेकिन हिन्दू विधवाओं का कई प्रकार के अधिकारों से वंचित हो जाना जारी रहा। चूंकि यह माना गया था कि विवाह के वाद स्त्री सदा के लिए अपने पति की हो जाती है, इसलिए पति की मृत्यु के वाद उसका पुनर्विवाह एक गंभीर अपराध माना जाता था। पति की मृत्यु के वाद विधवा को जीवन भर अविवाहित रहना पड़ता था और उसका सिर मुड़ा दिया जाता था। वह दया धर्म के काम करते हुए और अपने वच्चों की देख रेख करते हुए जीवन काट देती थी। पति की मृत्यु पर विधवा अनाथ नहीं होती थी वल्कि जीवन यापन के लिए अपने पति की सम्पत्ति पर सवसे पहला अधिकार उसी का माना जाता था। परन्तु इस प्रकार के नियम मध्यम-वर्ग और उच्च वर्ग की धर्मप्रिय महिलाओं द्वारा ही निभाये जाते थे। सिख और निचली जातियों की स्त्रियाँ इनकी उपेक्षा ही करती थीं।

अध्याय १८

देवताओं का देश

संसार के अन्य किसी भी देश में धर्म इतना अधिक शक्तिशाली, इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है जितना कि भारत में रहा है। भारत के इतिहास में विदेशियों का शासन वारम्वार स्थापित होता रहा है, तो उसका एक कारण यह भी रहा है कि भारतीयों अर्थात् हिन्दुओं को कभी भी इसकी विशेष चिन्ता नहीं रही कि कौन उनका शोषण करता है, या कौन उन पर शासन करता है—भारतीय या विदेशी। क्योंकि उनके लिए राजनीति की अपेक्षा धर्म ही अत्यधिक महत्त्व की वस्तु रहा है; वे शरीर के वजाय आत्मा में अधिक विश्वास करते रहे हैं तथा शरीर या जीवन को क्षणिक और आत्मा को अनन्त मानते रहे हैं। जव सम्राट अशोक ने भिक्षु का रूप ग्रहण कर लिया और अकवर ने भी जव हिन्दू धर्म को लगभग अपना लिया तो यह सिद्ध हो गया कि भारत में धर्म ही सबसे अधिक वलवान है और सबसे अधिक दृढ़ व्यक्ति भी उसके प्रभाव से वच नहीं सकते। स्वयं हमारे इस युग में, इस वीसवीं शताव्दी में भी जिस व्यक्ति ने भारत को इतिहास में पहली वार एकतावद्ध किया वह राजनीतिज्ञ के वजाय एक संत था।

१. बौद्धमत का पिछला इतिहास

वौद्ध धर्म का चर्मोत्कर्ष; महायान; वौद्ध धर्म, विरक्तवाद या दुख-सुख; समतावाद और ईसाई मत; वौद्ध धर्म का ह्रास; सिंहल, वरमा, तुर्किस्तान, तिव्वत, कम्वोडिया, चीन और जापान में वौद्ध धर्म का प्रसार।

अशोक की मृत्यु के दो सौ वर्ष वाद भारत में वौद्ध धर्म अपने विकास के चरम विन्दु पर पहुँच कर ह्रास की ओर वढ़ने लगा। अशोक से लेकर हर्ष तक का काल कई माने में भारतीय धर्म, शिक्षा और काल का स्वर्णयुग रहा है। यही समय वौद्ध धर्म के विकास का भी समय है, लेकिन उस समय जो वौद्ध धर्म प्रचलित था वह वास्तव में वुद्ध द्वारा प्रचारित वौद्ध धर्म नहीं था; उसे एक तरह से हम वुद्ध के विद्रोही शिष्य सुभद्द का धर्म कह सकते हैं, जिसने वुद्ध के देहावसान के वारे में सुनकर कहा था, "भिक्षुओ, वस वहुत हुआ! अव रोने और विलाप करने की आवश्यकता नहीं है। अव महाश्रमण हमारे मध्य नहीं हैं, जो कि हमें वरावर कहा करते थे कि तुम्हें यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए। अव हम अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार कर सकेंगे। जो हमें प्रिय है वह हम करेंगे और जो हमें प्रिय नहीं है वह हमें नहीं करना पड़ेगा।"

इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त करके वौद्धों ने सवसे पहला काम यह किया कि अपने आप को दो भागों में विभक्त कर लिया। वुद्ध के देहावसान के दो सदी वाद ही वौद्ध मत सोलह विभिन्न मतों में विभक्त हो गया। दक्षिण भारत और सिंहल के वौद्ध तो कुछ समय तक अपने मत के मूल संस्थापक वुद्ध के विशुद्ध और

आडम्बरहीन मत को स्वीकार करते रहे, जो कि आगे चलकर "हीनयान" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे बुद्ध को एक देवता के रूप में नहीं वल्कि एक महान नेता और शिक्षक के रूप में पूजा करते थे तथा पालि भाषा में लिखे गए प्राचीन वौद्ध ग्रंथ ही उनके धर्मग्रंथ थे। परन्तु समस्त उत्तर भारत तथा तिव्वत, मंगोलिया, चीन और जापान सेबौद्ध धर्म के जिस रूप को स्वीकार किया गया वह आगे चलकर "महायान" के नाम में प्रसिद्ध हुआ, जिसका स्वरूप कनिष्क द्वारा आयोजित किए गए धर्म सम्मेलन ने निर्धारित किया था। इन राजनीतिक भावना से प्रेरित धर्मशास्त्रियों ने वुद्ध में देवत्व की कल्पना की और उन्हें ईश्वर का ही एक अंश सिद्ध किया। इन्होंने पातंजलि के योग-दर्शन को भी स्वीकार कर लिया और संस्कृत में नए धर्मग्रंथों का प्रणयन किया। इस मत ने अध्यात्मवाद और दार्शनिकता को प्रश्रय प्रदान करने के साथ ही शाक्यमुनि के निराशावाद के स्थान पर एक अधिक लोकप्रिय धर्म की स्थापना की।

महायान मत के अंतगर्त वौद्ध धर्म में ब्राह्मणवादी देवी-देवताओं, पौराणिक कथाओं और कर्मकांडों को पर्याप्त मात्रा में सम्मिलित कर लिया गया और उसका रूप-निर्धारण इस प्रकार किया गया कि वह कुषाण, तातारों और तिव्वत के मंगोलों के लिए व्यवहार्य सिद्ध हो सके, जिन पर कनिष्क ने अपना शासन स्थापित कर लिया था। एक ऐसे स्वर्ग की कल्पना की गई जिसमें अनेक वुद्धों का वास था, और जिनमें से अमिद वुद्ध को जनता में सवसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस स्वर्ग के साथ एक नरक की कल्पना भी की गई और यह कहा गया कि इस पृथ्वी पर किए गए अच्छे और वुरे कर्मों के अनुसार ही मृत्यु के वाद स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होगी। इस नए धर्मशास्त्र में सवसे वड़े भिक्षु उन वोधिसत्वों या भावी वुद्धों को माना गया, जिन्होंने स्वेच्छा से निर्वाण प्राप्त नहीं किया ताकि वार-वार जीवन धारण कर सकें और संसार में दूसरों को सत्य-मार्ग का दर्शन करा सके, हालाँकि वे निर्माण-प्राप्ति के सर्वथा योग्य थे।[1] जैसा कि भूमध्यसागर के समीपवर्ती देशों में ईसाई धर्म के साथ हुआ, इन अलौकिक वुद्धों और वोधिसत्वों की संख्या इतनी अधिक वढ़ गई कि उनकी भीड़ में वास्तविक वुद्ध विलकुल ओझल हो गये। वास्तविक वुद्ध के स्थान पर पूजापाठ आदि में इन्हीं वोधिसत्वों को प्रधानता प्राप्त होने लगी। मृतक के फूल आदि अवशेषों की पूजा, पवित्र जल का प्रयोग, धूप-दीप और कंठी-माला आदि का उपयोग, भिक्षुओं की पुरोहितोचित पोशाक, पूजा-पाठ में एक मृत भाषा का प्रयोग, भिक्षुओं और भिक्षुणियों तथा मठों और संघारामों की प्रथा, पाप या अपराध की स्वीकारोक्ति, व्रत-उपवास, साधु-संतों और ऋषि-मुनियों की पूजा, आदि-आदि सवका मध्ययुगीन ईसाई मत की भाँति वौद्ध धर्म में भी प्रचलन हो गया, और ऐसा लगता है कि इनका प्रचलन ईसाई धर्म से वहुत पहले वौद्ध धर्म में ही हुआ था।[2] हीनयान या प्राचीन वौद्ध धर्म की तुलना में महायान की वही स्थिति थी जो कि स्तोइकवाद या विरक्तिवाद की और प्राचीन ईसाईमत की तुलना में कैथलिकवाद की थी। वुद्ध ने भी लूथर की भाँति यह

---

[1] इस सम्वन्ध में एक पौराणिक कथा का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें एक राजा जो कि स्वर्ग जाने के सर्वथा योग्य था, नरकवासियों के प्रति सहानुभूति से भर कर नरक में ही रहने लगता है और जव तक सव को नरक से मुक्ति नहीं मिल जाती है तव तक वह वहीं रहता है।

[2] फर्ग्यूसन का कहना है, "वौद्धों ने रोमन चर्च से पाँच शताव्दी पूर्व ही उन कर्म-काण्डों और वाह्याडम्वरों का आविष्कार कर लिया था जोकि दोनों धर्मों में अव समान-

मान बैठने की त्रुटि की थी कि धार्मिक कर्म काण्ड को प्रवचनों और नैतिक उपदेशों के आधार पर वदला जा सकता है। वौद्ध धर्म में भी वैसी ही पौराणिक कथाओं, वाह्याडम्बरों और कर्मकाण्डों को लोकप्रियता प्राप्त हुई जोकि हमें ईसाई मत के प्राचीन रूप और आधुनिक प्रोटेस्टेन्टवाद की सादगी और सरलता के विरुद्ध कैथलिकवाद की शान-शौकत और नाटकीय काम में दृष्टिगोचर होते हैं।

परन्तु महायान की जिन पौराणिक गाथाओं और बहुदेववाद आदि के फलस्वरूप वुद्ध के वास्तविक वुद्ध धर्म का अन्त हुआ था उन्हीं के कारण भारत में महायान का भी अन्त हुआ। इसका कारण यह है कि चूँकि बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के इतने अधिक देवी देवताओं, कर्मकाण्डों और पौराणिक गाथाओं को अपना लिया था कि धीरे-धीरे दोनों धर्मों में कोई अन्तर ही नहीं रह गया और चूँकि हिन्दू धर्म की जड़ें देश में गहराई तक जमी हुई थीं, उसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त थी और उसके पास आर्थिक साधन भी वौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक थे, इसके अलावा उसे राजनीतिक समर्थन भी प्राप्त था। इसलिए धीरे-धीरे उसने वौद्ध धर्म को अपने में विलीन कर लिया। वड़ी तेजी से वौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासों का प्रचलन आरम्भ हुआ यही नहीं उसमें शक्ति सम्प्रदाय के भोगवाद का भी प्रचलन हो गया। धीरे-धीरे धैर्यपूर्वक ब्राह्मणों ने अपना प्रयत्न जारी रखा और अन्त में अपना पुराना प्रभाव प्राप्त कर लिया तथा अन्त में अत्यन्त प्रतिभाशाली युवक दार्शनिक शंकराचार्य द्वारा वेदों को हिन्दू धर्म की आधार शिला के रूप में पुनः प्रस्थापित किये जाने के वाद से भारत में वौद्धों का वौद्धिक नेतृत्व समाप्त हो गया।

वौद्ध धर्म पर अन्तिम प्रभावकारी आघात वाहर से लगा। अशोक के वाद वौद्ध धर्म संघ की प्रतिष्ठा इतनी वढ़ गई थी कि मगध के सर्वोत्तम और प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने वौद्ध धर्म को अपना कर भिक्षुओं के रूप में संघारामों में रहना आरम्भ कर दिया था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश के कार्यों के लिए योग्य व्यक्तियों का अभाव होने लगा तथा योद्धाओं और प्रतिभाशाली नेताओं की कमी होने लगी। एक तरफ यह स्थिति थी दूसरे तरफ भारत राजनीतिक दृष्टि से विभाजित था। इस प्रकार विदेशियों को आक्रमण की खुली छूट मिल गयी। जव यहाँ अरव आये तो उन्हें निरर्थक घूमते रहने वाले वौद्ध भिक्षुओं को देख कर चिढ़ होने लगी और उन्होंने उनके धर्म संघों को नष्ट कर डाला और हजारों वौद्ध भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया। जो लोग वाकी बच गये उन्होंने धीरे-धीरे हिन्दू धर्म को स्वीकार लिया और ब्राह्मण वाद ने वौद्ध धर्म को गले से लगाकर उसका अस्तित्व ही मिटा दिया। इस दृष्टि से ब्राह्मणवाद हमेशा वहुत सहिष्णु रहा है, वौद्ध धर्म तथा अन्य अनेक मतों के उत्थान और पतन के पूरे इतिहास में ब्राह्मणवाद धैर्यपूर्वक अपनी जगह कायम रहा और अन्त में उसी की विजय हुई। ब्राह्मणों ने वुद्ध को भी एक देवता के रूप में अपना लिया और उन्हें विष्णु का एक अवतार घोषित कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने पशु वलि वन्द कर दी और वौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धांत को भी अपना लिया।

रूप से पाये जाते हैं।" एडमन्ड्स ने वौद्ध और ईसाई धर्म की कथाओं में आश्चर्यजनक समानता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। फिर भी इन रीति-रिवाजों और विभिन्न मतों की उत्पत्ति के वारे में हमारा ज्ञान इतना अल्प है कि हम यह नहीं कह सकते कि इनमें से कौन अधिक पुराना है।

लगभग ५०० वर्ष तक बौद्ध धर्म का धीरे-धीरे ह्रास होता गया और अन्त में भारत से वह बिल्कुल विलीन ही हो गया।

परन्तु इस बीच बौद्ध धर्म एशिया के अन्य देशों में व्यापकरूप से विजय प्राप्त कर रहा था। दक्षिण में श्रीलंका और मलय प्रायद्वीप में, उत्तर में तिब्बत और तुर्किस्तान में, पूर्व में बरमा, स्याम, कम्बोडिया (कम्बोज), चीन, कोरिया और जापान में उसी तरह बौद्ध धर्म, बौद्ध साहित्य, और कला का प्रसार हो रहा था जिस प्रकार कि मध्य युग में रोमन और बाइजेन्टाइन सन्तों और धर्म प्रचारकों के द्वारा पश्चिमी यूरोप और रूस में सभ्यता का प्रसार हुआ था, इनमें से अधिकांश देशों का सांस्कृतिक चर्मोत्कर्ष बौद्ध धर्म की प्रेरणा से ही सम्भव हुआ। अशोक के समय से लेकर नवीं शताब्दी में अपने पतन के काल तक सिंहल का अनुराधापुर नामक नगर पूर्वी संसार के प्रमुख नगरों में से एक माना जाता था। वहाँ के बोधि-वृक्ष की पूजा लगभग २००० वर्षों से होती आई है और वहाँ कैन्डी की पहाड़ियों पर बना बौद्ध मन्दिर एशिया के बौद्धों के लिए एक बहुत बड़ा तीर्थ स्थान रहा है।[1] बरमा का बौद्ध धर्म सम्भवतः बौद्ध मत के सभी स्वरूपों में सबसे अधिक शुद्ध है और वहाँ के भि क्षुओं का जीवन भी धार्मिक दृष्टि से बड़ा आदर्श रहा है। बरमा में बौद्ध धर्म के प्रभाव में आम जनता ने भारत से अधिक उन्नति की है। तुर्किस्तान के बलुए प्रदेशों को खोद-कर स्वने हेडिन, ओरेल स्टीन आदि विद्वानों ने अनेक बौद्ध पाण्डु लिपियों और सैकड़ों अन्य प्रमाणों का पता लगाया है, जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि वहाँ कनिष्क के समय से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक बौद्ध संस्कृति का गहरा प्रभाव था। सातवीं शताब्दी में स्रोङ त्सान गाम्पो ने तिब्बत में एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की और नेपाल को भी अपने राज्य में मिला कर लाशा में अपनी राजधानी स्थापित की। फिर उसने अपने देश की जनता में बौद्ध धर्म और शिक्षा का प्रचार करने के लिए भारत से बौद्ध भिक्षुओं को आमंत्रित किया। स्वयं भी उसने पढ़ना-लिखना सीखने के उद्देश्य से चार साल के लिए राजकाज से छुट्टी ले ली और फिर तिब्बत के स्वर्ण युग का सूत्र-पात किया। पर्वतों में हजारों बौद्ध मठों की स्थापना हुई तथा बौद्ध ग्रन्थों की दुर्लभ पाण्डुलिपियों को एकत्र किया गया और बाद में उनको ३३३ खण्डों में प्रकाशित किया गया। इस प्रकार अनेक दुर्लभ ग्रन्थ नष्ट होने से बच गए। यहाँ ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की ओट में सारे संसार से अलग-अलग रहकर बौद्ध धर्म ने अपने आप में अनेक अंधविश्वासों, मठवाद और महन्तवाद का समावेश कर लिया। इस स्थिति की तुलना केवल मध्य-युगीन युरोप से ही की जा सकती है। लासा नगर से कुछ ऊँचाई पर पहाड़ पर पोतला मठ में जन-सम्पर्क से बिलकुल दूर निवास करनेवाले दलाई लामा को तिब्बत की धर्मभीरु जनता बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का अवतार मानती है। कम्बोडिया अथवा हिन्दचीन में बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के साथ मिलकर पौवार्त्य कला के एक सबसे अधिक सम्पन्न युग का निर्माण किया। बौद्ध धर्म ने भी ईसाई धर्म की भाँति अपनी जन्मभूमि

---

[1] कैंडी के इस मन्दिर में बुद्ध का एक दाँत रखा हुआ है, जो कि दो इंच लम्बा और एक इंच मोटा बताया जाता है। इसे एक रत्नजटित मंजूषा में रखा जाता है और किसी को दिखाया नहीं जाता है। प्रति वर्ष इस दाँत का जुलूस निकाला जाता है, जिसमें भाग लेने के लिए संसार के कोने-कोने से श्रद्धालु बौद्धजन काफी बड़ी संख्या में आते हैं। मन्दिर की दीवार पर बने भित्ति चित्रों में बुद्ध को पाताल लोक में पापियों का वध करते हुए चित्रित किया गया है।

के बाहर ही सबसे अधिक सफलताएँ प्राप्त कीं, और एक बूंद रक्त बहाये बिना ही कई देशों को अपने प्रभाव में कर लिया।

२. नये देवगण

हिन्दू धर्म; ब्रह्मा, विष्णु और महेश; कृष्ण; काली; पशु-देवता; गौ माता; द्वैतवाद और अद्वैतवाद।

जिस हिन्दूधर्म ने अब बौद्ध धर्म का स्थान ग्रहण किया था वह कोई एक धर्म नहीं था। अब इसमें अनेक मतों और कर्मकांडों का समावेश हो गया था। हिन्दू धर्म के माननेवालों में केवल चार बातें समान थीं—प्रत्येक हिन्दू जाति-प्रथा और ब्राह्मणों के नेतृत्व को स्वीकार करता था, धर्म और देवताओं की प्रतिनिधि के रूप में गाय की पूजा करता था, कर्मवाद और आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करता था, तथा सभी हिन्दुओं ने वैदिक देवताओं के स्थान पर नये देवताओं को स्वीकार कर लिया था। हिन्दू धर्म में बाद में आकर मिल जानेवाले कुछ मतों में वैदिक काल की प्रकृति-पूजा का प्रचलन रहा, कुछ ऐसे अनुष्ठानों ने भी ब्राह्मणों की स्वीकृति प्राप्त कर ली, जो वैदिक भावना के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं।

अधिकांश देवी-देवता असाधारण ज्ञान और शक्ति आदि के प्रतीक के रूप में स्वीकार किए गए हैं। ब्राह्मण के चार मुख माने गये हैं और कार्तिकेय के छः। शिव के तीन नेत्र माने गये हैं और इंद्र के एक सहस्र नेत्र माने गये हैं। अधिकांश देवताओं की चार भुजाएँ हैं। ब्रह्मा को सभी देवताओं में प्रमुख स्थान प्राप्त है, परन्तु उन्हें वैधानिक प्रधान का ही पद प्राप्त है, पूजा-पाठ में उनका कोई विशेष उल्लेख नहीं होता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश में से केवल विष्णु ही मानव जाति के कल्याण के लिए बार-बार अवतार लेते रहे हैं। कृष्ण को उनका सबसे बड़ा अवतार माना जाता है। कृष्ण का जन्म कारागार में हुआ था। उनका जीवन दिव्य लीलाओं और चमत्कारों से पूर्ण था। बताया जाता है कि उनका देहावसान एक विषैले तीर के लगने के कारण हुआ था।

ब्रह्मा को सृष्टि के निर्माता, विष्णु को पालनकर्ता और शिव को संहारकर्ता के रूप में माना गया है। इन तीनों को मिला कर "त्रिमूर्ति" कहा गया है। केवल जैनों को छोड़कर अन्य सभी इन तीनों की पूजा करते हैं। हिन्दू धर्म को मोटेतौर से दो भागों में विभक्त किया गया है, एक तो वैष्णवमत जोकि विष्णु के आराधकों का मत है और दूसरा शैव या शाक्तमत, जोकि शिव के आराधकों का मत है। इन दोनों मतों में किसी प्रकार का विभेद नहीं है और दोनों के अनुयायी एक दूसरे के मन्दिरों में पूर्ण श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं। दोनों देवताओं को समानरूप से सम्मान प्राप्त है। वैष्णव लोग अपने माथे पर तिलक लगाते हैं और शाक्त त्रिपुंड।

शिव की पूजा-आराधना हिन्दू धर्म के सबसे प्राचीन और सबसे अधिक प्रभावशाली तत्वों में है। सर जान मार्शल ने लिखा है कि मोहेंजोदड़ो में शैव मत के प्रचलन के प्रमाण प्राप्त हुए हैं और तीन सिर वाले शिव लिंग मिले हैं। इन अवशेषों के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि शैव मत संसार का प्राचीनतम मत है जोकि आज भी जीवित है। शिव का शाब्दिक अर्थ होता है शुभ और कल्याणकारी, परन्तु स्वयं शिव को संहार का देवता माना गया है। जोकि सृष्टि के अन्तिम काल में सृष्टि की सभी वस्तुओं का संहार कर डालता है, वैसे शिव को केवल संहार

का ही नहीं उस वरन सृजन शक्ति का भी प्रतीक माना गया है, जोकि मृत्यु की शक्ति को चुनौती देती है और सृष्टि के विकास को जारी रखती है। भारत के कुछ क्षेत्रों में विशेषकर बंगाल में शिव की इस सृजन शक्ति को काली या दुर्गा के रूप में पूजा जाता है। शक्ति के पूजकों के विभिन्न सम्प्रदाय हैं। पिछली शताब्दी तक शक्ति के पूजन में नर-बलि की प्रथा थी परन्तु अब केवल बकरे की बलि चढ़ाई जाती है। काली की प्रतिमा का रूप बड़ा विस्मयकारी है। उसका रंग काला होता है, मुँह खुला हुआ, जीभ बाहर निकली हुई, गले में मुण्ड की माला, एक शव पर नर्तन करती हुई। उसकी चार भुजाओं में से एक में खड्ग और दूसरे में मुण्ड होता है तथा अन्य दो हाथ आशीर्वाद के रूप में फैले हुए होते हैं, क्योंकि काली शिव की पत्नी पार्वती का ही रूप है, जिसे मातृत्व की देवी माना जाता है। वह कोमल हृदया भी है और निर्मम भी, वह जीवन दान भी कर सकती है और जीवन ले भी सकती है। सम्भव है कि उसका मातृत्व वाला रूप सुमेरिया से भारत में आया हो और यहाँ आकर उसने यह भयावह रूप भी धारण कर लिया हो।

ये हिन्दू धर्म के प्रमुख देवगण हैं, हालाँकि हिन्दू देवी-देवताओं की संख्या तीन कोटि मानी गयी है। इनमें से कुछ मनुष्य के रूप में हैं तो कुछ पशु-पक्षियों के रूप में। अनेक पशुओं को देवताओं का रूप प्रदान किया गया है जैसे हाथी गणेश का रूप माना गया है। सर्प को नाग देवता के रूप में पूजा जाता है और प्रति वर्ष एक विशेष त्यौहार के अवसर पर नाग को दूध पिलाया जाता है। मैसूर के पूर्वी प्रदेश में नाग देवता के अनेक मन्दिर हैं।

परन्तु हिन्दुओं के लिए पशुओं में सबसे अधिक पवित्र है गाय। समस्त भारत में गौ को माता माना जाता है और प्रत्येक हिन्दू गौ-पूजक होता है। गोबर और गौमूत्र को अत्यन्त पवित्र माना जाता है और उन्हें सब प्रकार की अस्वच्छता और अपवित्रता को दूर करने वाला माना जाता है। गाय को मारना तो दूर रहा उसको डंडे से पीटना तक पाप माना जाता है। गाय के मरने पर धार्मिक विधि के साथ उसको नदी में बहाया जाता है या भूमि में गाड़ दिया जाता है। सम्भवतः आरम्भ में गाय का महत्व इस उद्देश्य से स्वीकार किया गया होगा कि वह भारत की कृषि व्यवस्था का केन्द्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पशु-पूजा संसार के प्रत्येक जाति के इतिहास में किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। इसलिए हिन्दुओं के गौ प्रेम से हमें चकित नहीं होना चाहिए।

बहुदेव वाद के प्रचलन का मूल कारण यह है कि साधारण व्यक्ति नैसर्गिक शक्तियों के रहस्य को स्वतन्त्ररूप में समझने में असमर्थ होता है। हिन्दुओं का मत रहा है कि मनुष्य की अनुभव शक्ति अत्यन्त सीमित होती है और विभिन्न घटनाओं की तह में जो आदि शक्ति कार्यरत है उसको हम अपनी इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव नहीं कर सकते। ब्राह्मणों की दार्शनिक सहिष्णुता भी हिन्दू देवी-देवताओं की संख्या की वृद्धि का कारण रही है क्योंकि उन्होंने हर प्रकार के स्थानीय और जातीय देवी-देवताओं को मान्यता प्रदान की है और उन्हें किसी न किसी प्रमुख देवता के स्वरूप या अवतार के रूप में माना है। अन्तोगत्वा सभी देवताओं को परब्रह्म का ही एक रूप माना गया और इस प्रकार बहुदेववाद तथा द्वैतवाद, एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद में परिणत हो गया। इस प्रकार राम, कृष्ण, दुर्गा या गणेश ही को एक ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों के रूप में स्वीकार किया।

३. धार्मिक विश्वास

पुराण; सृष्टि का पुनर्जन्म; जीव की अनश्वरता; कर्म का सिद्धान्त और उसका पक्ष; पाप के कारण ही जीव का पुनर्जन्म; मुक्ति।

इस मिश्रित और गहन धर्म शास्त्र के साथ ही भारत में एक अन्धविश्वासपूर्ण और अत्यन्त गम्भीर पुराण शास्त्र का निर्माण भी हुआ। वैदिक भाषा का प्रचलन कम हो जाने के कारण जब वेद साधारण जनों की समझ के बाहर हो गए और ब्राह्मणों का आध्यात्मवाद अत्यधिक गूढ़ और कठिन हो गया तो व्यास तथा अन्य ऋषियों ने ५०० वर्ष ई० पू० से लेकर ईसा के पश्चात ५०० वर्ष के बीच की लगभग १००० वर्ष की अवधि में अठारह पुराणों की रचना की, जिनमें लगभग चार लाख श्लोक संग्रहीत हैं। इन पुराणों में सृष्टि की रचना के रहस्य को, निश्चित कालक्रम से सृष्टि की रचना और उसके संहार को तथा विभिन्न देवताओं की कथा को विस्तार के साथ लिखा गया है। इन ग्रन्थों में साहित्यिक रूप तर्क या पूर्ण अभिव्यक्ति का कोई दावा नहीं किया गया और न ही संख्याओं के बारे में किसी के संयम का प्रदर्शन किया गया है। उदाहरणार्थ, उर्वसी और पुरुरवा के बारे में कहा गया है कि उन्होंने ६१,००० वर्ष तक सुख-भोग किया , परन्तु सरल भाषा, लोकप्रिय शैली, रोचक दृष्टांतों आदि के कारण पुराणों ने अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की।

इन पुराणों में और इनसे प्रभावित अन्य मध्ययुगीन भारतीय धर्म ग्रन्थों में हमें विश्व की रचना के सम्बन्ध में एक अत्यन्त आधुनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। इस सृष्टि के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड का निर्माण और संहार बराबर चल रहा है, उसका विकास और ह्रास एक चक्र की भाँति बराबर जारी है। जिस प्रकार एक पौधा बढ़ता है और नष्ट हो जाता है और फिर जन्म लेता है उसी प्रकार संसार की सब वस्तुएँ जीवन-मरण के चक्र में बँधी हुई हैं। इसी लिए पुराणों में सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा को प्रजापति कहा गया है जोकि संसार के इस अन्तहीन चक्र का संचालन करता है। सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में पुराणों का कथन है कि ब्रह्मा ने एक अन्डे के रूप में उसकी सृष्टि की। सृष्टि के इतिहास के प्रत्येक चक्र या कल्प को एक सहस्र महायुगों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक महायुग ४३२०००० वर्ष का माना गया है। प्रत्येक महायुग में चार युग होते हैं जिनमें मानव जाति का क्रमशः पतन होता चलता है। वर्तमान महायुग के तीन युग व्यतीत हो चुके हैं और इस प्रकार कुल ३८८८८८८ वर्ष बीत चुके हैं। हम इस महायुग के चौथे अंश कलयुग में हैं। कलयुग के ५०३५ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और ४२६९६५ वर्ष अभी शेष हैं। इसके बाद सृष्टि का अन्त हो जायगा और इस प्रकार ब्रह्मा का एक दिन अर्थात् कल्प पूरा होगा, जोकि ४३२००००००० वर्ष का माना गया है। प्रत्येक कल्प में सृष्टि की नये सिरे से रचना होती है और स्वाभाविक गति से इसका विकास होता चलता है तथा अन्त में स्वाभाविक रूप से ही इसकी समाप्ति होती है। इस प्रकार दार्शनिकों की दृष्टि में संसार का अन्त सुनिश्चित है ठीक उसी भाँति जिस प्रकार की कोई भी प्राणी अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। सृष्टि की इस गति में किसी नये विकास या प्रगति के लिए स्थान नहीं है, इसका तो मात्र पुनरावर्तन होता रहता है।

करोड़ों वर्षों के इन महायुगों में करोड़ों जीव एक योनि से दूसरी योनि में, एक शरीर से दूसरे शरीर में बराबर जन्म धारण करते रहे हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपने आप में कोई ईकाई नहीं है बल्कि वह जीवन-चक्र की एक कड़ी मात्र है। जीव की

महायात्रा का एक पग मात्र है। इसी प्रकार विभिन्न योनि का अपने आप में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है बल्कि आज इन पुष्पों या कीट-पतंगों के रूप में जिन जीवों को हम देखते हैं कि वे कल मनुष्य योनि में रहे होंगे या भविष्य में मनुष्य योनि प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार जीवन एक है। कोई भी मनुष्य केवल अपने एक अंश में मनुष्य है तथा उसमें पशु का अंश भी होता है। पिछली योनि के कुछ गुण उसमें बाकी रह जाते हैं। दूसरे अर्थ में मनुष्य विश्व-प्रकृति का एक अंश मात्र है। वह प्रकृति का केन्द्र या उसका शासक नहीं है, प्रत्येक जीवन जीव की महायात्रा का एक अंश मात्र होता है स्वयं अपने आप में पूर्ण नहीं होता है। प्रत्येक स्वरूप या आकृति क्षणिक और परिवर्तनशील है परन्तु सत्य एक और शाश्वत है। जिस प्रकार एक जीवन में कई वर्ष या दिन होते हैं उसी प्रकार एक जीव के कई जन्म होते हैं और इन जन्मों में जीव कभी तो विकास प्राप्त करता है और कभी पतन की ओर बढ़ता है।[1]

हिन्दुओं का मत है कि हम इस तथ्य को स्वीकार करके ही जीवन के रहस्य को समझ सकते हैं कि प्रत्येक जीवन पिछले जन्म के अच्छे या बुरे कर्मों के फलस्वरूप सुख या दुख भोगने के लिए प्राप्त होता है। कोई भी कार्य चाहे वह छोटा हो या बड़ा, अच्छा हो या बुरा, प्रभाव से शून्य नहीं होता, उसका असर निश्चित रूप से होता है। यही कर्मवाद का सिद्धान्त है, जोकि सर्वोपरि है। यदि कोई व्यक्ति पापरहित और न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करता है तो इसका पुरस्कार उसे किसी एक जीवन में नहीं बल्कि उन कई जीवनों में प्राप्त होगा जिनमें उसे भविष्य में प्रवेश करना पड़ेगा। अगले जन्म में उसे उच्चता योनि और पहले से अधिक अच्छा भाग्य प्राप्त होगा। लेकिन यदि वह पापपूर्ण जीवन व्यतीत करता है तो अगले जन्म में वह शूद्र या कुत्ते का जन्म जीवन प्राप्त करेगा। यूनानियों के "मोइरा" या भाग्य के सिद्धान्त की भाँति कर्मवाद का सिद्धान्त भी मनुष्यों और देवताओं पर समानरूप से लागू होता है, यहाँ तक कि देवता भी किसी के कर्मफल को बदल नहीं सकते। लेकिन कर्म का अर्थ भाग्य नहीं होता। भाग्य के अनुसार मनुष्य अपने जीवन को बदलने में बिल्कुल असमर्थ होता है, लेकिन कर्म के अनुसार वह (यदि उसके समस्त जीवनों को एक ही जीवन का अंश माना जाय तो) अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होता है। कर्म के प्रभाव का अन्त स्वर्ग या नरक में भी नहीं होता अर्थात् स्वर्ग या नरक में जाकर जीव जन्म और मरण के बन्धन से बच नहीं सकता। शरीर के नाश के बाद जीव किसी विशेष दंड को भोगने के लिए नरक में जा सकता है या किसी विशेष पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए स्वर्ग में जा सकता है। परन्तु कोई जीव सदा के लिए स्वर्ग या नरक में नहीं रह सकता। वहाँ जाने वाला प्रत्येक जीव देर या सवेर से पृथ्वी पर वापस लौट कर आता है और अनेक जन्मों में अपने कर्म का फल भोगता है।[2]

---

[1] इस प्रश्न के उत्तर में कि हमें अपने पिछले जन्मों की स्मृति क्यों नहीं होती, हिन्दुओं का कहना है कि हमें अपनी शैशवावस्था की स्मृति भी नहीं होती है। और चूंकि हम इसका अनुमान भर कर सकते हैं कि प्रौढ़ावस्था के पूर्व हमारी शैशवावस्था भी रही होगी उसी प्रकार हमारे वर्तमान जीवन में हमारा भाग्य हमारे पिछले जन्म के कर्मों के फलस्वरूप ही निर्धारित होता है।

[2] हिन्दुओं के मतानुसार स्वर्गों की संख्या सात है जिनमें से एक स्वयं पृथ्वी पर है और शेष आकाश में एक के ऊपर एक स्थापित हैं। इसी प्रकार नरक इक्कीस हैं जो सात-सात के तीन खण्डों में बँटे हुए हैं। जीव को नरक में सदा एक जैसा ही दंड

शरीर शास्त्र की दृष्टि से इस सिद्धान्त में एक सत्य छिपा हुआ है, वह यह कि हम अपने पूर्वजों के ही प्रतिरूप हैं और हमारी सन्तान हमारा प्रतिरूप होगी। पिता के अवगुण उसकी सन्तान में यहाँ तक कि अगली कई पीढ़ियों तक कुछ न कुछ अंशों में विद्यमान रहते हैं। कर्मवाद के सिद्धान्त से मनुष्य हत्या, चोरी, आलस्य या कृपणता जैसे बड़े-छोटे पापों से बचने का प्रयास करता है उसमें नैतिकता की भावना का विकास होता है और सभी जीवों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के माध्यम से भारत में ऐसे नैतिक नियमों और आचार-व्यवहार के सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ जो संसार की अन्य किसी भी सभ्यता में प्रचलित नैतिक मान्यताओं से अधिक व्यापक और तर्कपूर्ण हैं। अच्छे हिन्दू इस बात का प्रयास करते हैं कि जहां तक सम्भव हो उनके हाथों किसी कीड़े-मकोड़े तक की हिंसा न हो। दार्शनिक दृष्टि से कर्मवाद के सिद्धान्त में उन अनेक रहस्यमय या कटु अथवा अन्यायपूर्ण प्रतीत होने वाले जीवन के अनुभवों और तथ्यों के कारण को समझने में सहायता मिली। मनुष्यों में पाई जाने वाली शाश्वत असमानताओं का यह अर्थ लगाया गया है कि अपने कर्मों के अनुसार सब अपना-अपना जीवन भोग रहे हैं। इतिहास में मानवता को जिन-जिन भयानक कष्टों और दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा है उन सबको मनुष्यों के कर्म से प्रेरित माना गया है। जीवन में हमें जिन कष्टों को भोगना पड़ता है, वे सब हमारे पिछले जन्मों के परिणामस्वरूप होते हैं, जो कि कुछ समय या एक जीवन की दृष्टि से अन्याय पूर्ण प्रतीत होते हों लेकिन अन्त में न्यायपूर्ण ही सिद्ध होते हैं।[1] कर्मवाद के सिद्धान्त की प्रेरणा से मनुष्य अपने कष्टों को शान्ति और धैर्य के साथ सहन करता है और आशा तथा विश्वास के साथ जीवन का सामना करता है। अधिकांश धर्मों ने इसी प्रकार जीवन के दुख कष्ट और असमानता तथा अन्याय के रहस्य को स्पष्ट करने तथा जनता को धैर्य और विश्वास दिलाने का प्रयास किया है। हिन्दू धर्म शास्त्र के अनुसार मनुष्य कम से कम यह सोच कर शान्त्वना पा लेता है कि मुझे अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण ही इस जन्म में कष्ट भोगना पड़ रहा है। और यदि मैं इस जीवन में अच्छे कर्म करूँगा तो अगले जन्म में मुझे उनका अच्छा फल प्राप्त होगा।

परन्तु वास्तविकता यह है कि साधारणतया हिन्दू इतने आशावादी नहीं रहे हैं। निराशापूर्ण परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय पराधीनता और आर्थिक शोषण के कारण वे जीवन को एक प्रकार के दंड के रूप में मानने के आदी रहे हैं। वेद, जिनकी रचना

नहीं भोगना पड़ता है बल्कि उसको मिलने वाली यातनाओं का रूप बदलता जाता है। पियेरे दूब्वा ने हिन्दुओं की नरक सम्बन्धी कल्पना की दाँते के "इन्फर्नो" से समानता बताते हुए लिखा है, "कि नरक में जीव को यातना देने के लिए आवश्यक सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध हैं जैसे अग्नि, सर्प, विषैले जीव-जन्तु, खूँखार जानवर और शिकारी पक्षी, राक्षस आदि-आदि। कुछ पापियों को नाक में रस्सी डालकर चाकुओं और नोकीले कीलों पर घसीटा जाता है, कुछ को चक्की जैसी चट्टानों की दो पाटों में रखकर पीसा जाता है आदि-आदि।"

[1]भारत में जाति प्रथा को दूर करने के मार्ग में सबसे बड़ी सैद्धान्तिक बाधा है कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास, क्योंकि पुराणपंथी हिन्दू यह मानता है कि जातिगत विभेद मनुष्य के पूर्व जन्म के फल के ही परिणामस्वरूप हैं। और ईश्वरीय प्रेरणा से ही इस व्यवस्था की सृष्टि हुयी है इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन लाना धर्म विरुद्ध है।

उत्तर से आयी एक साहसी और उद्यमी जाति द्वारा हुई थी आशा और विश्वास के स्वरों से परिपूर्ण हैं, लेकिन बुद्ध ने जो कि उसी जाति के प्रतिनिधि थे, पाँच सौ वर्ष बाद जीवन के महत्व को ही अस्वीकार कर दिया, और पुराणों ने, जिनकी रचना बुद्ध से भी पाँच सौ वर्ष बाद हुई इतना गम्भीर निराशावादी दृष्टिकोण उपस्थित किया है जिसकी पश्चिम के किसी मत से तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि वहाँ दो एक ही ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने कुछ सन्देहवादी और निराशावादी दृष्टिकोण अपनाया है।[1] जीवन के प्रति पश्चिम के निवासियों का उत्साह और आशा से परिपूर्ण जीवन औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व तक पूर्वी देशों के निवासी ठीक से समझ पाने में असमर्थ रहे। पश्चिम के निवासियों की निर्मम कार्यरतता, उनकी असंतोषपूर्ण महत्वाकांक्षा, श्रम को अधिक से अधिक बचाने और इस दृष्टि से नये से नये आविष्कार में लगे रहने की प्रवृत्ति में पूर्व वालों को एक प्रकार का छिछलापन और बचपना मालूम पड़ता था। जिस प्रकार पूर्व पश्चिम की इस गतिशीलता और प्रगति को, आशावादिता और जीवन के अवश्यंभावी अन्त के प्रति उसके उपेक्षाभाव को समझ पाने में असमर्थ है उसी प्रकार पश्चिम पूर्व की शान्ति, स्थिरता और आशाहीनता को समझ पाने में असमर्थ है।

यम ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया, "इस संसार में सबसे अधिक आश्चर्यजनक कौन सी वस्तु है?" युधिष्ठिर बोले, "एक के बाद एक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो रहा है इतना देखते हुए भी मनुष्य इस प्रकार विचरण करते रहते हैं जैसे कि वे अमर हों।" महाभारत में भी कहा गया है, "संसार पर मृत्यु की छाप पड़ी हुई है। जब मैं जानता हूँ कि मृत्यु किसी भी दशा में रुक नहीं सकती तो शास्त्री के अनुसार आचरण करने से मुझे क्या मिलेगा ?"

इसलिए हिन्दू धर्म में जिस चीज का अन्तिम महत्व है वह है मोक्ष या मुक्ति। मोक्ष के भी दो रूप माने गए हैं एक तो इच्छा से मुक्ति और फिर अन्त में जीवन से मुक्ति। भर्तृहरि ने इच्छा से मुक्ति के बारे में लिखा है—"संसार की प्रत्येक वस्तु भय और संशय का कारण होती है और भय से मुक्ति का एक मात्र उपाय है सभी इच्छाओं से मुक्ति प्राप्त कर लेना।....एक समय था जब कि लोगों के व्यवहार से मेरा मन दुखी रहता था और दिन इतने लम्बे लगते थे कि काटे नहीं कटते थे, फिर एक ऐसा समय आया जब कि मैं अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति में लगा और तब दिन मुझे छोटे प्रतीत होने लगे। लेकिन अब मैं गिरि-कन्दरा में, अपनी गुफा में एक शिला पर बैठकर तत्व चिन्तन करता हूँ तो मुझे अपने विगत जीवन के बारे में सोचकर बारंबार हँसी आती है।" महात्मा गान्धी ने मुक्ति के दूसरे प्रकार पर जोर दिया है। वे कहते हैं, "मैं पुनः जन्म धारण करना नहीं चाहता।" हिन्दू धर्म में व्यक्ति की सबसे बड़ी और अन्तिम अभिलाषा यही रहती है कि उसे जन्म मरण के चक्र से मुक्ति मिले, उसे उस अहम से मुक्ति मिले जोकि बारम्बार के जन्म-मरण के फलस्वरूप बढ़ता जाता है। मोक्ष न तो धर्म भावना के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है और न सत्कर्मो

---

[1] जर्मन दार्शनिक शापेनहोवर बुद्ध की भाँति जीवनेच्छा को ही सारे कष्टों का मूल मानता था। वह जीवन से अधिक मृत्यु को महत्त्व देता था। इसी प्रकार कवि हेन भी जीवन की अपेक्षा मृत्यु के गीत गाता था। कांट ने भी कहा है, "क्या कोई समझदार आदमी, जो कि जीवन का लम्बा अनुभव प्राप्त कर चुका है और मानव जीवन के महत्त्व पर विचार कर चुका है, फिर से इस जीवन के कटु अनुभवों को प्राप्त करने के लिए राजी हो सकेगा ?"

द्वारा, उसे तो अपने स्वत्व और अहंकार के पूर्ण दमन के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। अपने आप को मिटा कर ही जीव परब्रह्म में एकाकार हो सकता है।

४. धर्म की कुछ विचित्रताएँ

अन्ध विश्वास; ज्योतिष; लिंग पूजा; धार्मिक रीति-रिवाज; बलिदान; शुद्धि; पवित्र जल।

इस धर्म शास्त्र के साथ ही साथ हर प्रकार के अन्ध विश्वास भी फलते-फूलते रहे। देवताओं के निमित्त होने वाली बलि, आहुति, नैवेद्य, जंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक और ओझागिरी, ज्योतिष, चमत्कार, जप-तप, व्रत-नियम, सामुद्रिक शास्त्र या हस्तरेखा विद्या, भविष्य कथन, आदि-आदि अनेक ऐसी कलाओं ने जोकि थोड़े या बहुत अंशों में अन्ध विश्वास पर आधारित हैं, भारत में योगी-यती और साधु-सन्त, ज्योतिषी और हस्तरेखा विद् तांत्रिकों आदि को उत्पन्न किया। पिछले बारह सौ साल में ऐसे जंत्र-मंत्र और तांत्रिक विधियों का विकास हुआ जिनके आधार पर हर प्रकार की समस्याओं को आसानी से हल किया जा सकता है। इस प्रकार के जंत्र-मंत्र को धर्म का स्थान लेते देख विद्वान ब्राह्मण कुछ चिन्तित अवश्य हुए लेकिन उन्होंने इसका विरोध उचित नहीं समझा, क्योंकि एक तो उन्हें यह चिन्ता थी कि जनता के अन्ध विश्वास का विरोध करने से स्वयं उनकी शक्ति में लोगों का जो विश्वास है उस पर भी आँच आ सकती है। इसके अलावा शायद उन्होंने यह सोचा कि अन्ध विश्वास का उन्मूलन असम्भव है, तथा एक अन्ध विश्वास के समाप्त होने पर उसकी जगह दूसरा उत्पन्न हो जाता है।

अधिकांश हिन्दुओं ने फलित ज्योतिष को मान्यता प्रदान की और इस बात पर विश्वास कर लिया कि आकाश के ग्रह नक्षत्रों का प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। रजस्वला स्त्रियों के लिए धूप में बैठना उचित नहीं माना गया। कौशितकी उपनिषद् में कहा गया है कि चन्द्रमा की नियमित रूप से पूजा करने से भौतिक समृद्धि प्राप्त होती है। भविष्य वक्ताओं ने हाथों की रेखाएँ देख कर, स्वप्न विचार द्वारा और आकाश में विभिन्न नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर लोगों का भूत और भविष्य बताना शुरू किया। वे मंत्र शक्ति के बल पर प्रेत बाधा दूर करने, साँप को वश में करने और सर्प दंस का विष उतारने आदि का दावा करने लगे। ऐसे लोगों की भरमार हो गई जोकि उचित दक्षिणा के बदले हर प्रकार के पूजा-पाठ और तंत्र-मंत्र के लिए तैयार रहते थे। इनकी सहायता से किसी को वश में करना, विरोधी को संकट में डालना, शत्रु का नाश करना, और मन चाहे कार्य को सिद्ध करना, बहुत आसान हो गया। जँभाई लेने और छींकने में भी शुभाशुभ का विचार होने लगा। स्वयं ब्राह्मण भी जँभाई लेते समय मुँह के आगे चुटकी बजाता है ताकि दुष्ट आत्मायें उसके मुख में प्रवेश न कर सकें। यूरोप के किसानों की तरह हिन्दू लोग भी हमेशा से इसके लिए चिन्तित रहे हैं कि उन पर किसी की नजर न लग जाय, कभी किसी शत्रु की प्रेरणा से उन पर दुर्भाग्य का आक्रमण न हो यहाँ तक कि काम शक्ति की पुनः प्राप्ति और वंध्या स्त्रियों को पुत्रवती बनाने तक के लिए जंत्र-मंत्र का सहारा लिया जाने लगा।

हिन्दुओं के लिए मोक्ष और निर्वाण तक का उतना महत्व नहीं रहा है जितना कि संतान प्राप्ति का रहा है। यौन शक्ति की अभिलाषा और उत्पादन क्षमता के प्रतीकों की पूजा के रूप में लिंग पूजा का प्रचलन इसी कारण हुआ। संसार के अधि-

कांश देशों में लिंग पूजा का कभी न कभी प्रचलन रहा है और भारत में यह प्रथा प्राचीन काल से लेकर आज बीसवीं शताब्दी तक में चली आ रही है। लिंग पूजा के मुख्य देवता हैं शिव, लिंग है आराध्य प्रतिमा, और तंत्र हैं इसके मूल सिद्धान्त। तांत्रिक मतों में लिंग या योनि की पूजा का विशेष प्रचलन रहा है । शिव को न केवल पुरुष शक्ति का बल्कि मात्र शक्ति का भी रूप माना गया है और दुर्गा या शक्ति को शिव का ही एक अंश माना गया है। भारत में सर्वत्र लिंग पूजा के प्रमाण देखे जा सकते हैं। काशी के नैपाली मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों में मैथुनरत मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। दक्षिण के मन्दिरों में विशाल शिव लिंग मिलते हैं। बहुत से लोग भुजा पर या अपने गले में कन्ठी के रूप में पत्थर के लिंग धारण करते हैं। रामेश्वरम् के मन्दिर में स्थापित लिंग को प्रतिदिन गंगाजल से स्नान कराया जाता है और फिर अभिशेष के उस पवित्र जल को भक्तों के हाथ बेचा जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि यूरोप में भी पवित्र या अभिमंत्रित जल बिकता है।

अधिकांश लोगों में लिंग पूजा में किसी प्रकार की अश्लील भावना का संकेत नहीं मिलता है और न ही अधिकांश श्रद्धालु हिन्दू इस बात की कल्पना कर पाते हैं कि लिंग वास्तव में एक यौन प्रतीक है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी ईसाई के मन में मैडोना को अपने शिशु को दूध पिलाते देखकर किसी प्रकार की हीन भावना का उत्पन्न होना कठिन है। रस्म और परंपरा किसी भी वस्तु को औचित्य और पवित्रता प्रदान कर सकती है। लोग एक लंबे समय से यह भूल चुके हैं कि पूजा की इन वस्तुओं की उत्पत्ति का यौन प्रतीकों से कभी कोई सम्बन्ध रहा। अब तो लिंग को भगवान शिव की प्रतिमा के रूप में पूजा प्राप्त होती है। भारत में यौन नैतिकता और आचार-विचार का आम स्तर यूरोप और अमेरिका से ऊँचा है और उनकी तुलना में कहीं अधिक शालीन और संयम पूर्ण है। महात्मा गान्धी ने लिखा है—"यह काम हमारे पाश्चात्य अतिथियों का रहा है कि वे हमारे उन रीति-रिवाजों में, जिनको हम अब तक अपनाये चले आये हैं, अश्लीलता की खोज करें सबसे पहले मैंने एक ईसाई धर्म प्रचारक की पुस्तक के माध्यम से यह जाना कि शिव लिंग का कोई अश्लील अर्थ भी है।"

विभिन्न प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाजों का भारत में इतना अधिक प्रचलन रहा है कि कभी कभी बाहरी आदमी यही मान बैठता है कि ये रीति-रिवाज ही यहाँ के धर्म के प्रमुख अंग हैं। जीवन के लगभग प्रत्येक कार्य का यहाँ तक कि नहाने-धोने का धर्म से विशेष सम्बन्ध माना गया है और प्रत्येक कार्य के लिए विधियाँ निश्चित की गयी हैं। प्रत्येक घर में पारिवारिक या कुलदेवता होते हैं जिनकी प्रतिदिन पूजा की जाती है। वास्तव में देखा जाय तो हिन्दुओं के लिए धर्म मन्दिरों में होने वाले अनुष्ठानों के बजाय घर में दैनिक व्यवहार की वस्तु रहा है। मन्दिरों के अनुष्ठान और पूजा-पाठ आदि कुछ विशेष दिनों और त्यौहारों के लिए निश्चित रहे हैं। लोग धूमधाम से इन लिंग-प्रतिमाओं की पूजा करते रहे हैं और विशेष धार्मिक अवसरों पर इनके जुलूस में भाग लेते रहे हैं। मन्दिरों में होनेवाला पूजा-पाठ आम लोगों की समझ के बाहर रहा है, क्योंकि वह संस्कृत में होता है, लेकिन वे देव-प्रतिमा और उसके महत्व को भली भाँति जानते हैं। वे प्रतिमा की इस प्रकार पूजा करते हैं और उसका श्रृंगार करते हैं, जैसे वह कोई जीवित व्यक्ति हो। प्रतिदिन नियमित रूप से मूर्ति को स्नान कराया जाता है, उस पर सुगंधित वस्तुओं का लेप किया जाता है और उसे वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया जाता है।

यज्ञ और भेंट-नैवेद्य आदि का महत्व सार्वजनिक दृष्टि से रहा है, और आत्म-

शुद्धि का महत्व व्यक्तिगत रूप से। हिन्दू के लिए देवता के नाम पर चढ़ायी जानेवाली भेंट का प्रदर्शनात्मक महत्व नहीं होता, वह तो दृढ़तापूर्वक यह विश्वास करता है कि यदि वह देवता को भोग नहीं लगायेगा तो देवता भूखे रह जायेंगे। जब लोग नरमांस का भक्षण किया करते थे, तब अन्यत्र की भाँति भारत में भी नर बलि की प्रथा प्रचलित थी। काली माता को नर बलि विशेष रूप से प्रिय थी। लेकिन ब्राह्मणों ने यह प्रचार कर रखा था कि देवी केवल नीची जाति के मनुष्यों का ही भक्षण करती है।[1] जैसे-जैसे नैतिक भावनाओं का विकास होता गया नर बलि की प्रथा समाप्त होती गयी और देवगण पशुबलि को ही स्वीकार करके संतुष्ट रहने लगे। बकरे की बलि विशेष रूप से पसन्द की जाने लगी। बाद में बौद्ध और जैन धर्मों तथा अहिंसा के सिद्धान्त के प्रभाव से भारत में पशु बलि का भी अन्त हो गया। परन्तु बौद्ध धर्म के स्थान पर हिन्दुओं के पुनः प्रभावशाली होने पर पशुबलि की प्रथा का भी फिर से प्रचलन हुआ, और अब हमारे युग में यह धीरे-धीरे कम होती जा रही है। बलि-प्रथा की समाप्ति का श्रेय ब्राह्मणों को ही है, जिन्होंने ऐसे पूजा-पाठ में भाग लेने से इन्कार कर दिया, जिसमें रक्तपात होता था।

शुद्धता या पवित्रता सम्बन्धी कार्यों में हिन्दुओं के जीवन का काफी बड़ा भाग लग जाता है, क्योंकि अशुद्धता या अपवित्रता से भारत में उसी प्रकार बचा जाता रहा है, जिस प्रकार कि आधुनिक स्वच्छता के सिद्धान्तों में अशुद्धता से बचा जाता है। धर्मभीरु हिन्दू किसी भी क्षण किसी भी चीज से अपवित्र हो सकता है—जैसे, अनुचित भोजन, कूड़ा-करकट, और मल-मूत्र से; किसी शूद्र, अन्त्यज, शव या किसी रजस्वला स्त्री आदि को छू लेने से, और ऐसे ही सैकड़ों कारणों से व्यक्ति अपवित्र हो सकता है। स्त्रियों के बारे में ऐसा माना जाता है कि रजोदर्शन और प्रसव से वे अपवित्र हो जाती हैं। ब्राह्मवादी सिद्धान्तों के अनुसार ऐसी स्त्रियों को सब लोगों से अलग रहना चाहिए और शौर्य के नियमों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार की अपवित्रता—या, आधुनिक भाषा में कहें तो, संभावित रोग-संक्रमणता—के बाद शुद्ध होने के लिए हिन्दुओं को शुद्धि सम्बन्धी कुछ आवश्यक क्रियाओं को पूरा करना पड़ता है। पहले साधारण मामलों में तो पवित्र या अभिमंत्रित जल छिड़का लेने से ही काम चल जाता था, लेकिन अधिक गंभीर मामलों में शुद्धि के लिए विभिन्न प्रकार की कई कठिन क्रियाएँ करनी पड़ती थीं, यहाँ तक कि अंत में 'पंचगव्य' का भी प्रयोग करना पड़ता था। जाति के महत्वपूर्ण नियमों को भंग करने पर (उदाहरणार्थ, देशान्तर गमन पर) दंडस्वरूप और शुद्धि के उद्देश्य से 'पंचगव्य' का सेवन करना पड़ता था, जिसमें गौमाता से प्राप्त होने वाली पाँच वस्तुएँ होती थीं; यथा, दूध, दही, घृत, गौमूत्र और गोबर।[2]

---

[1] सन् १८५४ तक इस प्रकार की नर बलि के प्रचलन का प्रमाण मिलता है। पहले ऐसा माना जाता था कि मुक्ति की आकांक्षा से भक्त लोग स्वयं ही अपने आपको बलि चढ़ा दिया करते थे; जैसा कि जगन्नाथ के रथ के पहियों के नीचे स्वेच्छा से कुचलकर मर जाने की प्रथा हाल के बहुत दिनों तक प्रचलित रही है। परन्तु अब ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार स्वेच्छा से बलि हो जाने के दृष्टांत अपवाद स्वरूप ही हैं।

[2] आब दूब्वा ने (१८२०) लिखा है, "हिन्दुओं का विश्वास है कि गौमूत्र के पान से हर प्रकार की अपवित्रता से छुटकारा मिल जाता है। मैंने कई बार देखा है कि श्रद्धालु हिन्दू गायों के पीछे-पीछे चरागाहों तक जाते हैं और ताँबे के पात्रों में गौ-

भारत में प्रति दिन के स्नान करने को हमेशा से बड़ा महत्व दिया जाता रहा है। स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से भी इस प्रथा का बड़ा महत्व है, क्योंकि उष्ण जलवायु में स्नान आवश्यक है। संभवतः इसीलिए इसे धार्मिक रूप प्रदान किया गया, ताकि सफलतापूर्वक इस प्रथा का निर्वाह हो सके। स्नान के महत्व की दृष्टि से ही कई पवित्र जलाशयों का निर्माण किया गया और अनेक नदियों को धार्मिक दृष्टि से पवित्र घोषित किया गया। यह माना गया कि इन जलाशयों और नदियों में स्नान से मनुष्य का तन और मन दोनों शुद्ध हो जाते हैं। युआन च्वांग ने लिखा है कि प्रतिदिन सवेरे लाखों व्यक्ति गंगा में स्नान करते हैं। उस समय से लेकर आज तक सूर्योदय से पूर्व लाखों व्यक्ति मंत्र जपते हुए और श्लोकों का पाठ करते हुए पवित्र गंगा में स्नान करते हैं। गंगा के कारण ही काशी भारत की पवित्रतम नगरी बन गयी। देश के प्रत्येक भाग से करोड़ों नर-नारी पापमुक्ति की आशा से गंगा स्नान के लिए काशी की यात्रा करते हैं। यह एक विस्मयकारी तथ्य है कि हजारों वर्षों से लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष काशी आते रहे हैं और गंगा के जल में उसी श्रद्धा और भक्ति के साथ स्नान करते रहे हैं तथा गंगा के तट पर बने घाट सदियों से मंत्रोच्चार से गुंजित होते रहे हैं। देवगण प्रसन्न हों या न हों, भारत में उनकी लोकप्रियता आज भी वैसी है जैसी कि पहले कभी थी, और देवगण भी भारत की दरिद्रता और असहायता को निर्विकार भाव से देखते आ रहे हैं।

५. साधु-संत और नास्तिक

पवित्रता और सिद्धि की प्राप्ति के उपाय; संन्यासी; संयम और तप; हिन्दू धर्म पर एक दृष्टि।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में अन्यत्र की अपेक्षा साधु-संतों की संख्या अधिक है, और यही कारण है कि विदेशी यात्रियों को ऐसा लगता है जैसे अन्य वस्तुओं की भाँति साधु-संत भी इस देश की नैसर्गिक उत्पत्ति हैं। हिन्दू धर्म में पवित्रता और सिद्धि की प्राप्ति के तीन मार्ग माने गये हैं—ज्ञानयोग, या ज्ञान और ध्यान का मार्ग; कर्म योग, या कर्म का मार्ग, और भक्ति योग, या प्रेम और भक्ति का मार्ग। ब्राह्मणों ने अपने चार आश्रमों के माध्यम से इन तीनों मार्गों को स्वीकृति प्रदान की है। युवक ब्राह्मण ब्रह्मचारी के रूप में अपना जीवन आरम्भ करता था और विवाह पूर्व की सच्चरित्रता और पवित्रता का पालन करता था, सत्यवादी और विद्या-व्यसनी रहता था और अपने गुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा करता था। अठारह वर्ष की वय के बाद उसके लिए अविवाहित रहना उचित नहीं माना जाता था। विवाह के बाद वह गृहस्थ हो जाता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में उसके लिए अपनी और अपने पूर्वजों की सेवा पूजा के लिए पुत्र प्राप्त करना आवश्यक था। तृतीय, अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में वह अपनी पत्नी से अलग रहता था और मुक्ति के प्राप्ति के लिए वन में निवास करता था तथा संतान प्राप्ति के उद्देश्य को छोड़कर स्त्री प्रसंग से बिलकुल विरत रहता था। अंत में जो सिद्धि की सर्वोच्य स्थिति प्राप्त करने का इच्छुक होता था वह घरबार त्यागकर संन्यासी हो जाता था और संन्यासाश्रम में प्रवेश करता था।

मूत्र बटोरकर लाते हैं। वे कभी-कभी अपनी अंजलि में ही गोमूत्र ले लेते हैं और उसे पी जाते हैं, तथा उसके बचे हुए अंश को अपने चेहरे और सिर पर लगा लेते हैं।"

संन्यासाश्रम में वह हर प्रकार के सांसारिक बंधनों और सम्पत्ति आदि से दूर रहता था तथा अपने उपयोग के लिए एक मृगचर्म के अलावा और कुछ भी साथ नहीं रखता था। संन्यासी के लिए यह आवश्यक माना गया कि वह प्रतिदिन अपने शरीर पर भभूत लगाए और पंचामृत का सेवन करे तथा भिक्षा पर ही जीवन व्यतीत करे। ब्राह्मवादी आचारशास्त्र में संन्यासी के लिए कहा गया है कि "उसे सभी मनुष्यों को समान मानना चाहिए। उसे किसी भी घटना से प्रभावित नहीं होना चाहिए। और उन क्रांतियों और विप्लवों को भी उसे सम भाव से ही देखना चाहिए, जो साम्राज्यों को उलट देते हैं। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह उस ज्ञान और आध्यात्मिकता की प्राप्ति करे, जो अन्त में उसे परब्रह्म के साथ एकाकार कर सके, उस परब्रह्म के साथ जिससे कि हम अपनी वासनाओं और अपनी भौतिक उपलब्धियों के कारण बिछुड़ गए हैं।"[1]

इस धार्मिकता के बीच ही कभी-कभी एक संदेहवादी और नास्तिक स्वर भी सुनाई दे जाता है, जो कि सामान्य हिन्दू विचारधारा की गंभीरता के बिलकुल विपरीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि जब भारत धनी था, तब नास्तिकों की संख्या भी अधिक थी, क्योंकि मनुष्य जब समृद्धि प्राप्त करता है तब अपने देवी-देवताओं में संदेह भी अधिक करता है, और विपन्नता में उनकी पूजा-आराधना में वृद्धि कर देता है। हम बुद्धकालीन चार्वाकों और अन्य नास्तिकों से परिचय प्राप्त कर चुके हैं। लगभग उसी काल का एक ग्रंथ है, जिसका नाम है "श्वासम्वेद्योपनिषद्," जिसमें धर्मशास्त्र को चार सूत्रों में प्रकट किया गया है: पहला यह कि अवतार नाम की कोई चीज नहीं है, न ईश्वर है, न स्वर्ग है, न नरक है और न संसार है। दूसरा यह कि सारा परम्परागत धार्मिक साहित्य कुछ अहंवादी मूर्खों द्वारा रचा गया है। तीसरा यह कि सृजनकारी प्रकृति और ध्वंसकारी समय ही सब वस्तुओं के नियामक हैं, और ये मनुष्य को सुख या दुख प्रदान करते समय उसके गुण या अवगुण की कोई परवाह नहीं करते। और चौथा यह कि लोग लच्छेदार शब्दावलियों के चक्कर में पड़कर देवताओं, मंदिरों और पुरोहितों से चिपके रहते हैं, जब कि वास्तविकता यह है कि "विष्णु और श्वान में कोई अन्तर नहीं है।" बौद्ध धर्म संबंधी पाली साहित्य में हमें एक उल्लेखनीय ग्रंथ मिलता है, जो कि संभवतः ईसाई धर्म के लगभग ही पुराना है। इस ग्रंथ में ईसा पूर्व पहली शताब्दी के समाप्ति काल के उत्तर भारत के शासक यूनानी-बाक्तीरियाई राजा मिनान्दर द्वारा पूछे गये कुछ धार्मिक प्रश्नों के बौद्ध शिक्षक नागसेन द्वारा दिये गये उत्तर संकलित हैं। इस ग्रंथ को "राजा मिलिन्द के प्रश्न" के नाम से जाना जाता है। इसमें नागसेन कहता है कि धर्म को पीड़ित व्यक्तियों के लिए पलायन का मात्र एक साधन नहीं बना देना चाहिए, इसे स्वर्ग या ईश्वर की कल्पना के बिना ज्ञान और पवित्रता का एक आत्म त्याग और तपपूर्ण अन्वेषण बनना चाहिए, क्योंकि सत्य यह है कि इन वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं है। इसके विपरीत महाभारत में नास्तिकों और ऐसे संशयवादियों की निन्दा की गयी है, जो आत्मा की वास्तविकता से इन्कार करते हैं और अमरत्व को अस्वीकार करते हैं। उसमें कहा गया है कि ऐसे लोग "पृथ्वी पर भटकते फिरते हैं।" ऐसे लोगों को जो दंड भोगना पड़ता है उसका उदाहरण देते हुए एक भेड़िये का दृष्टांत दिया गया है, जो कि अपने साथियों के सामने यह स्वीकार

---

[1] दूब्वा ने लिखा है, "इन संन्यासियों में से बहुतों को समझदार भारतीयों में से अधिकांश पाखंडी मानते हैं।"

करता है कि "मैं अपने पूर्वजन्म में बुद्धिवादी था....वेदों का आलोचक था....ब्राह्मणों का विरोधी था....नास्तिक था और किसी भी चीज में विश्वास नहीं करता था।" 'भगवद्‌गीता' में भी ऐसे लोगों का उल्लेख किया गया है जो कि ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं और संसार को "सुखभोग का एक स्थान मात्र मानते हैं।" स्वयं ब्राह्मणों में भी प्रायः नास्तिकों की कमी नहीं रही है, लेकिन वे आम जनता में प्रचलित धर्म का बहुत कम विरोध करते थे। भारत के कवि भी मुख्य रूप से आस्तिक और धार्मिक विचारों के हुए हैं, लेकिन उनमें से कुछ ने कबीर और वेमना की भाँति अत्यन्त उच्च और आडम्बरहीन धार्मिकता का ही समर्थन किया है। सत्रहवीं शताब्दी के दक्षिण भारतीय कवि वेमना ने साधु-संन्यासी, तीर्थयात्रा और जाति-पाँति की निन्दा करते हुए लिखा है—

"कुत्ते की तरह एकान्त प्रिय अकेला जीवन! बगुले जैसा ध्यान! गदहे के रेंकने की तरह श्लोक-पाठ! मेढ़क की तरह का स्नान!....अपने शरीर पर भभूत चुपड़ लेने भर से तुम दूसरों से अच्छे कैसे हो गये? तुम्हें तो केवल ईश्वर का ध्यान करना चाहिए, वैसे तो एक गदहा भी तुम्हारी तरह धूल में लोट सकता है।....वेद तो गणिकाओं की तरह हैं, लोगों को धोखा देनेवाले और अथाह, जिनके ओर-छोर का पता लगाना मुश्किल होता है। परन्तु ईश्वर का गुह्य ज्ञान तो सच्चरित्र पत्नी की भाँति होता है।....क्या केवल राख चुपड़ देने से शराब के प्याले की बदबू दूर हो सकती है? क्या गले में एक तागा डाल लेने भर से तुम द्विज हो सकते हो? ....आखिर हम सदा पंडित-पुरोहित की चापलूसी क्यों करते रहें? क्या उसका रक्त-मांस हमारे ही जैसा नहीं होता? और भला 'वह' (ईश्वर) किस जाति का है, जो कि पंडित-पुरोहित से भी बड़ा होता है?....वह जो कि यह कहता है कि "मैं कुछ भी नहीं जानता", सबसे ज्यादा चालाक होता है।"

यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार की घोषणाएँ ऐसे समाज में बिना किसी खतरे के की जा सकती थीं, जिस पर पंडित-पुरोहित वर्ग का शासन था। विदेशियों द्वारा किये गये अत्याचारों को छोड़ कर (और वह भी शायद इसलिए कि विदेशी शासक स्थानीय धार्मिक विचारों के प्रति उदासीन-से थे) भारत ने उस सामंतकालीन युरोप से कहीं ज्यादा विचारों की स्वतंत्रता का उपभोग किया है, जिससे इसकी सभ्यता मेल खाती है; और ब्राह्मणों ने अपने अधिकार का उपयोग औचित्य और क्षमाशीलता के साथ किया। उन्होंने पुराणपंथी धर्म को सुरक्षित रखने के लिए गरीबों की अनुदारवादिता का सहारा लिया, और इसमें उन्हें निराश नहीं होना पड़ा। जब पराये और अनजान देवी-देवता खतरनाक ढंग से लोक प्रियता प्राप्त करने लगे तो उन्होंने उनको भी सहन किया, और फिर उनको भी हिन्दू श्रद्धा की गहरी गुफाओं में स्थान प्रदान कर दिया; एकाध देवी-देवता के बढ़ने या घट जाने से भारत पर कोई असर नहीं पड़ सकता था। इसलिए हिन्दू समाज के भीतर साम्प्रदायिक शत्रुता अपेक्षाकृत कम रही, हालाँकि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच इसकी अधिकता रही है; और भारत में आक्रामकों को छोड़-कर धर्म के लिए रक्तपात नहीं के बराबर हुआ है। इस्लाम और ईसाइयत के साथ ही असहिष्णुता का प्रवेश हुआ; मुसलमान 'काफिरों' का खून बहाकर बहिश्त खरीदना चाहते थे और पुर्तगालियों ने गोआ पर कब्जा करने के बाद भारत में गैर-ईसाइयों की जाँच-पड़ताल या 'इन्क्वीजीशन' की शुरुआत की।

यदि हम धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं की इस भीड़ में समान तत्वों की खोज करें तो हम विष्णु और शिव दोनों देवताओं की पूजा के सिलसिले में हिन्दुओं.

की व्यावहारिक एकता में, वेदों, ब्राह्मणों और गाय की पूजा सम्बन्धी एकता में, तथा 'महाभारत' और 'रामायण' को न केवल साहित्यिक महाकाव्य मात्र बल्कि समस्त हिन्दू जाति के द्वितीय महत्व के धर्म ग्रंथों के रूप में स्वीकार करने की एकमतता में ही इन तत्वों का दर्शन कर सकेंगे। यह एक महत्व की बात है कि आज भारत में जिन देवी-देवताओं की पूजा होती है और जिन रूढ़ि धार्मिक नियमों का पालन होता है, उनका वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं है; एक तरह से हिन्दू धर्म आदिवासी द्राविड़ीय भारत की वैदिक युग के आर्यों पर विजय का प्रतिनिधित्व करता है। इस आक्रमण के फलस्वरूप, भ्रष्टता और दारिद्र्य के फलस्वरूप, भारत की देह और आत्मा को आघात पहुँचा है और उसने अपनी इस पराजय से बचने के प्रयास में काल्पनिकता रहस्य की आसानी से प्राप्त होनेवाली विजयों में शरण ली है। अपने गौरवपूर्ण तत्वों, के बावजूद, बौद्ध धर्म, स्तोइकवाद या सुख-दुख-समतावाद की भाँति दर्शन का ही दास बना रहा, बावजूद इसके कि एक राजकुमार ने उसका समारंभ किया था। इसका अर्थ यह था कि हर प्रकार की इच्छा या संघर्ष का, यहाँ तक कि व्यक्तिगत या राष्ट्रीय स्वाधीनता की इच्छा या उसके लिए होनेवाले संघर्ष का भी त्याग किया जाना चाहिए। उसका आदर्श था इच्छाहीन निष्क्रियता। स्पष्ट था कि भारत की थका देनेवाली उष्णता शैथिल्य को इस प्रकार युक्तियुक्त सिद्ध करने के प्रयास में अपने आपको प्रकट कर रही थी। हिन्दू धर्म ने अपने आप को जाति-प्रथा के माध्यम से बाँधकर और एक पुरोहित वर्ग की स्थायी दासता स्वीकार करके भारत का निर्बल होते जाना जारी रखा। उसने नैतिकता हीन स्वरूपों में अपने देवी-देवताओं की कल्पना की और सदियों तक नर-बलि और सती-प्रथा जैसे उन क्रूर रीति-रिवाजों को बनाए रखा, जिन्हें कई देश बहुत पहले ही त्यागकर आगे बढ़ चुके थे। उसने जीवन को अनिवार्य रूप से पापपूर्ण माना और अपने अनुयायियों के उत्साह को भंग किया और उनके मन में निराशा का अन्धकार भर दिया। उसने पृथ्वी पर होनेवाली सारी विचित्रताओं को भ्रम और रहस्य का अर्थ प्रदान किया। इस प्रकार उसने स्वतंत्रता और दासता में, अच्छे और बुरे में उद्‌भव और पराभव में अन्तर करने की योग्यता को नष्ट किया। एक हिन्दू विद्वान के मतानुसार "हिन्दू धर्म अब अपने पतन के बाद केवल मूर्तिपूजा और परम्परागत कर्मकांड तक ही सीमित रह गया है, जिसमें केवल बाह्य रूप को ही सब कुछ मान लिया गया है और आन्तरिक तत्व को कोई महत्व नहीं दिया जाता।" पुरोहितों और पंडितों के भार के नीचे दबा हुआ और साधु-संतों से भरा हुआ भारत अपने पुनर्जागरण, अपने सुधार और अपने पुनरुत्थान की प्रतीक्षा कर रहा है।

फिर भी हमें भारत के बारे में सोचते समय अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को नहीं त्यागना चाहिए; हम भी कभी मध्य युग में थे, और विज्ञान के बजाय रहस्यवाद को, धनिकों के शासन के बजाय पुरोहितों के आधिपत्य को पसन्द किया करते थे—और मौका मिलने पर फिर वही कर सकते हैं। हम इन रहस्यवादियों के साथ न्याय नहीं कर सकते, क्योंकि हम पश्चिमवालों के निर्णय आमतौर से शारीरिक अनुभवों और भौतिक परिणामों पर ही आधारित रहते हैं, जो किसी हिन्दू सन्त की दृष्टि में बिलकुल असंगत और सतही प्रतीत होते हैं। यदि शक्ति और सम्पदा, युद्ध और आक्रमण, केवल सतही भ्रम मात्र और एक प्रौढ़ मस्तिष्क के लिए बिलकुल निरर्थक हों तो? यह काल्पनिक अणुओं और परमाणुओं का विज्ञान, ये शेक्सपीयरों को पैदा करने का दम भरनेवाली गैसें, और ये एक नये ईसा को तैयार करने का दावा करनेवाले रसायन केवल एक और आस्था, केवल एक और विश्वास को गढ़ने के प्रयास मात्र हों तो? पूर्व, दासता

और दरिद्रता से कुंठित होकर, उस समय विज्ञान और उद्योग की दिशा में वढ़ सकता है जव पश्चिम की संतानें, उन मशीनों से पीड़ित होकर जो उनको अशक्त वनाती हैं और उन विज्ञानों से पीड़ित होकर जो उन्हें भ्रम के घेरे से वाहर लाते हैं, अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाली क्रांतियों या युद्धों के जरिये अपने नगरों को और अपनी मशीनों को नष्ट कर लें, और पराजित, क्लांत और क्षुधित होकर फिर से धरती की ओर उन्मुख हों तथा अपने लिए क्षुधा, क्रूरता, अन्याय और मृत्यु का सामना करने के लिए एक नयी आस्था को गढ़ने का प्रयास आरम्भ करें। इतिहास के जैसा व्यंग्यकार दूसरा और कोई नहीं होता।

———

अध्याय १९

बौद्धिक-जीवन

१. हिन्दू-विज्ञान

उसकी धार्मिक उत्पत्ति; ज्योतिर्विद; गणितज्ञता; 'अरबी' अंक; दशमलव पद्धति; बीजगणित; रेखागणित; पदार्थ विज्ञान; रसायन-शास्त्र; शरीर-विज्ञान; वैदिक-औषधि; वैद्य; शस्त्रचिकित्सक; शीतला का टीका; मोहनिद्रा।

विज्ञान के क्षेत्र में भारत की देन अत्यन्त प्राचीन एवं नवीन दोनों ही हैं; एक लौकिक एवं स्वतंत्र शास्त्र के रूप में तो यह देन नवीन है लेकिन पुरोहितों की सहायक एवं अप्रधान विद्या के रूप में यह अत्यन्त पुरातन है। चूँकि धर्म हिन्दू जीवन का हृदय है, अतएव पहले उन्हीं विज्ञानों की उन्नति हुई जिनकी धर्म को विशेष देन थी; ग्रहों की आराधना से ज्योतिष की उत्पत्ति हुई तथा त्योहारों और यज्ञ की तिथियों के पंचांग के निर्माण को लक्ष्य करके इन ग्रहों की चाल का निरीक्षण किया गया; प्रत्येक मंत्र को सही-सही पढ़ने एवं उच्चारण करने पर जो विशेष जोर दिया गया—यद्यपि वे एक अप्रचलित भाषा में थे—उससे 'व्याकरण' एवं 'शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र' की वृद्धि हुई। हमारे 'मध्य युग' के वैज्ञानिकों के समान भारतवर्ष के वैज्ञानिक भी—जिससे उसकी अच्छाई और बुराई दोनों हुई—उसके पुरोहित ही थे।

खगोल-विद्या (astronomy) की ज्योतिष-शास्त्र (astrology) से आकस्मिक उत्पत्ति हुई तथा ग्रीक-प्रभाव से उसने शनैः शनैः फलित-ज्योतिष से अपने को मुक्त कर लिया। खगोल-शास्त्र के प्राचीनतम सिद्धान्त-ग्रंथ ग्रीक विज्ञान पर आधारित थे और वराहमिहिर—जिसके संकलन का नाम (Complete System of Natural Astrology) महत्त्वपूर्ण है—ने तो स्पष्ट रूप से ग्रीकों पर अपना आलम्बन स्वीकार किया है। आर्यभट्ट ने जो हिन्दू ज्योतिषाचार्यों एवं गणितज्ञों में सर्वश्रेष्ठ हैं पद्य में quadratic equations, sine, एवं x के मूल्य जैसे काव्यात्मक विषयों का वर्णन किया है; उन्होंने ग्रहण (eclipse), अपनकाल (solistice), विषुवीय (equinox) की व्याख्या की, पृथ्वी की वर्तुलाकारता की तथा अपनी धुरी पर उसके दैनिक आवर्तन की घोषणा की तथा रिनेसाँ-विज्ञान की साहसी पूर्वज्ञता के साथ उन्होंने लिखा:, "ग्रह-मण्डल स्थायी है तथा पृथ्वी के आवर्तन से प्रतिदिवस ग्रहों और तारागणों का उदय और अस्त होता है।" उनके सबसे प्रसिद्ध अनुयायी ब्रह्मगुप्त ने भारतवर्ष के ज्योतिर्विज्ञान को क्रमबद्ध किया लेकिन आर्यभट्ट के सिद्धान्त जिसके अनुसार पृथ्वी घूमती है का निराकरण करके उन्होंने उसके विकास में रुकावट पैदा की। इन व्यक्तियों तथा उनके अनयायियों ने बेबीलोन के आकाश-मण्डल के विभाजन की राशि-चक्र-सम्बन्धी नक्षत्र-मण्डल के रूप में हिन्दुओं के प्रयोगार्थ व्यवस्था की; उन्होंने बारह महीने का वर्ष, तीस दिन का मास, तीस घड़ी का दिन निर्धारित करते हुए हर पाँचवें वर्ष एक मलमास का प्रक्षेप कराकर वर्ष विभाजन की

सूची तैयार की; उन्होंने विलक्षण यथार्थता से चंद्रमा के व्यास, चंद्र और सूर्य ग्रहण, ध्रुवों के स्थान तथा वड़े वड़े नक्षत्रों के स्थान और गति का निर्धारण किया। अपने सिद्धान्त ग्रंथों में यह लिखते हुए कि 'पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से सभी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है' उन्होंने आकर्षण-शक्ति के सिद्धान्त की व्याख्या की (यद्यपि यह आकर्पण-शक्ति का नियम नहीं है)।

इन पेंचीली गणना के लिए हिन्दुओं ने गणित की एक ऐसी पद्धति का विस्तार किया जो यूनानियों से हर प्रकार से—रेखागणित को छोड़ कर—उच्च थी। हमारी प्राच्य-सम्पत्ति के सवसे प्रमुख अंगों में हैं अरवी-अंक तथा दशमलव प्रणाली जो हमारे पास अरव वालों के द्वारा भारतवर्ष से आए। वे अंक जिन्हें ग़लती से हम अरवी-अंक कहते हैं उनके अरव-साहित्य में आने से एक हजार वर्ष पहले अशोक के शिलालेखों में (२५६ ई० पू०) पाये जाते हैं। महान् एवं उदार लैपलेस ने कहा है—

सभी संख्याओं को केवल दस चिह्नों (अंकों) से अभिव्यक्त करने की कौशलपूर्ण विधि हमें प्रदान करने का श्रेय भारतवर्ष को ही है जिसमें प्रत्येक चिह्न अपने स्थान के अनुसार मूल्य प्राप्त करता है तथा जिसका अपना निरपेक्ष-मूल्य भी है; यह एक गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण विचार है जो अव हमें इतना सरल प्रतीत होता है कि हम उसके वास्तविक गुण को भूल जाते हैं। लेकिन उसकी यह सरलता तथा आसानी जो इसके द्वारा गणना को प्राप्त होती है हमारी अंक-गणित को उपयोगी आविष्कारों में प्रथम स्थान देती है; इस प्राप्ति की महानता का मूल्यांकन हम तव और भी अधिक करेंगे जव हमें यह स्मरण हो कि यह आरकेमेडीज़ एवं अपोलोनियस, जो प्राचीनकाल के दो महान् व्यक्ति थे, की अपूर्व वुद्धि का भी अतिक्रमण कर गई।

दशमलव-पद्धति का ज्ञान आर्यभट्ट एवं व्रह्मगुप्त को उसके अरव एवं सीरिया के लोगों की रचनाओं में स्थान प्राप्त करने के वहुत पहले से ही था; वौद्ध धर्म प्रचारकों के द्वारा चीन ने उसे अपनाया तथा यह प्रतीत होता है कि मुहम्मद इब्न मूसा अल्ख्वरज़मी ने जो उस काल का सवसे महान् गणितज्ञ था (८५० ई०) उसे वग़दाद में प्रचलित किया। एशिया अथवा यूरोप में* शून्य का सर्वप्रथम प्रयोग अरव की एक रचना जिसकी तिथि ८७३ ई० है में मिलता है जो उसके प्रथम भारतीय रचना में प्रकट होने के तीन वर्ष पूर्व था; लेकिन सर्व साधारण की अनुमति के अनुसार अरव के विद्वानों ने इसे (शून्य को) भी भारतवर्ष से ऋण रूप में अपनाया था और इस प्रकार अंकों में सवसे विनीत एवं मूल्यवान् अंक भी मानवता को भारतवर्ष के सूक्ष्म उपहारों में से एक है।

वीज-गणित का विकास हिन्दुओं और यूनानियों ने स्वतंत्र रूप से (जैसा प्रतीत होता है) किया लेकिन हमारे द्वारा उसके अरवी नाम को अपनाना (अल्-जब्र) इस वात का द्योतक है कि पश्चिमी यूरोप में उसका प्रवेश अरव निवासियों द्वारा हुआ न कि यूनान से, अर्थात् पश्चिमी यूरोप में उसका आगमन भारतवर्ष से हुआ। इस क्षेत्र में भी खगोल-शास्त्र के समान सर्वश्रेष्ठ हिन्दू नेता आर्यभट्ट, व्रह्मगुप्त एवं भास्कर थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भास्कर ने (radical signs) एवं वीजगणित के चिह्नों का आविष्कार

---

*अमरीका की माया जाति ने इसका प्रयोग ईसा की पहली शताब्दी में किया। डा० व्रीस्टेड प्राचीन वेबीलोन के निवासियों को अंकों के स्थानगत मूल्य के ज्ञान के जन्मदाता ठहराते हैं। (Saturday Review of Literature, New York) जुलाई १३, १९३५, (पृ० १५)।

किया था। इन व्यक्तियों ने क्षयराशि के विचार का निर्माण किया जिसके प्रभाव में बीज-गणित का अस्तित्व ही असम्भव था; उन्होंने क्रम-परिवर्तन (permutation) एवं एकीकरण (combination) सम्बन्धी नियमों को निर्धारित किया, २ का वर्गमूल निकाला और ईसा की आठवीं शताब्दी में दूसरे अंश के वर्गसमीकरण (quadratic equation of the second degree) को हल किया जब कि यूरोप में उनका ज्ञान लगभग एक हज़ार वर्ष बाद आडलर (Edler) के समय तक भी किसी को नहीं था।* उन्होंने अपने विज्ञान को पद्यात्मक रूप में व्यक्त किया तथा गणित-सम्बधी प्रश्नों को एक ऐसी रोचकता प्रदान की जो भारतीय स्वर्ण-युग की विशेषता है। सरल हिन्दू बीजगणित के ये दो उदाहरण दिए जा सकते हैं :

मधुमक्खियों के झुंड में से उसका पाँचवाँ भाग एक कदम्ब के पुष्प पर बैठ गया; $\frac{1}{3}$ भाग सिलिन्ध्र-पुष्प पर जा बैठा; इन दोनों संख्याओं के अन्तर की तीन गुनी संख्या उड़ कर एक कुटज-पुष्प पर आरूढ़ हो गई। एक मधुमक्खी जो शेष रह गई थी हवा में उड़ती रही। सुंदरी! यह बतलाओ कि मधुमक्खियों की संख्या क्या थी?

......प्रिये! आठ माणिक्य, दस हरित-मणि (पन्ना) तथा एक सौ मोतियों को जो तुम्हारी कान की बाली में हैं मैंने तुम्हारे लिए उतने ही द्रव्यों में क्रय किया था और इन तीनों प्रकार के रत्नों के मूल्य का योग अर्ध-शत संख्या से तीन कम था। सुभगे! मुझे इनमें से प्रत्येक का मूल्य बतलाओ।

रेखागणित में हिन्दू उतने सफल नहीं थे। बलिवेदी के नापने और बनाने में ईसा के जन्म से कई शताब्दियाँ पहले ऋत्विजों ने पाइथागोरस प्रमोपाद्य की जिसके द्वारा एक समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग अन्य दो भुजाओं के वर्ग के बराबर होता है कल्पना थी। आर्यभट्ट ने—कदाचित् यूनानियों के प्रभाव से—त्रिभुज, चतुर्भुज एवं वृत्त का क्षेत्रफल निकाला तथा π (व्यास का वृत्त की परिधि से सम्बन्ध) का मूल्य ३.१४१६ पर निर्धारित किया जिसके समान सही संख्या का पता पूरबक के काल (१४२३-६१) तक यूरोप को नहीं था। भास्कर ने स्थूल रूप में (differential calculus) का प्रतिपादन किया, आर्यभट्ट ने (Sines) की तालिका तैयार की तथा सूर्य- सिद्धान्त ने त्रिकोणमिति (Trigonometry) की एक ऐसी पद्धति प्रदान की जिससे अधिक उत्तम प्रणाली का ग्रीस के निवासियों को कुछ भी ज्ञान नहीं था।

हिन्दू-विचार के दो मतों ने भौतिक-सिद्धान्तों का जो प्रतिपादन किया वह विशेष रूप से यूनानियों के समान था। कणाद, जिन्होंने वैशेषिक-दर्शन की स्थापना की थी, के मतानुसार विश्व की रचना परमाणुओं के संयोग से होती है और ये परमाणु उतने ही प्रकार के होते हैं जितने कि विश्व में भूत हैं। जैनों ने यह उपाख्यान करके कि समस्त परमाणु केवल एक ही प्रकार के होते हैं तथा इनसे विभिन्न कार्यकी उत्पत्ति उनके संयोग के भेद के कारण होती है अपने को डिमाक्रीटस् के अधिक निकट बताया। कणाद का विश्वास था कि आलोक और उष्णता एक ही पदार्थ के गुण हैं; उदयन ने यह सिखलाया कि सभी प्रकार की उष्णता का श्रोत सूर्य में है तथा वाचस्पति ने न्यूटन के समान आलोक के विषय में यह प्रतिपादन किया कि उसका निर्माण उन छोटे-छोटे कणों से मिलकर होता है जिन्हें पदार्थ बाहर निकालते हैं तथा जिनका नेत्र से संयोग होता है। हिन्दुओं के संगीत-ग्रंथों

---

* ग्रीस के डियोफॅन्टस् (३६० ई०), जो हमारे ज्ञान में प्रथम बीज-गणितज्ञ हैं, का काल आर्यभट्ट से एक शताब्दी पूर्व था; लेकिन कॅजोरी का ऐसा विश्वास है कि उसे इस ओर मार्गनिर्देश भारतवर्ष से ही मिला।

में* 'स्वर' और उनके अंतर का विश्लेषण किया गया और उनकी गणित के आधार पर गणना की गई। उन्होंने पाइथागोरस के नियम की भी व्याख्या की जिसके अनुसार स्वरों का स्पन्दन और तदनुसार उनका चढ़ाव वाद्य के तार के उस स्थान से जहाँ वह जुड़ा होता है तथा छेड़ने के स्थान के बीच की लम्बाई पर आधारित होकर उसके प्रतिकूल-क्रम से घटता-बढ़ता है। इस बात के कुछ प्रमाण मिलते हैं कि ईसा की पहली शताब्दि के हिन्दू जहाज़ी एक ऐसे कुतुबनुमा का प्रयोग करते थे जिसमें लोहे की मछली एक तेल के बर्तन में तैरती थी तथा जिसका मुँह सदैव उत्तर की ओर रहता था।

रसायन-शास्त्र के विकास के दो उद्गम-स्थान हैं—औषधि-शास्त्र एवं व्यवसाय। गढ़े-लोहे से सम्बन्धित प्राचीन भारत की रसायनिक-श्रेष्ठता तथा गुप्त-काल की व्यवसायिक-वृद्धि जब कि भारत-वर्ष साम्राज्यशाही रोम के द्वारा भी समस्त देशों में रसायनिक-व्यवसाय जैसे कि कपड़े की रंगाई, कच्चे चमड़े को पकाने की कला, साबुन, शीशा एवं सीमेंट बनाने की विधि में सबसे चतुर समझा जाता था के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दि में इतने काल पहले, नागार्जुन ने पारे पर एक सम्पूर्ण ग्रंथ की रचना की थी। ईसा की छठी शताब्दि के पूर्ण होते होते हिन्दू लोग व्यापारिक, रसायन-शास्त्र में यूरोप से कहीं आगे थे। वे भस्म बनाने की क्रिया, अर्क निकालना, वाष्पीकरण करके पुनः ठोस बनाने की क्रिया, वाष्प तैयार करना, बिना उष्णता के आलोक की उत्पत्ति करना, चेतना-शक्ति का हरण करनेवाले चूर्ण तथा निद्राजनक चूर्ण का सम्मिश्रण करने की क्रिया तथा धातुसम्बन्धी लवण रसायन सम्मिश्रण एवं मिश्रित-धातु तैयार करने की विधि के पूर्ण ज्ञाता थे। लोहे को मृदु करने की क्रिया (tempering) प्राचीन भारत में इतनी पूर्णता को पहुँच चुकी थी जैसी की यूरोप को वर्तमान-युग तक में भी मालूम नहीं थी। कहा जाता है कि महाराज पोरस ने सिकन्दर को बहुमूल्य उपहार के रूप में सोना या चाँदी न देकर पंद्रह सेर इस्पात प्रदान किया था। हिन्दुओं के इस रसायन-विज्ञान एवं उद्योग का बहुत कुछ अंश मुसलमान लोग पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में ले गए; उदाहरण के लिए दमास्कस के अस्तुरों के निर्माण का मंत्र अरबनिवासियों को फ़ारस के व्यक्तियों से मिला जो इसे भारत से ले गए थे।

शरीर-रचना-शास्त्र एवं शरीर-विज्ञान भी रसायन शास्त्र के कुछ अंगों के समान हिन्दू-औषधि-विज्ञान से उत्पन्न हुए थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हिन्दू वैद्यों ने अस्थि-बन्धक-तन्तु (ligaments), सिर की हड्डी के जोड़, शरीर के कोशों के स्राव, शरीर तन्तुओं के जाल, तन्तु-रेशों की खोली, चरबीदार एवं वाहक नलियों से सम्बन्धित तन्तुओं, श्लेष्मायुक्त एवं शरीर के जोड़ों को तर रखनेवाले द्रव्य-पदार्थ से युक्त झिल्लियों तथा अन्य और भी मांसपेशियों का जिनसे अधिक वर्तमान कालीन कोई भी शव परीक्षक दिग्दर्शन कराने में असमर्थ है वर्णन किया है। ईसा के पूर्व-काल के भारतीय वैद्यों ने अरस्तू के सम्भ्रान्त विचार जिसमें हृदय को चेतना का आधार एवं साधन बतलाया गया था अपनाया तथा यह भी कल्पना की कि समस्त ज्ञान-तन्तु हृदय से नीचे उतरते हैं और पुनः उसके उर्ध्व भाग में जाकर मिलते हैं। लेकिन उन्हें पाचन-क्रिया, उदरगत आम्ल-स्राव, पेट के भोजन से परिवर्तित अम्ल के आँतों से उत्पन्न होनेवाले रस तथा इसकी रक्त में परिवर्तन की प्रक्रिया का विशेष ज्ञान था। लगभग २४०० वर्ष पूर्व वायसमास के ज्ञान को अपनाते हुए अत्रेय ने यह निर्धारित किया कि स्त्री और पुरुष का शुक्र उनके शरीर से स्वतंत्र होता है तथा उसमें उनका सम्पूर्ण शरीर सूक्ष्म रूप से अन्तर्निहित

*उदाहरण के लिए शार्ङ्ग देव का संगीत-रत्नाकार (१२१०–४७)

रहता है। विवाह में पुरुषों की सन्तानोत्पादक-शक्ति की परीक्षा को एक पूर्वाकांक्षित ज्ञान के रूप ग्रहण करने का आदेश था तथा मनु की संहिता में क्षयरोग, मिर्गी, कोढ़, दीर्घ-स्थायी अजीर्ण ववासीर, एवं वाचालता के रोगों से पीड़ित स्त्री अथवा पुरुष से विवाह करने के लिए सावधान कर दिया गया था। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दि के हिन्दू चिकित्सकों ने अपने इस सिद्धान्त के द्वारा कि स्त्रियों के मासिक-धर्म-चक्र के बारह दिनों में गर्भाधान असम्भव है एक धार्मिक रीति से सन्तान-निरोध की विधि का निर्देश किया। उन्होंने भ्रूण के विकास का विशेष यथार्थता से वर्णन किया तथा यह भी दिखलाया कि भ्रूण का लिंग कुछ काल तक अनिश्चित रहता है तथा कभी कभी उसके निश्चित होने में भोजन और औषधियों का प्रभाव भी पड़ता है।

हिन्दू औषधि-विज्ञान का प्रमाण अथर्ववेद से आरम्भ होता है; इसके जादू और मंत्रों के समूह के बीच रोगों तथा उनके लक्षणों की एक सूची संनिविष्ट है। औषधि-विज्ञान का उत्थान जादू के सहायक रूप में हुआ। रोग का निदान करने वालों ने सांसारिक साधनों का ज्ञान प्राप्त किया और उन्हें अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का सहायक बनाया; बाद में वे इन लौकिक साधनों पर शनैः शनैः अधिक विश्वास करने लगे तथा अपने जादू कोप्रभाव का एक मनोवैज्ञानिक सहायता के रूप में जैसा कि आजकल चिकित्सक अपने रोगियों की चारपाई के समीप बैठ कर करते हैं उपयोग करने लगे। अथर्ववेद का अनुवर्ती यजुर्वेद है। भारत के इस सबसे प्राचीन औषधि-विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार शरीर की चार धातुओं (वात, जल, कफ़ एवं रक्त) में दोष उत्पन्न होने से रोग की उत्पत्ति होती है तथा इनकी निवृत्ति औषधि और मंत्रों द्वारा बतलाई गयी है। यजुर्वेद में बतलाए गए रोगों के अनेक निदान तथा उनकी चिकित्सा आज भी भारतवर्ष में इतनी सफलता से प्रचलित है कि वह कभी कभी पाश्चात्य चिकित्सकों की ईर्षा का विषय हो जाती है। ऋग्वेद में एक हज़ार से अधिक औषधियों के नामों का वर्णन है तथा उसमें जल को अधिकतर रोगों की सर्वोत्तम औषधि सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक-काल में भी वैद्यों और शस्त्र-चिकित्सकों का मंत्र-क्रिया से उपचार करनेवाले व्यक्तियों से भेद किया जाता था तथा वे उद्यानों से घिरे हुए मकानों में रहते थे जिनमें वे जड़ी-बूटियों का उत्पादन भी करते थे।

हिन्दू चिकित्सा-शास्त्र में सुश्रुत, (ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दि) और चरक (ईसा की दूसरी शताब्दि) के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। सुश्रुत ने जो काशी विश्वविद्यालय के चिकित्सा-शास्त्र के प्राध्यापक थे निदान एवं चिकित्सा सम्बन्धी एक सिद्धान्त-ग्रंथ की रचना की जिसके मूलतत्त्वों का ज्ञान उन्हें अपने आचार्य धन्वन्तरि से प्राप्त हुआ था। उनके ग्रंथ में शस्त्र-चिकित्सा, प्रसव-सम्बन्धी ज्ञान, भोजन, स्नान, औषधि, शिशु को दुग्धपान कराने तथा उसे स्वस्थ रखने के विषय में विस्तृत व्याख्या है। चरक ने चिकित्सा-शास्त्र की एक संहिता तैयार की थी जो आज भी भारतवर्ष में प्रयोग की जाती है तथा अपने अनुयायियों को उनके व्यवसाय के विषय में पिक्रीटस से मिलते हुए विचारों का आदेश दिया था "अपनी आत्मा के लिए नहीं, लाभ की लौकिक इच्छा की संतुष्टि के लिए भी नहीं, केवल पीड़ित मानवता के कल्याणार्थ तुम्हें अपने रोगियों की चिकित्सा करनी चाहिए और इस प्रकार तुम सबसे श्रेष्ठ होगे। इनसे कुछ ही कम महत्त्वपूर्ण हैं वाग्भट्ट जिन्होंने गद्य और पद्य दोनों में एक चिकित्सा सम्बन्धी संकलन तैयार किया था और भवमिश्र जिनकी शरीर-रचना शास्त्र, शरीर-विज्ञान एवं चिकित्सा सम्बन्धी विस्तीर्ण ग्रंथ में हार्वी से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व रक्त-संचार का उल्लेख मिलता है तथा जिसमें पारे को उस नवीन रोग जिसे पुर्तगाली

यूरोप की बपौती के रूप में भारत लाए थे, अर्थात् सुजाक की औषधि बतलाया गया था।"

सुश्रुत ने अनेक प्रकार की शस्त्र-चिकित्सा—मोतियाबिंद, आँत उतरना, मूत्राशय में पथरी पड़ना, स्वाभाविक रूप से प्रसव न होना आदि रोगों का चीड़-फाड़ द्वारा इलाज—तथा १२१ शस्त्र-चिकित्सा सम्बन्धी औजारों का जिनमें चीड़-फाड़ करने की छुरी, घाव नापने का यंत्र, चिमटा, पेशाव कराने की सलाई तथा योनि एवं गुदा के अंदर के भाग को देखने के दर्पण आदि हैं उल्लेख किया है। ब्राह्मण धर्म में इसका निषेध होते हुए भी उन्होंने शव के चीड़-फाड़ को शस्त्र चिकित्सा के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य बतलाया। वे प्रथम चिकित्सक के थे जिन्होंने कटे हुए कान के क्षत भाग पर शरीर के दूसरे अंग से खाल निकाल कर लगाया; उनके तथा उनके हिन्दू अनुयायियों द्वारा वर्तमान चिकित्सा शास्त्र में शस्त्र द्वारा कटी नाक को फिर से ठीक करने की क्रिया का अवतरण हुआ गैरीजन का कथन है, "प्राचीन काल के हिन्दू धमनियों को बाँधने की क्रिया को छोड़कर अन्य लगभग सभी प्रकार के बड़े बड़े चीड़-फाड़ करते थे।" शरीर के अंगों का विच्छेद किया जाता था, उदर-सम्बन्धी चीड़-फाड़ की जाती थी, टूटी हड्डियों को बैठाया जाता था तथा खूनी बवासीर और भगन्दर के मसों को काट कर निकाला जाता था। सुश्रुत ने शस्त्र चिकित्सा की क्रिया की तैयारी के विषय में विस्तृत नियम बनाए; उनका यह मत कि व्रण को सुगन्धि के द्वारा कीटाणुओं से शुद्ध करना चाहिए। कीटाणुओं से शुद्ध करते हुए शस्त्र-चिकित्सा की प्रणाली के विज्ञान अत्यन्त प्राचीन प्रयासों में से एक है। ९ सुश्रुत और चरक दोनों ने पीड़ा के प्रति, प्रचेतना उत्पन्न करने के लिए आसवों के प्रयोग की चर्चा की है। ९२७ ई० में दो शस्त्र-चिकित्सकों ने एक हिन्दू राजा के सिर की हड्डी काट कर निकाली थी तथा उसे अंग-विच्छेद की इस प्रक्रिया के प्रति सम्मोहिनी नामक एक औषधि पिला कर अचेत किया।*

११२० रोगों के जिनकी गणना सुश्रुत ने की है, निदान के लिए उन्होंने परीक्षा, नाड़ी-विज्ञान एवं ध्वनि-विज्ञान (शरीर के अंतर की स्थिति ध्वनि के द्वारा जानना) का आदेश दिया। १३०० ई० की एक रचना में नाड़ी देखने का वर्णन है। मूत्र-परीक्षा के द्वारा रोग के निदान करने की विधि चिकित्सकों को विशेष रूप से इष्ट थी। तिब्बत के वैद्यों की यह ख्याति थी कि वे रोगी की कोई अन्य परीक्षा किए बिना केवल उसका मूत्र देखकर उसे रोग-मुक्त करते थे। ह्वान-शांग के काल में हिन्दू चिकित्सा सात दिन के व्रत से आरम्भ होती थी; व्रत की इस अवधि में रोगी अक्सर ठीक हो जाता था और यदि वह ठीक न हुआ तब औषधि का प्रयोग किया जाता था। तब भी औषधियों का प्रयोग यथाशक्ति कम किया जाता था; भोजन स्नान, वस्ति (गुदा द्वारा तरल औषधि पेट में पहुँचाना) साँस खींचने की क्रिया, मूत्रद्वार की नली एवं योनि के द्वारा औषधि पहुँचाने एवं जोंक से रक्त चुसवा कर रोग निवारण करने पर विशेष विश्वास था। हिन्दू-वैद्य विष-नाशक औषधियों को तैयार करने में विशेष चतुर थे; आज भी वे साँप काटे हुए व्यक्ति का इलाज करने में यूरोप के चिकित्सकों से कहीं आगे हैं। यदि हम धन्वन्तरि, जो सर्वप्राचीन हिन्दू वैद्यों में से एक हैं, की रचना जिसमें कहा है, "गाय के थन के दाने के जल को....एक नश्तर लगानेवाली छुरी की नोक पर रख कर उसे टेहुँनी और कंधे के बीच हाथों में तब तक प्रवेश करो जब तक उस स्थान से रक्त न निकल

---

* लंका में अस्पतालों का निर्माण लगभग ४२७ ई० पू० तथा उत्तरी भारत में लगभग २२६ ई० पू० में हुआ था।

आवे; तब रक्त और शीतला के जल के मिश्रण से शीतला का ज्वर उत्पन्न हो जावेगा", पर विचार करें तो हम देखेंगे कि शीतला के टीके का ज्ञान भारत में ५५० ई० में ही था जब कि इसका ज्ञान यूरोप को अट्ठारहवीं शताब्दि के पहले नहीं हुआ था। आधुनिक यूरोपीय चिकित्सकों का विश्वास है कि जाति-विभेद का आदेश इसलिए था कि ब्राह्मणों का यह विश्वास था कि कुछ ऐसे अतीन्द्रिय साधन होते हैं जिनसे रोगों का प्रचार होता है। आरोग्य सम्बन्धी अनेक नियमों में जिनका आदेश सुश्रुत और मनु ने दिया था रोग-विषयक उस सिद्धान्त को आधुनिक-युग के व्यक्ति जिन्हें जो प्राचीन वस्तुओं के लिए नया नाम पसन्द करते हैं, कीटाणु-सिद्धान्त (जर्मथ्योरी) कहते हैं स्वीकार किया गया है। चिकित्सा के रूप में मोहनिद्रा (hypnotism) के प्रयोग का ऐसा प्रतीत होता है, आरम्भ हिन्दुओं से ही हुआ जो अपने रोगियों को मिस्र और ग्रीस वासियों के समान मन्दिरों में मोहनिद्रा की क्रिया के द्वारा रोग-मुक्त कराने के लिए ले जाते थे। उन अंग्रेजों को जिन्होंने मोहनिद्रा द्वारा चिकित्सा का प्रचार इंगलैंड में किया—ब्रेड, एसडेल तथा इलियट्सन—"उनके विचार तथा उनके कुछ अनुभव निस्सं-देह भारतवर्ष के संसर्ग से प्राप्त हुए।"

भारतीय चिकित्सा का साधारण दृश्य हमें वैदिक एवं बौद्ध काल के तीव्र विकास और तदुपरान्त शताब्दियों तक मन्द गति से होने वाली एक सावधान उन्नति के रूप में मिलता है। अत्रेय, धन्वन्तरि और सुश्रुत ग्रीस के कितने ऋणी थे अथवा इनका ग्रीस पर कितना ऋण था यह हमें अज्ञात है। सिकन्दर के काल में गैरीज़न के कथनानुसार, "हिन्दू वैद्यों एवं शस्त्र-चिकित्सकों की उनके उच्च ज्ञान एवं कौशल के कारण विशेष एवं सुयोग्य ख्याति थी" तथा कुछ विद्वानों के मत से अरस्तू तक उनके ऋणी थे। ऐसी ही स्थिति फ़ारस और अरब की भी थी। यह कहना कठिन है कि भारतीय चिकित्सा पद्धति पर बग़दाद के हकीमों और उनके द्वारा पश्चिमी एशिया के बैबीलोन की चिकित्सा पद्धति की परम्परा का कितना प्रभाव है; एक ओर तो ऐसा प्रतीत होता है—कुछ औषधियों का, जैसे अफ़ीम और पारा, तथा निदान की कुछ विधियों का—जैसे नाड़ी देखना—प्रवेश भारतवर्ष में फ़ारस से हुआ था और दूसरी ओर हम फ़ारस और अरब के विद्वानों को ईसा की आठवीं सदी में लगभग एक हज़ार वर्ष प्राचीन चरक एवं सुश्रुत के ग्रंथों का अनुवाद करते हुए देखते हैं। महान् खलीफ़ा हारून अल-रशीद ने भारतीय चिकित्सा एवं विद्वता की उच्चता को स्वीकार किया तथा उन्हें बग़दाद में अस्पतालों और चिकित्सा-विद्यालयों की व्यवस्था करने के लिए विदेश से बुलाया। लार्ड ऐम्पटहिल का यह निष्कर्ष है कि मध्यकालीन एवं आधुनिक यूरोप की चिकित्सा-प्रणाली साक्षात् रूप से अरब की तथा पारम्पर्येण भारतवर्ष की ऋणी है। कदाचित् विज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ, लेकिन सबसे अधिक अनिश्चित, इस विज्ञान की भी लगभग समान प्राचीनता है तथा इसका विकास सुमेरिया, मिश्र एवं भारत के तत्कालीन संसर्ग एवं पारस्परिक प्रभाव के कारण हुआ था।

२. ब्राह्मण-दर्शन के छः सिद्धान्त

भारतीय-दर्शन की प्राचीनता; उसकी मुख्य कृति; उसके विद्वान्; भेद—आस्तिकता का विचार; हिन्दू-दर्शन की मान्यताएँ।

चिकित्सा-शास्त्र की अपेक्षा भारतवर्ष में दर्शन-शास्त्र की प्रधानता अधिक स्पष्ट है। यद्यपि उनकी उत्पत्ति का विषय भी आवरित है तथा उनसे सम्बन्धित प्रत्येक निष्कर्ष

एक प्रतिज्ञा मात्र है। कुछ उपनिषद तो किसी भी प्रकार के ग्रीक-दर्शन की अपेक्षा प्राचीन हैं तथा पाइथागोरस, पारमिनाइडिज़ एवं प्लेटो पर भारतीय तत्त्व मीमांसा का प्रभाव प्रतीत होता है। लेकिन थेलीज़, एनैक्ज़ीमैंडर एनैक्ज़ीमनीज़, हेराक्लाइटस एनैग्ज़ागोरस तथा एम्पीडाक्लस् के विचार न केवल हिन्दुओं के नास्तिक दर्शन से प्राचीन हैं वरन् उनमें नास्तिकवाद एवं भौतिकवाद की एक छाप है जिससे यह अनुमान होता है कि उनकी उत्पत्ति का स्थान भारतवर्ष से अन्यत्र कहीं और है। विक्टर कोसिन का विश्वास है "कि हम यह समझने पर वाध्य होते हैं कि मनुष्य-जाति के इस हिंडोले में सर्वोच्च-दर्शन की जन्म-भूमि है।" यह अधिक सम्भव है कि कोई भी एक सभ्य जिसका कि हमें ज्ञान है स्वतः सभ्यता के तत्त्वों में से किसी एक की भी जन्मदायिनी नहीं है।

लेकिन अन्यत्र कहीं भी दर्शन की प्रवृत्ति इतनी प्रवल नहीं थी जितनी कि भारतवर्ष में। हिन्दुओं के साथ दर्शन कोई आभूपण अथवा मनोरंजन का विपय नहीं है वरन् यह तो उनके जीवन का अभ्यास है जिसमें उनकी प्रधान रुचि है। भारतवर्ष में ऋषियों का वही सम्मान होता है जो पाश्चात्य देशों में धनवान् एवं कर्मठ व्यक्तियों को दिया जाता है। भारत के अतिरिक्त कौन से ऐसे देश हैं जिन्होंने त्योहारों को मनाने के लिए पक्ष प्रति-पक्ष के दार्शनिक-विवाद की व्यवस्था करने की कल्पना की है? उपनिपदों में हम पढ़ते हैं कि विदेहराज (जनक) ने धार्मिक-भोज के अंग रूप में एक दिन याज्ञवल्क्य, असवल आर्तभग एवं गार्गि (जो भारत की अस्पसिया है) के दार्शनिक वाद-विवाद के लिए अलग कर दिया था तथा इस विवाद के विजेता के लिए उन्होंने एक हज़ार गो तथा स्वर्ण के कई टुकड़ों को पुरस्कार रूप में देने का वादा किया था (जिसे उन्होंने विजेता को दिया था)। भारतवर्ष में दर्शन के आचार्य के लिए लिखने के वजाय व्याख्यान देने की एक सामान्य रीति थी; अपने प्रतिपक्षियों पर मुद्रण के सुरक्षित साधन के द्वारा आक्रमण करने के वजाय उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने विपक्षियों का एक सजीव प्रतियोगिता में सामना करेगा तथा अन्य दार्शनिक-शाखाओं (विद्यालयों) में जाकर विवाद में भाग लेगा तथा दर्शन सम्वन्धी शंकाएँ उपस्थित करेगा। मुख्य दार्शनिकों ने, जैसे शंकर, अपना अधिकांश समय ऐसी ही वौद्धिक-यात्राओं में व्यतीत किया। कभी-कभी राजा भी सविनय (जैसा कि एक राजा को एक दार्शनिक के समक्ष उचित है)—यदि हम दार्शनिकों के वर्णन को प्रामाणिक मानें—इन शास्त्रार्थों में भाग लेते थे। किसी मुख्य शास्त्रार्थ के विजेता को समाज का उतना ही वड़ा नायक माना जाता था जितना कि रणक्षेत्र में रक्त प्रवाह करते हुए विजय प्राप्त करके लौटनेवाले एक सेनापति का।

अट्ठारहवीं सदी के एक राजपूत-चित्र में हमें भारत की दर्शन-पाठशाला का एक नमूना दिखलाई पड़ता है—गुरु पेड़ के नीचे एक चटाई पर आरूढ़ हैं तथा उनके शिष्य उनके सम्मुख घास पर बैठे हैं। इस प्रकार के दृश्य सभी जगह देखने में आते थे क्योंकि भारतवर्ष में दर्शन के अध्यापक उतनी ही अधिक मात्रा में थे जितने कि वैवीलोन में व्यापारी। किसी एक देश में इतने प्रकार के दार्शनिक-सम्प्रदाय कभी नहीं थे। वुद्ध के एक संवाद से यह ज्ञात होता है कि उनके काल में दार्शनिकों के मध्य आत्मा के वासठ स्पष्ट-सिद्धान्त प्रचलित थे। काउन्ट केसरलिंग का कथन है, "इस सर्वोच्च दार्शनिक-देश में दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों के लिए संस्कृत-शब्द, ग्रीक, लैटिन एवं जर्मन शब्दों को मिलाकर उनकी अपेक्षा कहीं अधिक हैं।"

चूँकि भारतीय-विचारों का प्रचार लिखित-परम्परा की अपेक्षा श्रुत-परम्परा के

आधार पर अधिक हुआ अतएव विभिन्न-सम्प्रदायों की दार्शनिक-सिद्धान्त की उपलब्धि का सबसे प्राचीन रूप हमें सूत्र रूप में मिलता है जो छोटे छोटे सूक्ष्म धागे हैं जिन्हें आचार्य अथवा शिष्य अपनी स्मृति की सहायता के लिए, न कि उन्हें अपने विचारों को व्यक्त करने के साधन रूप में, संक्षेप में तैयार कर लेते थे। ये उपलब्ध सूत्र विभिन्न कालों के हैं जिनमें से कुछ तो इतने प्राचीन हैं कि वे २०० सदी के हैं तथा कुछ इतने आधुनिक हैं कि वे १४०० ई० के हैं लेकिन ये सभी उन दार्शनिक-परम्पराओं से जिनका कि वे सार रूप में वर्णन करते हैं कहीं अधिक आधुनिक हैं क्योंकि दार्शनिक-सम्प्रदायों की उत्पत्ति बुद्ध की समकालीन है तथा इनमें से कुछ तो, उदाहरण के लिए 'सांख्य' कदाचित् बुद्ध के जन्म से पहले ही भली भाँति प्रचलित हो चुके थे।

हिन्दुओं ने भारतीय-दर्शन के समस्त सम्प्रदायों का दो कोटि में विभाजन किया है। आस्तिक, जो मानते हैं, तथा नास्तिक जो निराकरण करते हैं।* हम नास्तिक-सम्प्रदायों का जो मुख्यतः चार्वाक, बौद्ध एवं जैन हैं पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। लेकिन यह आश्चर्य है कि इन सम्प्रदायों को 'नास्तिक' इसलिए नहीं कहा जाता था कि वे ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करते थे अथवा उसका निराकरण करते थे वरन् इसलिए कि वे वेदों के प्राभाण्य के विषय में शंका उपस्थित करते थे अथवा उनके प्रामाण्य का निराकरण करते थे। बहुत से आस्तिक-सम्प्रदाय भी ईश्वरास्तित्व के विषय में सशंक थे अथवा उसका निराकरण करते थे लेकिन फिर भी वे आस्तिक इसलिए कहलाते थे कि वे शास्त्रों के प्रामाण्य में तथा जाति की व्यवस्था में विश्वास करते थे; उन सम्प्रदायों, जो रूढ़िवादी हिन्दू समाज के इन आधारभूत विचारों को मानते थे, की स्वतंत्र विचारधारा के विरुद्ध चाहे वह कितनी भी अनीश्वरवादी क्यों न हो किसी प्रकार का व्यवधान नहीं था। चूंकि शास्त्रों के अर्थ की व्याख्या में पर्याप्त स्वतंत्रता थी तथा चतुर तार्किक वेदों में किसी भी सिद्धान्त को जिसकी उन्हें इच्छा हो दिखला सकते थे बौद्धिक-सम्मान के लिए जाति की मान्यता ही एक व्यावहारिक आकांक्षा थी; चूंकि यह ही भारत की वास्तविक शासन-विधि थी अतएव उसका निराकरण राजद्रोह के समान था और उसे स्वीकार करने से अनेक प्रकार के पापों पर आवरण पड़ जाता था। भारतवर्ष के दार्शनिक यूरोप के स्कालेस्टिक-दर्शनाचार्यों से कहीं अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करते थे यद्यपि यह रिनेंसा के ज्ञानी पोपों के काल के ईसाई विचारकों से कदाचित कुछ कम था।

आस्तिक-दर्शनों में से छः दर्शन इतने प्रमुख हो गए थे कि कुछ काल में प्रत्येक हिन्दू विचारक जो ब्राह्मणों के प्रामाण्य को स्वीकार करता था अपने को उनमें से किसी एक से सम्बन्धित करने लगा। इन सभी दर्शनों की कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जो हिन्दू-सिद्धान्त की आधारशिला हैं जैसे कि, वेद अपौरुषेय है, गुरु की संरक्षता में योगाभ्यास के द्वारा अध्यात्मज्ञान के प्रति अधिकार प्राप्त मुमुक्षु के साक्षात्कार एवं अनुभव की अपेक्षा तर्क तत्त्व एवं सत्य की प्राप्ति के मार्ग-निर्देशक के रूप में अप्रतिष्ठित है, ज्ञान एवं दर्शन का उद्देश्य विश्व पर अधिकार प्राप्त करने के बजाय उससे मोक्ष की प्राप्ति कराना है तथा विचार का लक्ष्य अतृप्त इच्छाजन्य दुःख से निष्कामत्व की प्राप्ति करा के मुक्ति दिलाना है। ये वे सिद्धान्त हैं जिनके शरण मनुष्य महत्त्वाकांक्षा, संघर्ष, वैभव, "उन्नति" एवं "सफलता" से थक कर आता है।

---

*अस्ति, यह है; नास्ति, यह नहीं है।

१. न्याय-दर्शन

हिन्दू-तार्किक

वर्ण्य-विषय के आधार पर भारतीय-विचार का सर्वप्रथम ब्राह्मण-दर्शन (क्योंकि उनका ऐतिहासिक-क्रम अनिश्चित है तथा सभी आवश्यक वातों में वे समकालीन प्रतीत होते हैं) उन तार्किक सिद्धान्तों का समुदाय है जो दो हजार वर्ष तक प्रचलित थे। न्याय का अर्थ है 'तर्क', वुद्धि को निष्कर्ष तक ले जाने का एक साधन। उसके सवसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्याय-सूत्र', जो कि अनिश्चित रूप से गौतम-विरचित माना जाता है, का काल विभिन्न रूप से ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि तथा ईसा की पहली शताब्दि के बीच वतलाया जाता है। सभी हिन्दू विचारकों के समान, गौतम निर्वाण अर्थात् इच्छाओं के कष्ट से मोक्ष की प्राप्ति को अपने शास्त्र का उद्देश्य वतलाते हैं जिसकी प्राप्ति उनके अनुसार केवल शुद्ध एवं अवाधित विचार के द्वारा ही हो सकती है; लेकिन हमें यह आशंका है कि उनका साधारण उद्देश्य केवल भारत के शास्त्रार्थ में भाग लेनेवाले आकुल विद्वानों को मार्ग दिखलाना था। उन्होंने उनके लिए तर्क के सिद्धान्तों का निर्धारण किया, वादगत छल की व्याख्या की तथा मुख्य हेत्वाभासों की सूची तैयार की। एक दूसरे अरस्तू के समान इन्होंने तर्क के आकार की कल्पना हेतुमद् अनुमान (Syllogism) में की तथा युक्ति की पहेली को हेतु* (middle term) में अवगुंठित पाया; वे एक दूसरे जेम्स अथवा डीवी के समान ज्ञान और विचार को मनुष्य की आवश्यकता एवं इच्छा की पूर्ति के निमित्त साधन रूप में ग्रहण करते हैं तथा उनकी सत्यता को अर्थ प्राप्ति की सफलता पर आश्रित मानते हैं। वे एक वस्तुवादी हैं और उन्हें उस उच्च विचार से जिसके अनुसार द्रष्टा के अभाव में जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहता कोई तात्पर्य नहीं है। न्यायशास्त्र में गौतम के पूर्व विद्वान स्पष्टतया नास्तिक थे और उनके अनुयायी ज्ञान मीमांसक (epistemologist) हो गए। उनका मुख्य कार्य था भारत को विचार एवं अन्वेषण की एक तर्क विधि तथा दार्शनिक शब्दों का एक प्रचुर कोष प्रदान करना।

२. वैशेषिक-दर्शन

भारत में डिमाक्रीटस्

जिस प्रकार गौतम भारत के अरस्तू हैं उसी प्रकार कणाद उसके डिमाक्रीटस् हैं। उनके नाम से, जिसका अर्थ है "कण-भक्षक"। ऐसा आभास होता है कि वे ऐतिहासिक कल्पना की एक पौराणिक रचना हो सकते हैं। वैशेषिक-दर्शन के प्रतिपादन काल को पूर्ण यथार्थता से निश्चित नहीं किया जा सका। हम लोगों को यह वतलाया जाता है कि यह दर्शन ३०० ई० पू० के पहले तथा ८०० ई० के वाद नहीं था। इसके नाम की व्युत्पत्ति विशेष से हुई है जिसका अर्थ है वस्तु का स्वाभाविक व्यक्तित्व; कणाद

---

*न्याय के अनुमान में पाँच अवयव होते हैं: प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन एवं निगमन। उदाहरणार्थ (१) सुकरात मरणशील है, (२) क्योंकि वह एक मनुष्य है; (३) सभी मनुष्य मरणशील हैं; (४) सुकरात एक मनुष्य है; (५) अतएव सुकरात मरणशील है।

के सिद्धान्त के अनुसार जगत् अनेक-अनेक द्रव्यों से परिपूर्ण है लेकिन ये सभी किसी न किसी रूप में परमाणुओं के संचय मात्र हैं तथा ये परमाणु सर्वदा नित्य हैं। पूर्णरूपेण डिमाक्रीटस् के समान कणाद की यह घोषणा है कि विश्व में "परमाणुओं और शून्य" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति किसी चेतन ईश्वर की इच्छा पर आधारित न होकर एक अपौरुषेय शक्ति अथवा नियम—अदृष्ट (जो दिखाई न पड़ता हो)—के द्वारा होती है। चूंकि एक मौलिक-सिद्धांतवादी की सन्तान के समान रूढ़िवादी कोई भी नहीं होता, अतएव वैशेपिक-दर्शन के परवर्ती व्याख्याकारों ने जो यह समझने में असमर्थ रहे कि एक अचेतन शक्ति विश्व को नियम एवं ऐक्य किस प्रकार प्रदान कर सकती है परमाणुओं के संसार के साथ-साथ सूक्ष्म परिमाणवाली आत्माओं के जगत् की कल्पना की तथा इन दोनों प्रकार के जगत् का एक चेतन परमात्मा के द्वारा नियंत्रण कराया। लाइब्नीज़ का पूर्व-निर्धारित-अनुरूपता (Pre-established harmony) का सिद्धान्त इतना प्राचीन है।

३. सांख्य-दर्शन

इसकी अत्यधिक प्रसिद्धि; तत्त्वमीमांसा; विकास; अनीश्वरवादिता; प्रत्ययवाद; पुरुष; शरीर, मन एवं आत्मा; दर्शन का लक्ष्य; सांख्य का प्रभाव।

एक हिन्दू इतिहासकार का कथन है कि, "यह भारत में उत्पन्न दार्शनिक-सिद्धान्तों में सबसे मुख्य है।" प्रोफ़ेसर गार्बे ने जिन्होंने अपना अधिकांश जीवन सांख्य के अध्ययन में व्यतीत किया था इस विचार से ही संतोष किया "कि संसार के इतिहास में प्रथम बार कपिल के सिद्धान्त में मनुष्य की बुद्धि की पूर्ण निरपेक्षता, स्वतंत्रता तथा स्वशक्ति में पूर्ण विश्वास का प्रदर्शन हुआ।" यह षड्-दर्शनों में सबसे प्राचीन है और कदाचित् सभी दार्शनिक-सिद्धान्तों में प्राचीनता की दृष्टि से सर्वप्रथम है।* कपिल के विषय में केवल हिन्दू परम्परा (जिसे ऐतिहासिक तारीखों के प्रति एक स्कूल के विद्यार्थी के समान घृणा है) जो उन्हें ईसा पूर्व छठी शताब्दि में सांख्य-दर्शन की स्थापना करने वाला मानती है को छोड़ कर अन्य कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कपिल वस्तुवादी एवं बुद्धिवादी दोनों एक साथ हैं। वह अपने शास्त्र का आरम्भ करते हुए एक चिकित्साशास्त्री के समान प्रथमसूत्र में यह निर्धारित करते हुए कहते हैं कि "दुःख की आत्यन्तिक-निवृत्ति......मनुष्य का चरम-लक्ष्य है।" इस दुःख की भौतिक-उपायों द्वारा निवृत्ति को अपूर्ण मानते हुए वे तिरस्कार करते हैं; इस विषय पर अन्य सभी मतों का एक तार्किक चमत्कार द्वारा निराकरण करते हैं और तदुपरान्त एक के बाद दूसरे सूत्र में (जो इतने सूक्ष्म हैं कि उनका अर्थ समझना ही कठिन होता है) अपने दर्शन का निर्माण करते हैं। उनके दर्शन का नाम (चूंकि यही सांख्य का अर्थ है) उनके पच्चीस तत्त्वों की गणना पर आधारित है जो उनके मतानुसार विश्व

---

*इसका सबसे प्राचीन विद्यमान साहित्य, व्याख्याकार ईश्वर कृष्ण की सांख्य-कारिका है जो ईसा की पांचवीं सदी की है तथा सांख्य-सूत्र जो पहले कपिल से सम्बन्धित किये जाते थे लेकिन वे पंद्रहवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं हैं; इस दर्शन की उत्पत्ति बौद्ध-धर्म से पहले की है। बौद्ध-ग्रंथ तथा महाभारत बारम्बार इसका उल्लेख करते हैं तथा विन्टरनिट्ज़ पाइथागोरस् में इसका प्रभाव देखते हैं।

की रचना करते हैं। वे इन तत्त्वों को एक पेंचीले सम्बन्ध पर आधारित करते हुए क्रमबद्ध करते हैं जो सम्भवतः निम्नलिखित वर्गीकरण-प्रणाली से स्पष्ट हो सकता है :

(१) अ—द्रव्य (प्रकृति, उत्पत्ति करनेवाली), एक सामान्य भौतिक पदार्थ जो अपने गुणों के द्वारा निम्नलिखित की उत्पत्ति करती है,
(१.) १. वुद्धि—प्रत्यक्ष की शक्ति जो अपने को गुणों (विकास की शक्ति) के द्वारा उत्पन्न करती है
(३) (i) पंच तन्मात्राएँ अथवा आन्तरिक जगत् की ज्ञान-शक्तियाँ
(४) १. चक्षु तन्मात्रा
(५) २. श्रवण-तन्मात्रा
(६) ३. घ्राण-तन्मात्रा
(७) ४. रसना तन्मात्रा एवं
(८) ५. त्वक्-तन्मात्रा, (१) से (८) तक के तत्त्व (१०) से (२४) तक के तत्त्वों को उत्पन्न करने में सहायता देते हैं।
(९) (ii) मन संकल्प-विकल्प की शक्ति
(iii) पंच ज्ञानेन्द्रियाँ ((४) से (८) तक के तत्त्वों से सम्वन्धित)
(१०) १. चक्षुन्द्रिय
२. श्रवणेन्द्रिय,
३. घ्राणेन्द्रिय,
४. रसनेन्द्रिय, एवं
५. त्वगेन्द्रिय;
(iv) पंचकर्मेंद्रिय
(१५) १. वाक्
(१६) २. कर
(१७) ३. पाद
(१८) ४. वायु, तथा
(१९) ५. उपस्थ,
(v) वहिर्जगत् के पंचभूत
(२०) १. आकाश,
(२१) २. वायु,
(२२) ३. अग्नि,
(२३) ४. आप,
(२४) ५. पृथ्वी,
(२५) व—पुरुष—एक सामान्य चेतन-पदार्थ जो स्वभाव से अकर्ता है लेकिन उसके सम्बन्ध से प्रकृति क्रियापरक होती है तथा उसकी विकास की शक्तियाँ अपने कर्मो में प्रेरित होती हैं।

आरम्भ में यह एक शुद्ध-भौतिकवादी सिद्धान्त प्रतीत होता है; मन एवं आत्मा—जगत् तथा शरीर और भौतिक पदार्थ सभी कुछ प्राकृतिक साधनों के विकास तथा भूतों के (नीच से सर्वोच्च) निरन्तर विकास एवं विनाश और तदुपरान्त पुनः विकास के ऐक्य एवं अविच्छिन्न प्रवाह रूप मालूम पड़ते हैं। कपिल के विचार में ...
सिद्धान्त की पूर्वसूचना मिलती है: आत्मा की आवश्यकता से तन्मात्राओं ...
श्रवण, घ्राण, रसना एवं त्वक्) और तन्मात्राओं से इन्द्रियों की (चक्षु, ...

रसना एवं त्वचा) की उत्पत्ति होती है। किसी भी हिन्दू-दर्शन में चेतन और अचेतन, वनस्पति और पशु, पशु और मनुष्य-जगत में कोई मुख्य-भेद नहीं है और न इनके दार्शनिक सिद्धान्तों में एक वस्तु की दूसरे से पूर्ण असम्वद्धता ही है; ये सब एक जीवन की जंजीर की भिन्न-भिन्न कड़ियाँ हैं। विकास और लय, जीवन, मरण और पुनः जीवन के चक्र की अनेक धुरी हैं। सर्ग अवर्तन की प्रक्रिया का निश्चय पूर्णरूपेण प्रकृति के तीन सक्रिय गुणों अथवा शक्तियों के द्वारा होता है जो सत्त्व, रजस और तमस् है। इन शक्तियों का विनाश के विरुद्ध विकास के प्रति कोई पक्षपात नहीं है। वे उस जादूगर के समान जो अपने अनन्त वस्तुओं को एक टोपी से निकालता है, उन्हें पुनः उसमें रखता है तथा निकालने और रखने के इस प्रयोग को निरंतर किया करता है एक के वाद दूसरे तत्त्व का विकास करती हैं। जैसा कि हर्वर्ट स्पेन्सर को कुछ काल वाद कहना था, विकास की प्रत्येक अवस्था अपने अन्तर में विनाश में लय होने की प्रवृत्ति को जो उसकी निर्णीत प्रतिमूर्ति है तथा अपने अन्त को गर्भित रखती है।

लैपलेस के समान कपिल ने सर्ग-प्रवर्तन की व्याख्या के लिए किसी ईश्वर की कल्पना को आवश्यक नहीं समझा; देशों के सबसे धार्मिक एवं दार्शनिक इस देश में बिना ईश्वर के धर्म और दर्शन की उपलब्धि कुछ अस्वाभाविक नहीं है। सांख्य के कितने ग्रंथ स्पष्ट रूप से ईश्वर की सत्ता का निराकरण करते हैं। सृष्टि-रचना ही अचिंत्य है क्योंकि "अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती," सृष्टि एवं सृष्टिकर्ता दोनों एक हैं। कपिल यह कह कर संतोष करते हैं (ठीक उसी प्रकार जैसे कि वे इमैन्वल कांट हों) कि सृष्टि-कर्ता की सत्ता को मानुषिक वुद्धि द्वारा प्रमाणित करना असंभव है। ईश्वरास्तित्व के विषय में संशयात्मक इस दार्शनिक का कथन है कि जिस किसी भी वस्तु का अस्तित्व होता है वह या तो वद्ध होती है या मुक्त और ईश्वर इन दो में से एक भी नहीं हो सकता। यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसे सृष्टि-रचना की कोई आवश्यकता नहीं है; यदि वह अपूर्ण है तो वह ईश्वर नहीं है। यदि ईश्वर शिव है तथा दैवी-शक्तिवान् हैं तो वे कदाचित् इस प्रकार के अपूर्ण दुःख से परिपूर्ण एवं मृत्यु के विषय में निश्चयात्मक-सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। यह ज्ञान शिक्षाप्रद है कि हिन्दू-विचारक कितनी मानसिक-शांति से इन प्रश्नों पर विचार करते थे जिसमें वे कभी भी हठ का अथवा परस्पर अपशब्दों का प्रयोग नहीं करते थे तथा शास्त्रार्थ को सदैव उस स्वर पर रखते थे जो हमारे काल के सबसे प्रौढ़ वैज्ञानिक के वाद-विवाद में प्राप्त होता है। कपिल अपनी रक्षा वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हुए करते हैं। वे केवल यही कहते हैं "वेद प्रामाणिक हैं क्योंकि उनके रचयिता तत्त्ववेत्ता थे।" और तत्पश्चात् वे अपने विषय-वर्णन में वेदों पर कुछ भी ध्यान दिये हुए विना आगे बढ़ते हैं।

लेकिन वे भौतिक वादी नहीं हैं; इसके विपरीत वे अपनी परम्परा के अनुसार एक प्रत्ययवादी तथा अध्यात्मवादी हैं। वे वस्तुसत्ता की प्रत्ययों से उपपत्ति मानते हैं; हमारी इन्द्रियाँ तथा हमारे विचार ही जगत् को उसकी सत्ता, उसका आकार तथा उसका अर्थ (जो कुछ भी वह हमारे लिए हो सकता है) प्रदान करते हैं। इन सबसे अनपेक्षित रूप में जगत् का क्या स्वरूप होगा यह एक निरर्थक प्रश्न है जिसका न तो कोई अर्थ है और न कभी इसका कोई उत्तर हो सकता है। पुनश्च चौवीस तत्त्वों की गणना के उपरान्त जो इनके दर्शन में भौतिक विकास के अन्तर्गत है वे अपने प्रारम्भिक भौतिकवाद को पुरुष की अद्भुत एवं परमावश्यक सत्ता की कल्पना करके—जो अंतिम सत्ता है—उलट-पलट कर देते हैं। यह अन्य तेइस तत्त्वों के समान प्रकृति से उत्पन्न नहीं होता; यह एक स्वतंत्र अध्यात्म तत्त्व है जो सर्वव्यापी है, नित्य है तथा निष्क्रिय है लेकिन इसके

अभाव में किसी भी क्रिया का सम्पादन नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष के सामीप्य के बिना न तो प्रकृति में विकास होता है और न गुणों में क्रिया ही उत्पन्न होती है, इस अध्यात्म-तत्त्व (पुरुष) से भौतिक तत्त्वों में सर्वत्र सजीवता आती है उनमें प्राण का संचार होता है तथा वे विकास की ओर प्रेरित होते हैं। यहाँ कपिल अरस्तू के समान कहते हैं: "पुरुष से सामीप्य के कारण उसका प्रकृति पर चुम्बक के समान एक गहरा प्रभाव पड़ता है अर्थात् पुरुष का सामीप्य प्रकृति को सृष्टि-विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की ओर प्रेरित करता है। इन दोनों के परस्पर आकर्षण से सृष्टि होती है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ में पुरुष का सृष्टि में कर्तव्य अथवा सम्बन्ध नहीं है।"

पुरुष इस अर्थ में अनेक हैं कि उनका प्रत्येक शरीर में अस्तित्व रहता है; लेकिन सभी शरीरों में वे समान हैं तथा प्राणी के व्यक्तित्व में उनका कुछ भी हाथ नहीं रहता। व्यक्तित्व शरीरगत होता है; हम लोग जो कुछ भी हैं वह पुरुष के कारण नहीं वरन् अपने शरीर एवं मन की उत्पत्ति, विकास एवं अनुभवों के कारण हैं। सांख्य में मन, शरीर का वैसे ही एक भाग है जैसे कि कोई दूसरा अंग उसका भाग हो। हमारे अंतर की असंग एवं निरंजन आत्मा स्वतंत्र है जब कि मन और शरीर दोनों प्रकृति के नियमों तथा उसके गुणों से बद्ध है; वास्तव में आत्मा न तो क्रियवान् और न प्रतिबद्ध है, ये दोनों तो मन और शरीर के धर्म हैं। आत्मा पर शरीर और व्यक्तित्व के क्षय और विनाश का कोई प्रभाव नहीं होता; वह तो जन्म और मृत्यु के प्रवाह से असम्बद्ध है। कपिल[1] कहते हैं, "मन अनित्य है लेकिन पुरुष नहीं। केवल शरीर और भौतिक-पदार्थों से बद्ध जीवात्मा का ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों के निरन्तर परिवर्तन में जिससे बाह्य-जगत् के इतिहास का निर्माण होता है जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म होता है। कपिल जो अन्य सभी वस्तुओं में शंका करने में समर्थ हैं पुनर्जन्म के विषय में कभी भी शंका नहीं करते।

अधिकतर हिन्दू-विचारकों के समान कपिल भी जीवन को उपादेय मानने में सशंक हैं (यदि वे उसे कभी भी उपादेय मानते हों)। "सुख क्षणिक है तथा दुःख के दिन भी अल्प हैं; धन एक बढ़ी हुई नदी के समान है तथा जीवन टूटते हुए कगारे पर स्थित एक वृक्ष के समान है।" जीवात्मा एवं मन के भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध होने के तथा विकास की अन्ध शक्तियों में फँसे होने के कारण दुःख की उपलब्धि होती है। इस दुःख से बचने का क्या उपाय है? हमारे दार्शनिक का उत्तर है: केवल दर्शन के द्वारा। केवल बुद्धि के आधार पर यह निश्चय होता है कि यह सब कष्ट एवं दुःख, उद्यम-शील जीवात्माओं का यह भेद तथा उनकी उद्विग्नता सब माया है, भ्रम है, जीवन एवं काल की एक सारहीन लीला है। दुःखात्मक जीवात्मा तथा निःसंग पुरुष, चलायमान तल तथा अपरिवर्तनीय आधार के बीच विवेक के अभाव (जो एक प्रकार की भूल है) से बन्धन की प्राप्ति होती है। इन दुःखों से मुक्त होने के लिए केवल यही आवश्यक है कि हमें यह ज्ञान हो जाय कि "हमारा स्वरूप जो वास्तव में पुरुष है पुण्य और पाप, सुख और दुःख, जन्म और मृत्यु से परे है।" हमारे ये कर्म तथा संघर्ष, हमारी ये सफलताएँ तथा असफलताएँ हमें तभी तक कष्ट देती हैं जब तक हम यह समझने

---

[1] कपिल के एक हिन्दू टीकाकार का कथन है, "प्रकृति का उसके सर्ग-प्रवर्तन में पुरुष के सम्मुख एक दृश्य उपस्थित करने के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं है।" कदाचित् जैसा कि नीट्शे ने संकेत किया है, संसार को देखने का सबसे बुद्धिमानी का ढंग है उसे एक कलात्मक एवं नाट्य-दृश्य के रूप में देखना।

में असमर्थ हैं कि ये पुरुष से उत्पन्न नहीं होतीं तथा उनका पुरुष पर कोई प्रभाव नहीं हैं; एक ज्ञानी मनुष्य उनको अपने से वहि समझते हुए उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार कि पक्षपात रहित व्यक्ति किसी खेल को देखता है। आत्मा को सभी वस्तुओं से अपनी स्वतंत्रता समझने दो और वह तत्काल मुक्त हो जावेगी; केवल ज्ञान की प्राप्ति द्वारा वह देश और काल, दुःख और पुनर्जन्म के कारागार से छुटकारा पा जावेगी। कपिल कहते हैं, "पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त मुक्त पुरुष को केवल यह ज्ञान होता है कि न मैं हूँ, न कुछ मेरा है और न मेरा अस्तित्व है।" अर्थात् व्यक्तिगत भेद एक भ्रम है। संसार में जो कुछ भी सत्य है वह एक तो जड़ वस्तु और मन, शरीर और जीवात्मा रूप में सृष्टि एवं लय होने वाली अनन्त प्रकृति है और दूसरी है कूटस्थ एवं अपरिवर्तनशील पुरुष की नीरव अनन्तता।

इस प्रकार के दर्शन से उस व्यक्ति को जो अपने को कष्टमय शरीर तथा दुःखद स्मृतियों से अलग करने में कठिनाई का अनुभव करता है किसी प्रकार का संतोष न होगा; लेकिन इस दर्शन ने चिंतनशील भारत की मानसिक स्थिति को भली भाँति अभिव्यक्त किया है। वेदान्त को छोड़कर अन्य किसी दर्शन ने हिन्दू-बुद्धि पर इतना प्रभाव नहीं डाला। बुद्ध के अनीश्वरवाद, उनके निर्वाण के सिद्धान्त तथा उनके ज्ञान मीमांसागत प्रत्ययवाद में हम कपिल का प्रभाव देखते हैं। महाभारत, मनुस्मृति[1] पुराणों और तन्त्रों में भी जिन्होंने प्रकृति और पुरुष का सृष्टि करने वाली स्त्री और पुरुष की कल्पना में रूपान्तर किया था कपिल का प्रभाव दिखलाई पड़ता है; इन सबसे अधिक यह प्रभाव योग-दर्शन में है जिसमें केवल सांख्य के प्रयोग का विस्तार किया गया है, जो सांख्य के सिद्धान्तों पर ही आधारित है तथा जो सांख्य की उक्तियों से परिपूर्ण है। चूँकि शंकर और उनके वेदान्त ने हिन्दू-बुद्धि को अपना रक्खा है अतएव आज कपिल के अनुयायी कम हैं लेकिन फिर भी प्राचीनों की उक्ति कभी-कभी भारत में अपना स्वर उच्च कर देती है: "न तो सांख्य के समान कोई ज्ञान है और न योग के समान कोई शक्ति है।"

४. योग-दर्शन

योगी; 'योग' की प्राचीनता; उसका अर्थ; अष्टांग-योग; 'योग' का उद्देश्य; योगी के चमत्कार; योग की तत्परता।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमानसमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥[2]

---

[1] पृष्ठ ५१२ पर उद्धृत श्लोकों से।

[2] भगवद्गीता श्लोक (६, ११ से १४)—'मेरे' शब्द का प्रयोग कृष्ण के लिए हुआ है।

(शुद्धभूमि में कुशा मृगछाला आदि से सुशोभित अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके उस आसन पर बैठकर तथा मन को एकाग्र कर के चित्त और इन्द्रियों की क्रियायों को वश में किया हुआ अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे। काया शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्र भाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहता हुआ भय रहित तथा अच्छी प्रकार शान्त अंतःकरण वाला और सावधान होकर मन को वश में करके मेरे में लगे हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे।)

नदी-तट के घाटों पर श्रद्धावान् हिंदुओं, उदासीन मुसलमानों एवं आश्चर्य से देखते हुए पर्यटकों के बीच योगी-जन इधर-उधर बैठे दिखलाई पड़ते हैं जिनमें भारतीय दर्शन एवं धर्म को उनकी अंतिम एवं सबसे अनोखी अभिव्यक्ति मिलती है। इससे कम संख्या में वे हमें जंगलों में अथवा सड़कों के किनारे ध्यानावस्थित एवं निश्चल रूप में बैठे दिखलाई पड़ते हैं। इनमें से कुछ वृद्ध होते हैं कुछ युवक होते हैं, कुछ अपने कंधों पर कम्बल डाले रहते हैं, कुछ कौपीन धारण किये होते हैं तथा कुछ अपने बालों को जटा बनाए तथा शरीर पर राख लपेटे केवल उसी का वस्त्र धारण किये हुए दिखलाई पड़ते हैं। वे बिना हिले-डुले पद्मासन लगाकर पृथ्वी पर बैठते हैं तथा अपनी नासिका को अथवा नाभि को देखते रहते हैं। उनमें से कुछ तो निरन्तर प्रति घड़ी प्रति दिन सूर्य की ओर एक टक लगाये देखा करते हैं और इस प्रकार अपने को शनैः-शनैः अंधा बनाते रहते हैं, कुछ मध्याह्न की गर्मी में अग्नि के चारों ओर बैठते हैं, कुछ जलते हुए कोयलों पर चलते हैं अथवा उन्हें अपने सर पर डालते हैं कुछ पैंतीस वर्ष तक लोहे के सलाखों पर नग्न लेटे रहते हैं, कुछ तीर्थस्थानों तक हजारों मील पृथ्वी पर लोटते हुए जाते हैं, कुछ अपने को पेड़ों में बाँधते हैं, अथवा अपने को कटघरों में उस समय तक बंद रखते हैं जब तक उनकी मृत्यु न हो जाय, कुछ अपने को गर्दन तक ज़मीन में गाड़ कर वर्षों तक अथवा आजीवन उसी अवस्था में रहते हैं, कुछ अपने गालों को लोहे के तार से सिलकर जबड़ों को हिलने-डुलने में पूर्ण असमर्थ बना देते हैं और इस प्रकार वे अपने को केवल तरल पदार्थ पर जीवन निर्वाह करने का अभिशाप देते हैं, कुछ अपनी मुट्ठियों को उस समय तक कस कर बाँधे रहते हैं जब तक कि उनके नाखून हथेली के पृष्ठ भाग को पार न कर जाँय तथा कुछ अपने एक हाथ अथवा पैर को तब तक उठाये रहते हैं जब तक कि वह सूख न जाय अथवा निष्प्राण न हो जाय। इन योगियों में से अधिकतर तो केवल एक ही आसन पर अपनी प्रत्येक इंद्रिय को जान-बूझ कर शक्तिहीन करते हुए केवल पत्तियाँ अथवा मूँगफली खाकर (जो लोग उन्हें लाकर दे देते हैं) प्रत्येक विचार को ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकाग्र करते हुए वर्षों तक मौन बैठे रहते हैं। इनमें से बहुत से तो चमत्कारिक क्रियाओं का परिहार करते हैं तथा अपने घरों के शांत आश्रय में सत्य की खोज करते हैं।

हमारे मध्य-काल में भी इस प्रकार के व्यक्ति थे लेकिन आज उन्हें खोजने के लिए हमें यूरोप और अमरीका के किसी कोने में देखना पड़ेगा। भारतवर्ष में वे लगभग २५०० वर्षों से हैं—कदाचित उस प्रागैतिहासिक काल से जब वे जंगली जातियों के शमन् थे। सुखों का परित्याग करते हुए ध्यान की प्रथा का जिसे योग कहते हैं अस्तित्व वेदों के काल में था, उपनिषदों और महाभारत ने उसे अपनाया और बुद्ध के काल में भी उसका प्रचार था। सिकन्दर भी इन आसनज्ञाताओं के चुपचाप दुःख को सहन करने के सामर्थ्य से आकर्षित होकर उन्हें समझने के लिए रुक गया तथा उनमें से एक को अपने पास आने तथा अपने साथ रहने के लिए निमंत्रित किया। उस योगी ने डायोजिनिस के समान दृढ़ता से यह कह

जब आत्मा समस्त शारीरिक प्रभावों से मुक्त हो जाती है तब उसका ब्रह्म से योग नहीं होता वरन् वह ब्रह्म ही हो जाती है; चूंकि ब्रह्म वह प्रच्छन्न आध्यात्मिक आधार है वह अप्राकृतिक एवं अहंकारहीन आत्मा है जो समस्त ऐन्द्रिक-सम्बन्धों के योगिक-प्रयोगों द्वारा नष्ट होने पर अवशिष्ट रह जाती है। जिस सीमा तक आत्मा अपने को अपने भौतिक वातावरण एवं कारागार से मुक्त कर सकती है उस सीमा तक वह ब्रह्म हो जाती है तथा ब्रह्म के ज्ञान एवं शक्ति का प्रयोग कर सकती है। यहाँ पर धर्म का जादू का रूप पुनः प्रकट होता है जो धर्म के तत्त्व की अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों की आराधना की भर्त्सना करता है।

· उपनिषद-काल में योग शुद्ध रहस्यवाद था, ईश्वर से एकता प्राप्त करने का आत्मा का एक प्रयास था। हिन्दुओं की धर्म-कथाओं में कहा है कि प्राचीन काल में सप्तर्षियों ने तपस्या एवं ध्यान के द्वारा सब वस्तुओं का पूर्णज्ञान प्राप्त किया। भारत के बाद के इतिहास में 'योग' जादू से दूषित हो गया और उसमें ज्ञान की शांति की अपेक्षा चमत्कारिक शक्तियों पर अधिक विचार किया जाने लगा। योगी का विश्वास है कि वह शरीर के किसी भी भाग को उस पर चित्तएकाग्र करके चेतनाहीन कर सकता है तथा उस पर नियंत्रण कर सकता है। योगी अपनी इच्छा से अपने को अदृश्य कर सकता है, अपने शरीर की क्रियायों का निरोध कर सकता है, एक ही क्षण में पृथ्वी के किसी भी भाग में जा सकता है, अपनी इच्छा के अनुसार जीवित रह सकता है तथा भूत, भविष्य एवं आकाश के सुदूर तारों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

संशयात्मा को यह मानना चाहिए कि इन सब में कुछ भी असम्भव नहीं है। मूर्ख लोग कहीं अधिक उन प्रतिज्ञाओं की कल्पना कर सकते हैं जिनका दार्शनिक निराकरण करने में असमर्थ हों और कभी-कभी दार्शनिक भी उनके इस खेल में भाग लेते हैं। व्रत एवं आत्म-संयम से आनन्द और भ्रम की उत्पत्ति हो सकती है, चित्त-एकाग्रता से किसी एक स्थल पर अथवा सम्पूर्ण शरीर पर दुःख की अनुपलब्धि हो सकती है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शक्ति और योग्यता का कितना कोष एक अज्ञात चित्त में छिपा रहता है। योगियों में से बहुत से केवल भिखमंगे होते हैं जो अपनी तपस्या स्वर्ण की आकांक्षा (जो पाश्चात्य देशों का लक्षण माना जाता है) में अथवा आत्म-प्रशंसा एवं अपने प्रति दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने की साधारण मनुष्योचित तृष्णा के कारण करते हैं।* त्याग और विषय-सुख में परस्पर सम्बद्ध हैं अथवा, उत्तम रूप से वह उसे नियंत्रित करने का एक प्रयास है लेकिन यह प्रयास अन्ततोगत्वा अतृप्त-काम के एक विकृत-रूप में अभिव्यक्त होता है जिससे साधक कष्ट में एक प्रकार के काम-वासनाजन्य सुख का अनुभव करने लगता है। ब्राह्मणों ने बुद्धिमानी के साथ इन यौगिक-क्रियायों का परित्याग किया और अपने अनुयायियों को जीवन के स्वाभाविक कर्तव्यों का पूर्ण चेतना से पालन करते हुए आत्मशुद्धि की सम्प्राप्ति करने का आदेश दिया।

सहसा वह शांति जिसे कि हम सदैव खोज रहे थे तथा जो हमसे हमारी इच्छाओं के पूर्व मार्ग से सदैव भागती थी हमारे समक्ष स्वतः आ जाती है और तबसे वह निरंतर हमारे साथ रहती है।

---

* स्पष्टवादी डुब्वायस उनका "आवारों की एक जाति" कहकर वर्णन करता है। 'फ़क़ीर' शब्द जो प्रायः योगियों के लिए प्रयुक्त होता है, शब्द अरबी का है जिसका आरम्भ में अर्थ "ग़रीब" था।

५. पूर्व मीमांसा-दर्शन

'योग' से 'पूर्व-मीमांसा' की ओर की प्रगति ब्राह्मण षड्-दर्शनों में से सर्व प्रख्यात सिद्धान्त से सबसे कम आवश्यक-सिद्धान्त की ओर जाना है। जिस प्रकार 'योग' दर्शन की अपेक्षा जादू और रहस्यवाद है उसी प्रकार यह सिद्धान्त दर्शन को अपेक्षाकृत 'धर्म' अधिक है; यह एक प्रकार से दार्शनिकों के अपवित्र सिद्धान्तों के विरुद्ध रूढ़िवादियों की प्रतिक्रिया है। इसके रचयिता जैमिनि ने कपिल और कणाद द्वारा वेद की प्रामाण्यता स्वीकार किए जाने पर भी तदर्थ को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध व्याख्यान किया। जैमिनि ने कहा कि मनुष्य की बुद्धि दर्शन और धर्म के प्रश्नों को हल करने के लिए एक अत्यन्त दुर्बल साधन है। बुद्धि एक चंचल व्यक्ति के समान किसी भी इच्छा की सेवा कर सकती है; उससे हमें विज्ञान अथवा 'सत्य' की प्राप्ति नहीं होती वरन् हमें हमारे विषय-सुख एवं अभिमान के बुद्धि द्वारा परिष्कृत रूप की ही प्राप्ति होती है। ज्ञान एवं शांत का मार्ग तर्क की निरर्थक भूलभुलैया में नहीं वरन् परम्परा की विनीत स्वीकृति एवं शास्त्र-विहित कर्मकाण्ड के विनम्र एवं श्रद्धापूर्वक आचरण में है। इसके लिए भी यहाँ कुछ कहने योग्य है।

६. वेदान्त-दर्शन

उत्पत्ति; शंकर; तर्क; ज्ञानमीमांसा; "माया"; मनोविज्ञान; धर्म; ईश्वर-आचार; इस दर्शन की आपत्तियाँ; शंकर की मृत्यु।

आरम्भ में वेदान्त का अर्थ 'वेदों का अन्त' अर्थात् उपनिषद् था। भारत में आज इसका प्रयोग उस दार्शनिक सिद्धान्त के लिए किया जाता है जिसमें उपनिषदों के सारा भूत सिद्धान्त कि आत्मा और ब्रह्म एक हैं—वह स्वर जो समस्त भारतीय विचारधारा में चहुँ ओर गूँजा करता है—को तर्क के द्वारा एक आकार एवं आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दू-दार्शनिक सिद्धान्तों के इस सर्वमान्य सिद्धान्त का सबसे प्राचीन रूप बादरायण (Ca. 200 B. c.) के 'ब्रह्म-सूत्र' में है; इसमें ५५५ सूत्र हैं जिनके प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" में अन्य सूत्रों के उद्देश्य की घोषणा की गई है। लगभग एक हज़ार वर्ष बाद गौड़पाद ने इन सूत्रों पर कारिकाओं की रचना की और इस दर्शन के गोपनीय सिद्धान्तों की गोविन्द को शिक्षा दी। गोविंद ने इस शिक्षा का दान शंकर को दिया और उसने वेदान्त पर सुविख्यात भाष्यों की रचना की तथा अपने को भारतीय दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित किया।

अपने ३२ वर्ष के छोटे से जीवन में शंकर ने ज्ञानी और सन्त, ज्ञान और दया की एकता की सम्प्राप्ति की जो भारत में उत्पन्न सर्वोच्च व्यक्ति का लक्षण है। मलाबार के अध्ययनशील नम्बूदरी ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर उन्होंने संसार के वैषयिक-सुखों का परित्याग किया तथा हिन्दू-देवताओं की निरभिमान आराधना करते हुए और फिर भी सर्वव्यापी ब्रह्म की रहस्यमयी अनुभूति में तन्मय होकर युवावस्था में ही संन्यास ग्रहण किया। उनको यह प्रतीत हुआ कि सर्वोच्च धर्म एवं सबसे गहन दर्शन उपनिषदों का ही है। वे साधारण-व्यक्तियों के बहुदेववाद को क्षमा कर सकते लेकिन सांख्य के निरीश्वरवाद एवं बुद्ध के अज्ञेयवाद (agnosticism) को वे क्षमा न कर सके। उत्तरी-भारत में दक्षिण-भारत के प्रतिनिधि-रूप में आकर उन्होंने काशी के प्राचीन विश्व-विद्यालय में ऐसी ख्याति प्राप्त की कि उसने उन्हें अपनी सर्वोच्च उपाधियों से आभूषित किया तथा उन्हें, उनके शिष्यों की एक मण्डली के साथ भारत के सभी शास्त्रार्थ-मण्डपों में ब्राह्मण-धर्म की विजय-पताका फहराने के लिए भेजा। बनारस में शायद उन्होंने

अपने भगवद्गीता भाष्य एवं उपनिषद्-भाष्यों की रचना की जिसमें उन्होंने एक धार्मिक उत्साह एवं बौद्धिक विलक्षणता से भारत के नास्तिकों पर प्रहार किया और ब्राह्मण-धर्म को बौद्धिक-नेतृत्व का वह पद प्रदान किया जहाँ से बुद्ध और कपिल ने उसे पदच्युत कर दिया था।

इन भाष्यों में तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी प्रभंजन का वेग है तथा ग्रंथ-व्याख्यान रूपी मरुभूमि का आधिक्य है लेकिन यह सब उस व्यक्ति में जो तीस वर्ष की अवस्था में एक साथ भारत का कांट और ऐक्वाइनस का क्षम्य माना जा सकता है। ऐक्वाइनस के समान शंकर अपने देश के शास्त्रों को ईश्वरीय अभिव्यक्ति मानते हुए पूर्ण प्रमाण रूप मानते हैं और तदुपरान्त इन शास्त्रों की शिक्षाओं का अनुभव और बुद्धि में प्रमाण खोजने के लिए एकदम दौड़ पड़ते हैं। ऐक्वाइनस के प्रतिकूल वे यह विश्वास नहीं करते कि बुद्धि इस कार्य के लिए पर्याप्त है; इसके विपरीत उन्हें यह आश्चर्य है कि क्या हमने बुद्धि की शक्ति और कार्य उसकी शुद्धता और प्रामाणिकता की अतिशयोक्ति नहीं की? जैमिनी का कथन सत्य था। बुद्धि तो एक वकील के समान है; वह जो कुछ भी हम चाहेंगे उसे प्रमाणित कर देगी; प्रत्येक तर्क के लिए वह उसी के बराबर एक विरोधी तर्क उपस्थित कर सकती है और इन सब का परिणाम है कि संशयवाद जो चरित्र की शक्ति को हीन करता है तथा जीवन के मूल्यवान् गुणों को नष्ट करता है। शंकर का कथन है कि हमें तर्क की आवश्यकता नहीं है वरन् अनुभूति अर्थात् उस शक्ति की आवश्यकता है जिससे आवश्यक का अनावश्यक से, नित्य का अनित्य से, अवयवी का अवयव से ज्ञान हो सके; यह दर्शन की प्रथम आवश्यकता है। इसकी दूसरी आवश्यकता है किसी भी वस्तु का निरीक्षण एवं परीक्षण तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए विचार करना न कि आविष्कार, धन एवं शक्ति की लालसा से। तीसरे, दार्शनिक को आत्मसंयम, धैर्य एवं शान्ति की प्राप्ति करनी चाहिए; उसे भौतिक आकर्षण एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति चितारहित होकर जीवन-निर्वाह करना सीखना चाहिए। अंतिम आवश्यकता यह है कि दार्शनिक की अंतरात्मा में मोक्ष की, अविद्या से छुटकारा पाने की, जीवात्मा के भेद की, चेतना के अंत की, पूर्णज्ञान एवं अनन्त ऐक्य रूपी ब्रह्म में आनंदात्मक-लय की इच्छा हो एक शब्द में, मुमुक्षु को बुद्धि के तर्क की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि आत्मा की शुद्धि एवं संयम की। कदाचित्, सभी गहन-शिक्षाओं का यही रहस्य है।

शंकर अपने दर्शन की निष्पत्ति एक ऐसे सूक्ष्म एवं गहन उद्गार से करते हैं जिसका आभास लगभग आगामी एक हज़ार वर्ष—जब कि इमैन्वल कांट ने अपने 'क्रिटिक आफ़ प्योर रीज़न की' रचना की थी—के पहले कभी नहीं हुआ। वे पूछते हैं: ज्ञान की उपलब्धि किस प्रकार होती है? यह स्पष्ट है कि हमारे सभी ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं तथा वे वाह्य-सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं करते वरन् उस ज्ञान में प्रतिफलित सत्ता की अभिव्यक्ति करते हैं। अतएव इन्द्रियों से हम 'सत्य' का ज्ञान कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। हम उसे केवल देश, काल एवं निमित्त के उस वस्त्र से ढँका हुआ पाते हैं जो हमारी इन्द्रियों एवं बुद्धि से बुने हुए मकड़ी के जाले के समान है। यह जाला जैसे कि उस प्रवहमान, भ्रामक सत्य को ग्रहण करने या बांधे रखने के लिये बुना गया है, जिसके अस्तित्व की कल्पना तो हम कर सकते हैं लेकिन जिसके गुणों का पदार्थ-विषयक-वर्णन हम नहीं कर सकते। हमारी प्रत्यक्ष की प्रणाली सदैव उसके विषय से इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित रहती है कि उसको विलग करना कठिन है।

लेकिन यह उस अहंवादी के समान जो यह सोचता है कि वह सोकर संसार का नाश कर सकता है, खोखला प्रत्ययवाद नहीं है। जगत् की सत्ता है, लेकिन वह **माया** है—जो भ्रम नहीं है वरन् प्रपंच अर्थात् वुद्धिजनित कल्पना है। हमारी वस्तुओं को देश-काल के आच्छादन के अतिरिक्त प्रत्यक्ष करने की अयोग्यता तथा उन्हें कारण एवं परिवर्तन से असम्वद्ध रूप में ग्रहण करने की अयोग्यता हमारी एक स्वाभाविक अस्वतंत्रता है, अविद्या है, जो हममें प्रत्यक्ष की प्रत्येक वृत्ति से सम्वन्वित है तथा जिसका हमारा यह शरीर उत्तराधिकारी है। **माया** और **अविद्या** उस महान् कल्पना के आध्यात्मिक एवं वाह्य-विपयक रूप हैं जिसके द्वारा वुद्धि यह सोचती है कि उसे 'वस्तु सत्ता' का ज्ञान होता है; **माया** और **अविद्या** के द्वारा अपने जन्मजात अज्ञान के द्वारा हम अनेक प्रकार के विपयों को तथा परिवर्तन के प्रवाह को देखते हैं। वास्तव में केवल एक ही सत्ता का अस्तित्व है और परिवर्तन रूप के वाहरी प्रकारान्तर का नाममात्र है। **माया** अथवा परिवर्तन और वस्तुओं के आवरण के पृष्ठ में ब्रह्म की वह सर्वव्यापी सत्ता है जिसकी उपलब्धि प्रत्यय अथवा वुद्धि से नहीं वरन् सुशिक्षित आत्मा की सूक्ष्म-दृष्टि एवं अनुभूति से होता है।

इसी प्रकार वुद्धि एवं इन्द्रिय-ज्ञान के वुद्धि और इन्द्रियों के स्वाभाविक आच्छादन से हम यह समझने में असमर्थ होते हैं कि विभिन्न जीवात्माओं एवं मन के आधार में एक अपरिवर्तनशील आत्मा है। हमारी भिन्न-भिन्न आत्माएँ जिनका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथा जो हमारे विचार के विपय हैं, देश और काल के छायाचित्र के समान असत्य हैं। वैयक्तिक भेद एवं स्पष्ट व्यक्तित्व, इन सवका शरीर एवं भौतिक-पदार्थों से सम्वन्ध रहता है तथा उनकी स्थिति भ्रमात्मक-परिवर्तन के संसार में रहती है। ये जीवात्माएँ जिनकी सत्ता केवल व्यावहारिक है अपने भौतिक अंगों के नप्ट होने पर नप्ट हो जाती हैं। लेकिन देश और काल, कारण एवं परिवर्तन की विस्मृति करके जिस आधारभूत जीवन का अपनी अन्तरात्मा में हम अनुभव करते हैं वह ही हमारी अन्तर की सत्ता है, हमारा स्वभाव है—वह **आत्मा** जो सभी जीवात्माओं और वस्तुओं में व्याप्त है सर्वव्यापी है तथा अविभक्त है **ब्रह्म** से अभिन्न है।

लेकिन 'ब्रह्म' क्या है? जिस प्रकार आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और आत्मा तथा दो प्रकार के संसार—प्रपंच और अतीन्द्रिय-जगत् की कल्पना है उसी प्रकार आराध्य-देव भी दो हैं: एक **ईश्वर** अथवा सृप्टिकर्ता जिसकी आराधना जनसमुदाय उसके देश, काल, निमित्त एवं परिवर्तन से सम्वद्ध रूप में करता है दूसरा ब्रह्म जो शुद्ध-सत्त्व है तथा जिसकी उपासना उन शुद्धचित्त दार्शनिकों द्वारा की जाती है जो समस्त भिन्न पदार्थों एवं आत्माओं के पृष्ठ में एक विश्वव्यापी सत्ता जो सभी परिवर्तनों के मव्य अपरिवर्तनशील रहती है, सभी विभागों के वीच अविभक्त रहती है, रूप के परिवर्तन, जन्म एवं मृत्यु के होते हुए भी जो नित्य रहती है, के खोज में तत्पर रहते हैं तथा उसे प्राप्त करते हैं। वहुदेववाद, यहाँ तक कि ईश्वरवाद की कल्पाना भी मायिक एवं आविद्यक जगत के अंतर्गत है; वे उपासना के ऐसे विपय हैं जो हमारे प्रत्यक्ष एवं विचार के अनुरूप हैं; उनकी हमारे नैतिक जीवन में इसलिए आवश्यकता है कि देश, काल एवं निमित्त हमारे वौद्धिक जीवन में उपयोगी हैं लेकिन परमार्थ की दृप्टि से उनका कुछ भी प्रामाण्य नहीं है।

शंकर के लिए ब्रह्म का अस्तित्व कोई गहन प्रश्न नहीं है क्योंकि वे ब्रह्म की परिभापा अस्तित्व रूप में देते हैं तथा सभी प्रकार की सत्ता का ब्रह्म से अभेद दिखलाते हैं। लेकिन सृप्टिकर्ता एवं मोक्षदाता ईश्वर के अस्तित्व के वारे में उनका

विचार है, कुछ शंका हो सकती है। कांट की विचारधारा से समानता रखने वाले उनके इस पूर्वज का कथन है कि ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि तर्क के द्वारा नहीं हो सकती; उनकी कल्पना केवल एक व्यावहारिक आवश्यकता के रूप में जिससे हमारी सीमित बुद्धि को शांति तथा हमारी दुर्बल नैतिकता को सहारा मिलता है की जाती है। एक दार्शनिक चाहे वह किसी भी मन्दिर में आराधना करे अथवा किसी भी देवता के सम्मुख प्रणाम करे लेकिन उसे सामान्य धर्म के इन क्षम्य रूपों के परे जाना होगा।* भेद के मिथ्यात्व एवं सभी वस्तुओं के ऐक्य का अनुभव करते हुए वह उस सत्तामात्र का, जो अनिर्वचनीय है, अनन्त है, देश, काल एवं निमित्त से परे है अपरिवर्तनीय है तथा सभी प्रकार की सत्ता का उद्गम एवं आधार है परम-सत्ता के रूप में उपासना करेगा।† चूंकि ब्रह्म के अन्तर्गत जीवात्माओं का भी समावेश है और इन जीवात्माओं में चेतनत्व, बुद्धि और यहाँ तक कि आनन्द आदि गुण होते हैं अतएव इन विशेषणों का प्रयोग हम ब्रह्म में भी कर सकते हैं, लेकिन अन्य विशेषणों का प्रयोग भी ब्रह्म में हो सकता है क्योंकि ब्रह्म के अंतर्गत तो सभी गुण विद्यमान हैं। स्वभाव से ब्रह्म नपुंसक लिंग है, व्यक्तित्व एवं लिंग, पाप और पुण्य, नैतिक-भेद, समस्त भेद एवं गुणों तथा सभी प्रकार की इच्छाओं एवं फल से परे है। ब्रह्म, जगत् का काल से परे एक रहस्यात्मक-तत्त्व है तथा उसका कारण एवं कार्य दोनों है।

दर्शन का ध्येय इस रहस्य की खोज करना है तथा इसमें अपने को खो देना है। ब्रह्म से एक होने का शंकर के लिए अर्थ है जीवात्मा के भेद और उसकी न्यूनता, उसके तुच्छ उद्देशों और हित से ऊपर उठना—अथवा नीचे डूबना—सब प्रकार के भेद, अवयव एवं वस्तुओं के प्रति अचेतन होना तथा इच्छारहित निर्माण जो सत्ता का एक महान् समुद्र है जिसमें परस्पर विद्रोही उद्देशों का अभाव है जिसमें एक दूसरे का मुक़ाबला करनेवाली आत्माएँ अवयव परिवर्तन, देश एवं काल आदि कुछ भी नहीं हैं के साथ शान्तिपूर्वक एक होना है।‡ इस आनन्दमय शान्ति को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को न केवल जगत् का वरन अपना भी त्याग करना चाहिए; उसे सांसारिक

* इसलिए वेदान्त-दर्शन को प्रायः अद्वैत कहा जाता है।

† वेदान्त और शंकर पूर्ण सर्वेश्वरवादी नहीं हैं: वे पदार्थ जो एक दूसरे से भिन्न माने जाते हैं ब्रह्म नहीं हैं: वे केवल अपने स्वाभाविक, अविभक्त एवं अपरिवर्तनशील स्वरूप और सत्ता के अर्थ में ब्रह्म हैं। शंकर कहते हैं, "ब्रह्म जगत् नहीं है फिर भी ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; उससे (ब्रह्म) बहिर्भूत जो कुछ भी है उसकी मृगतृष्णा के समान मिथ्या रूप को छोड़ कर अन्य सत्ता नहीं हो सकती।"

‡ Cf. Blake:

"I will go down to self-annihilation and Eternal Death.
Lest the Last Judgment come and find me unannihilate,
And I be seized and given into the hands of my own Selfhood."

Or Tennyson's "Ancient Sage":

"For more than once when I
Sat all alone, revolving in myself
The word that is the symbol of myself,
The mortal limit of the Self was loosed,
And passed into the Nameless, as a cloud
Melts into Heaven. I touched my limbs—the limbs
Were strange, not mine—and yet not shade of doubt
But utter clearness, and through loss of Self
The gain of such large life as matched with ours
Were Sun to spark-unshadowable in words,
Themselves but shadows of a shadow-world."

वस्तुओं की, यहाँ तक कि अच्छाई और बुराई की भी, प्राप्ति की चिंता नहीं करनी चाहिए; उसे दुःख और मृत्यु को शरीर, भूत काल एवं परिवर्तन का आकस्मिक कार्य एवं मायारूप मानना चाहिए; उसे अपने व्यक्तिगत गुणों और भाग्य के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वार्थ एवं अभिमान का एक क्षण भी उसकी मुक्ति का नाश कर सकता है। पुण्य-कार्य करने से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि इन पुण्य कार्यों का देश और काल के मायिक-जगत् के अंतर्गत होने के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण अथवा अर्थ नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वदर्शी महात्मा के उस ज्ञान से हो सकती है जिसमें आत्मा और जगत्, आत्मा और ब्रह्म के अभेद एवं अवयव के अवयवी में लय होने की उपलब्धि है। जब यह लय पूर्ण हो जाता है तब आवागमन-चक्र का घूमना बंद होता है क्योंकि इस अवस्था में ही मनुष्य को यह भान होना जीव का भेद एवं व्यक्तित्व जिनसे आवागमन की प्राप्ति होती है मिथ्या हैं। जीवात्मा को दण्ड और पारितोषिक रूप में आवागमन की प्राप्ति ईश्वर अथवा मायिक ब्रह्म के द्वारा होती है; लेकिन जब "आत्मा और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान हो जाता है तब," शंकर का कथन है, "जीवात्मा के सांसारिक रूप तथा ब्रह्म के सृष्टिकर्ता रूप के अस्तित्व का लोप हो जाता है।" वेदान्त के साधारण सिद्धान्त में वस्तुओं और जीवात्माओं के समान ईश्वर और कर्म की कल्पना साधारण मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए की गई है। इस गोपनीय सिद्धान्त में आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है उसका न तो आवागमन होता है, न मृत्यु होती है न परिवर्तन होता है।

शंकर ने अपने इस गोपनीय सिद्धान्त को दार्शनिकों तक ही सीमित रखकर अपनी विचारपूर्णता का परिचय दिया है क्योंकि जिस प्रकार वाल्टेयर का 'यह विश्वास था कि केवल दार्शनिकों का समाज विधान के बिना जीवित रह सकता है उसी प्रकार साधारण मनुष्यों से उच्च स्तर के मनुष्यों का समाज भी पाप और पुण्य से परे होकर जीवित रह सकता है। शंकर के आलोचकों ने यह अभियोग लगाया है कि यदि भलाई और बुराई दोनों मायारूप हैं तथा भ्रमात्मक जगत् के अंतर्गत हैं तब तो सभी नैतिक-भेद का अंत हो जावेगा और शैतान भी महात्माओं के समान उत्तम हो सकता है। लेकिन यह नैतिक भेद का शंकर चतुरता से उत्तर देते हैं, देश और काल से परिच्छिन्न जगत् के अंतर्गत सत्य है और इस प्रकार के संसार के अंतर्गत रहने वाले व्यक्तियों का उससे सम्बन्धित होना आवश्यक है। जिस जीवात्मा ने अपना ब्रह्म से अभेद प्राप्त कर लिया है वह इन नैतिक-नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है, इस प्रकार की आत्मा कोई गलत काम नहीं कर सकती क्योंकि गलत काम करने के लिए इच्छा और कर्म की आवश्यकता है और मुक्त-जीव, उसकी परिभाषा के अनुसार, इच्छा और कर्म के अंदर नहीं घूमता। जो जानबूझ कर दूसरे को कष्ट देता है वह माया के स्तर में है और उसे उसके भेद, उसके नैतिक-नियमों एवं विधान का पालन करना है। केवल दार्शनिक ही मुक्त है, केवल ज्ञान ही मोक्ष है।*

---

*हम यह नहीं कह सकते कि पारमिनाड़िज के इस आग्रह कि 'बहुत्व असत्य है तथा केवल एक की ही वास्तविक सत्ता है' में कहाँ तक उपनिषदों का प्रभाव है अथवा उसका शंकर के दर्शन में कितना योगदान है। हम यह भी नहीं सिद्ध कर सकते कि शंकर और उनसे अद्भुत रूप से समानता रखनेवाले इमैन्वेल कांट के दर्शन में कोई कार्य-कारण अथवा संकेतात्मक सम्बन्ध है या नहीं।

बीस वर्ष के निकट अवस्था के इस बालक के द्वारा लिखे जाने के लिए यह दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर था। शंकर ने न केवल इस दर्शन की अपनी रचनाओं में व्याख्या की तथा उसे शास्त्रार्थों में विपक्षियों के आक्रमणों से बचाया वरन् उसके कुछ भाग को भारत के कुछ अत्यन्त कोमल धार्मिक काव्यों द्वारा अभिव्यक्त किया है। जब वे विपक्षियों के सभी आक्षेपों का उत्तर दे चुके तब वे हिमालय के एक आश्रम में चले गए और वहाँ, हिन्दुओं की परम्परा के अनुसार, उनका बत्तीस वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। उनके नाम पर दस धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई तथा बहुत से अनुयायियों ने उनके दर्शन को अपनाया और उसका विकास किया। उनमें से एक ने—कुछ कहते हैं शंकर ने ही—जनसमुदाय के लिए मोहमुग्दर नामक एक साधारण विवरण-ग्रंथ की रचना की जिसमें वेदान्त-दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का स्पष्टतया एवं शक्ति के साथ व्याख्यान किया गया है।

'मूर्ख ! अपनी धन की तृष्णा का परित्याग कर दे, अपने हृदय से समस्त इच्छाओं को निकाल दे। अपने मन को तुझे कर्म से जो कुछ भी मिला है उसी से संतुष्ट रहने दे। अपने वैभव, मित्रों और यौवन का दर्प न कर, काल एक ही क्षण में इन सबका विनाश कर देता है। इन सबका, जो भ्रम से परिपूर्ण है, शीघ्रता से परित्याग करके ब्रह्म की शान्ति में स्थित हो जा....जीवन पद्म-पत्र पर जल-विन्दु के समान अस्थिर है....काल की क्रीड़ा हो रही है, जीवन शनैः शनैः नष्ट हो रहा है—फिर भी आशा की साँस कसी नहीं टूटती। शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, केश श्वेत हो गए हैं, मुँह में दाँत नहीं हैं, हाथ की छड़ी हिल रही है फिर भी मनुष्य आशा का सहारा नहीं छोड़ता....सदैव अपनी बुद्धि को स्थिर रक्खो। तुझमें, मुझमें तथा अन्य सभी जीवों में विष्णु का वास है; मुझसे क्रुद्ध होना अथवा अधीर होना निरर्थक है। सभी जीवों को आत्मा में देखो और भेद के सब विचारों का परित्याग कर दो।'

३. हिन्दू-दर्शन के निष्कर्ष

अवनति; सारांश; आलोचना; प्रभाव।

मुसलमानों के आक्रमणों ने हिन्दू-दर्शन के एक महान् ऐतिहासिक काल का अंत कर दिया। मुसलमानों के और कालान्तर में ईसाइयों के देश के धार्मिक विचारों के प्रति किये गये प्रहारों ने उसे आत्म-रक्षा के लिए एक दुर्बल-एकता के लिए बाध्य किया। जिसके कारण सभी वाद-विवाद एक प्रकार का राजद्रोह हो गया तथा नास्तिक विचारों की नवीन विचारोत्पादक शक्ति का गला घोंट कर विचार के स्थिर ऐक्य में बल दिया गया। बारहवीं शताब्दि के लगभग वेदान्त-दर्शन की जिसे शंकर ने दार्शनिकों का धर्म बनाने का प्रयत्न किया था रामानुज (Ca. 1050) जैसे साधुओं द्वारा विष्णु, राम और कृष्ण की रूढ़िवादी उपासना के रूप में पुनर्विवेचना की गई। नवीन विचारों की कल्पना पर प्रतिरोध होने के कारण दर्शन न केवल रूढ़िवादी वरन् एक प्रकार से ऊसर-भूमि के समान हो गया था; उसने अपने सिद्धान्तों को पुरोहितों की शिक्षाओं

से अपनाया और उन्हें श्रमपूर्वक बुद्धहीन तर्क एवं विना भेद के विशेषता दिखलाते हुए सिद्ध करने की चेष्टा की।[1]

फिर भी ब्राह्मणों ने अपने घरों की नीरवता में तथा अपनी नासमझी के प्रश्रय में प्राचीन दार्शनिक-सिद्धान्तों को सचेत होकर गोपनीय सूत्रों और उनकी टीकाओं में बचाकर रक्खा तथा अनेक शताब्दियों और पीढ़ियों तक हिन्दू-दर्शन के निष्कर्ष को गति दी। इन सभी दर्शनों में चाहे वे ब्राह्मण-दर्शन हों या अन्य-दर्शन हों बुद्धि को साक्षात प्रत्यक्ष अथवा अनुभव की जाने वाली सत्ता के समक्ष एक भ्रामक अथवा निस्सहाय साधन बतलाया है; हमारी अट्ठारहवीं शताब्दी का बुद्धिवाद इन भारतीय-तत्त्ववेत्ताओं के लिए एक निरर्थक और छिछला प्रयास दिखलाई पड़ता है जिसमें अपार विश्व को बुद्धि के विचारों द्वारा बाँधने का प्रयत्न किया गया है। "अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।"[2] हिन्दू दर्शन का वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ पाश्चात्य दर्शन का अन्त है जिसमें ज्ञान के स्वरूप एवं बुद्धि की सीमाओं की परीक्षा की गई है। हिन्दू-दर्शन में थेलीज़ अथवा डिमाक्रीटस् के पदार्थ विज्ञान से नहीं वरन् लॉक और कांट की ज्ञानमीमांसा से दर्शन का आरम्भ किया गया है; वे 'मन' को सबसे अधिक साक्षात् रूप से ज्ञान पदार्थ मानते हैं और इसलिए उसकी व्याख्या उस पदार्थ के रूप में नहीं करते, जिसका ज्ञान मात्र व्यवहृत होता है या मात्र मन के द्वारा प्राप्त किया जाता है। वे वाह्य जगत को स्वीकार करते हैं लेकिन वे यह विश्वास नहीं करते कि हमारी इन्द्रियाँ उसे वास्तविक रूप में ग्रहण नहीं कर सकतीं। ज्ञात अज्ञान ही विज्ञान है और इसलिए वह भी 'माया' की कोटि में आता है; निरन्तर परिवर्तित होने वाले विचार और कथन के द्वारा वह संसार की उपपत्ति दिखलाता है जिसमें बुद्धि केवल एक अंश है—एक अपार समुद्र में वह जाने वाली धारा है। यहाँ तक कि वह व्यक्ति जो तर्क करता है वह भी माया है; वह घटनाओं के अस्थिर संयोग, जड़ और चेतन की देश और काल के द्वारा होने वाले वक्र रेखाओं के बीच गुत्थियों के अतिरिक्त और क्या है?—तथा उसके कर्म और विचार उसके जन्म के पूर्व की शक्तियों की इच्छापूर्ति के अतिरिक्त और क्या हैं? ब्रह्म के, सत्ता के उस अपार समुद्र के जिसमें प्रत्येक रूप एक क्षण की लहर है अथवा लहर के फेन के धब्बे के समान है, अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। शान्त भाव से अच्छे कर्मों को करते रहने की वीरता को अथवा उसमें पवित्र आनन्द की प्राप्ति को पुण्य नहीं कहते; वह तो केवल जीवात्मा की अन्य जीवात्माओं के साथ ब्रह्म में ऐक्य की अनुभूति है। नैतिक जीवन उसे कहते हैं जो सब वस्तुओं के ऐक्य के अनुभव पर आधारित होता है।[3] "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।"[4]

इस दर्शन की कुछ विशेषताओं ने, जिनमें हिन्दुओं के दृष्टिकोण से किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है, अन्य सभ्यताओं पर व्यापक प्रभाव डालने से अपने को वंचित रक्खा।

---

[1] "प्रत्येक भारतीय साधु के लिए इन्द्रिय अथवा बुद्धिजन्य ज्ञान के प्रति उपेक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।"

[2] "भारतीय तत्त्वद्रष्टा बौद्धिक उपलब्धि को गम्भीरतापूर्वक तात्त्विक अर्थ प्रदान करने की हमारी खास ग़लती में कभी भी नहीं पड़े; इनमें मायिक वस्तुओं से अधिक कुछ भी तत्त्व नहीं हैं।"

[3] स्पिनोजा: "सबसे उत्तम वस्तु है मन की सम्पूर्ण प्रकृति से एकता।"

[4] "परमात्मा से बौद्धिक प्रेम" हिन्दू-दर्शन का सारांश है।

उसकी विधि, उसके शास्त्रगत पारिभाषिक-शब्द तथा उसकी वैदिक मान्यताएँ उसे उन देशों की जिनकी अलग मान्यताएँ हैं तथा जिनकी सभ्यता धर्म पर आश्रित नहीं हैं, सहानुभूति प्राप्त करने में रुकावट डाली। उसके मायावाद में नैतिकता अथवा पुण्य-कर्मों के लिए कुछ भी उत्साह नहीं है; उसका नैराश्यवाद इस बात की स्वीकृति है कि इस सिद्धान्त में कर्मवाद के होते हुए भी दुःख और पाप की व्याख्या न की जा सकी; और इन दर्शनों का आंशिक प्रभाव बुराई के प्रति एक प्रकार की स्थिर अकर्मण्यता को उठाने में भी था जो कदाचित ठीक हो सकती थी। फिर भी इस ध्यान में एक ऐसी गम्भीरता है जो पृथ्वी के अन्य उत्साहपूर्ण भागों के क्रियाशीलता के सिद्धान्तों में छिछलेपन का आभास कराती है। कदाचित् हमारे पाश्चात्य-दर्शन, जिनमें यह पूर्ण विश्वास है कि "ज्ञान ही शक्ति है" मनुष्य की योग्यता और उसके अधिकार की अतिशयोक्ति करनेवाला मनुष्य जाति के एक काल की मदमाती युवावस्था की प्रतिध्वनि मात्र हैं। जैसे-जैसे पक्षपातहीन प्रकृति तथा विरोध की भावना से पूर्ण काल के विरुद्ध हमारे दैनिक संघर्ष में हमारी शक्तियों का ह्रास होता जाता है वैसे-वैसे हम आत्मसमर्पण और शांति के पौर्वात्य दर्शनों को अधिक सहनशीलता से देखते हैं। इसलिए भारतीय-विचारधारा का अन्य संस्कृतियों पर सबसे अधिक प्रभाव उस समय पड़ा जब वे शक्तिहीन हो गई थीं अथवा जब विनाश आरम्भ हो गया था। जब ग्रीस के निवासी संग्राम में विजय प्राप्त कर रहे थे तब उन्होंने पाइथागोरस या पारमिनाइड़िज़ की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया; जब ग्रीस पतनोन्मुख हुआ तब प्लेटो तथा आर्फ़िक-पुजारियों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की व्याख्या की और पौर्वात्य-ज़िनो ने हिन्दू भाग्यवाद तथा आत्मसमर्पण के सिद्धान्त के समान सिद्धान्त की व्याख्या की और जब ग्रीस मरणोन्मुख हुआ नीयो तब प्लेटोनिस्ट और ग्नास्टिकों ने भारतीय स्रोतों से खूब जलपान किया। रोम के पतन तथा मुसलमानों का भारत और यूरोप के बीच के मार्गों पर आधिपत्य होने के कारण, ऐसा प्रतीत होता है, लगभग एक हज़ार वर्ष तक पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारों के साक्षात आदान-प्रदान में बाधा उपस्थित रही। लेकिन अंग्रेज़ भारत में अपनी नींव जमा ही पाए थे कि उपनिषदों के संस्करण और उनके अनुवादों ने पाश्चात्य विचारों में हलचल पैदा करना आरम्भ कर दिया। फ़िश्टे ने—यह आश्चर्य है—शंकर के समान भाववाद (Idealism) की कल्पना की; शापेनहायर ने बौद्ध-दर्शन, उपनिषदों और वेदान्त को अपने सिद्धान्त में सम्मिलित किया तथा शेलिंग ने अपनी वृद्धावस्था में उपनिषदों को मनुष्यमात्र का सबसे परिपक्व ज्ञान माना। नीट्शे ने ग्रीसनिवासियों और बिस्मार्क के साथ कहीं अधिक समय व्यतीत किया था कि उसे भारतवर्ष की चिंता होती लेकिन फिर भी अन्त में उसने अपने शाश्वत पुनरावर्तन के विचार को जो एक प्रकार से आवागमन के सिद्धान्त का भिन्न रूप है अन्य विचारों की अपेक्षा अधिक मूल्यांकन किया।

वर्तमान-काल में यूरोप पौर्वात्य दर्शन* का अधिक से अधिक ऋणी हो रहा है तथा पूर्व के देश पाश्चात्य देशों के विज्ञान का अधिक से अधिक अनुकरण कर रहे हैं। दूसरे विश्व-महायुद्ध में यूरोप पुनः पौर्वात्य दर्शन और विश्वास के वेग से प्रभावित होगा (जैसा कि सिकन्दर के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर ग्रीस और रोम के गणतंत्र के पतन के फलस्वरूप रोम पर इनका प्रभाव हुआ था)। पौर्वात्य विचारधारा का पाश्चात्य विचारों के प्रति विरोध, एशिया में उन विक्रय-स्थानों, जिनसे यूरोप के उद्योग-धंधों तथा उसकी समृद्धि को प्रश्रय प्राप्त होता था, का हाथ से निकलना, यूरोप का ग़रीबी,

---

*Cf. Bergion, Keyserling, Christian Service, Theosophy.

परस्पर दलवंदी एवं क्रांति से शक्तिहीन होना इन सवसे उस छिन्न-भिन्न महाद्वीप में स्वर्ग की आशा एवं पृथ्वी के प्रति निराशा के एक नए धर्म की नींव पड़ने के लिए पूर्ण परिपक्वता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के प्रभाव को अमरीका के विपय में न सोचने का कदाचित् एकमात्र कारण है हमारा मानसिक पक्षपात; शांतिप्रियता एवं आत्म-समर्पण का विद्युत के वातावरण अथवा एक विस्तृत भूमि और वहुमूल्य सावनों से उत्पन्न शक्ति का कोई सम्वन्ध नहीं है। निस्संदेह हमारी जलवायु ही अन्त में हमारी रक्षा करेगी।

अध्याय २०

भारतवर्ष का साहित्य

१. भारतवर्ष की भाषाएँ

संस्कृत; प्रादेशिक भाषाएँ; व्याकरण।

जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप के दर्शन और उनके अधिकतर साहित्य की रचना एक अप्रचलित भाषा में हुई थी जिसका वहाँ के निवासियों को कोई ज्ञान नहीं था उसी प्रकार भारतवर्ष के दार्शनिक ग्रंथ एवं उच्च कोटि के साहित्य की रचना भी संस्कृत-भाषा में हुई जो बहुत काल पहले ही सार्वजनिक व्यवहार से हट चुकी थी तथा केवल उन विद्वानों के बीच (एस्पेरान्तों के समान) जीवित थी जिनकी कि कोई एक भाषा नहीं थी। देश के जीवन से असम्बद्ध यह साहित्यिक भाषा पाण्डित्य एवं शिष्टता का उदाहरण बन गई; नए शब्दों का निर्माण जनता की स्फुरणात्मक कृति न होकर सम्प्रदायों के परस्पर शास्त्रार्थों की आवश्यकताओं के कारण हुआ। अन्त में दर्शन-शास्त्र की संस्कृत में वैदिक-मंत्रों की रचनात्मक सरलता की हानि हुई और वह एक कृत्रिम दानव के समान हो गई जिसकी डेढ़ फ़ीट की क्रियाएँ पृष्ठ के बीच केंचुए के समान रेंगने लगी।

इसी बीच में उत्तरी-भारत के निवासियों ने ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दि में संस्कृत को प्राकृत में उसी प्रकार परिवर्तित कर दिया जिस प्रकार इटली में लैटिन का इटैलियन भाषा में परिवर्तन हुआ था। कुछ काल तक प्राकृत बौद्ध और जैनियों की भाषा रही और यह उस समय तक जब तक कि वह पाली में जो बौद्ध-साहित्य की सबसे प्रयुक्त भाषा है विकसित नहीं हो गई थी। ईसा की दसवीं शताब्दि के अन्त होते-होते इन मध्यकालीन भारत की भाषाओं ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं को जन्म दिया जिनमें हिन्दी प्रमुख थी। इसने पुनः बारहवीं शताब्दि में आधे उत्तरी भारत की भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को जन्म दिया। अन्त में मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिन्दुस्तानी को फ़ारसी-शब्दों से भर दिया जिससे एक नई बोली, उर्दू का जन्म हुआ। ये सब "भारतीय-जर्मन" भाषाएँ थीं जो केवल हिन्दुस्तान में ही सीमित थीं; दक्षिण ने अपनी द्राविड़ भाषाओं—तमिल तेलगू, कन्नड़ और मलयालम—को अपना रक्खा जिनमें तामिल दक्षिण के साहित्यिक रचनाओं का मुख्य साधन रही। उन्नीसवीं शताब्दि में बंगाली भाषा ने बंगाल की साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत को हटाकर उसका स्थान अपनाया; उपन्यासकार चट्टोपाध्याय उसके बोकैशियो थे तथा कवि टैगोर उसके पैटरार्क थे। आज भी भारत में सैकड़ों भाषाएँ हैं और स्वराज* का साहित्य विजेताओं की भाषाओं का प्रयोग करता है।

बहुत प्राचीन काल से ही भारत ने शब्दों की धातु, उसका इतिहास तथा उसकी व्युत्पत्ति की खोज करनी आरम्भ कर दी थी। लगभग ई० पू० चतुर्थ शताब्दि में उसने

---

*स्वयं राज्य करने का आन्दोलन।

अपने लिए* व्याकरण का निर्माण किया और पाणिनि को जन्म दिया जो कदाचित् विदित व्याकरणों में सबसे महान् हैं। पाणिनि, पतंजलि (co. 150 A. D.) तथा भर्तृहरि (co.650 A. D.) के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान की नींव डाली तथा वर्तमान युग के शब्दव्युत्पत्ति सरीखे रोचक विज्ञान को संस्कृत की खोज की विशेष देन है।

जैसा कि हमने देखा है वैदिक-भारत में लिखने का विशेष प्रचार नहीं था। लगभग ई० पू० पाँचवीं शताब्दि में सेमेटिक नमूनों से खरोष्ठी लिपि की व्यवस्था हुई तथा महाकाव्यों और बौद्ध-साहित्य में हमें लेखकों का वर्णन मिलता है। पेड़ की खाल और ताड़ के पत्तों पर लोहे की सलाखों की कलम बनाकर लिखा जाता था। खाल को चिकनी करने के लिए छीला जाता था, कलम से उसमें अक्षर खोदे जाते थे और पूरे छाल पर स्याही फैला दी जाती थी जिससे खुदे हुए अक्षरों में स्याही जम जाती थी और बाक़ी छाल साफ़ कर दी जाती थी। मुसलमान अपने साथ काग़ज़ लाए (co. 1000) लेकिन वह सत्तरहवीं शताब्दि तक वल्कल (छाल) का स्थान ग्रहण न कर सका। इन वल्कल पृष्ठों को सिलसिलेवार डोरे से सिल दिया जाता था और इन पुस्तकों को पुस्तकालयों में रक्खा जाता था जिन्हें हिन्दू 'सरस्वती का भंडार' कहते थे। इस काष्ठ-साहित्य का काफ़ी खजाना काल और युद्ध की बरबादियों से बच गया है।†

२. शिक्षा-शास्त्र

पाठशालाएँ; विधि; विश्वविद्यालय; इस्लामी-शिक्षा।

उन्नीसवीं शताब्दि तक भारतीय शिक्षा में लिखने का बहुत कम हाथ रहा। कदाचित् यह उन पुरोहितों के हित के विरुद्ध था जो यह नहीं चाहते थे कि पवित्र एवं पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथों का ज्ञान सब को प्राप्त हो सके। "जहाँ तक हम भारतीय इतिहास की खोज कर सकते हैं हमें शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली मिलती है जो सदैव पुरोहितों के हाथ में थी, जिसके द्वार केवल ब्राह्मणों की सन्तानों के लिए ही खुले थे और बाद में उसकी उपयोगिता एक जाति से दूसरी जाति में भी फैली। यहाँ तक कि वर्तमान काल में उससे केवल अन्त्यज ही बहिष्कृत हैं। प्रत्येक हिन्दू गाँव में एक पाठशाला होती थी जो गाँव के चन्दे से चलती थी; केवल बंगाल में ही अंग्रेजों के आगमन से पहले लगभग अस्सी हज़ार देशी पाठशालाएँ थीं—प्रति चार सौ की आबादी के लिए लगभग एक। अशोक के काल में शिक्षितों की प्रतिशत संख्या वर्तमान भारत की संख्या से स्पष्टतया अधिक थी।

बच्चे गाँव की पाठशाला में सितम्बर से फ़रवरी तक जाते थे, पाँच वर्ष की अवस्था में उनकी भरती होती थी और आठ वर्ष की अवस्था में वे पाठशाला छोड़ते थे। शिक्षा

---

* बैबीलोन-निवासियों ने भी इसी प्रकार किया था।

† उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत में मुद्रण-कार्य के कोई चिह्न नहीं थे—शायद यह इस लिए था—चीन के समान—कि टाइप का देशी लिपि में प्रयोग काफ़ी मँहगा था और शायद यह इसलिए भी कि उस समय मुद्रण को हाथ से लिखने की कला की एक अशिष्ट उत्पत्ति माना जाता था। समाचार-पत्रों और पुस्तकों का मुद्रण हिन्दुओं को अंग्रेजों ने बतलाया जिन्होंने इस शिक्षा से उन्नति की; आज भारत में एक वर्ष में औसतन १५१७ समाचार-पत्र, ३६२७ सामयिक पत्रिकाएँ तथा १७००० नई पुस्तकें प्रकाशित होती हैं।

अधिकतर धार्मिक होती थी चाहे विषय कुछ हो; धातुओं का परायण करना पढ़ाई की एक सामान्य प्रणाली थी और वेदों का पढ़ना अनिवार्य था। पाठ्य-क्रम में पढ़ने-लिखने और अंकगणित का समावेश था लेकिन शिक्षा में उनका विशेष महत्त्व नहीं था; चरित्र को वुद्धि की अपेक्षा प्रधानता दी जाती थी और अनुशासन को पाठशाला की शिक्षा का सार माना जाता था। उस काल में हम कोड़े लगाने की अथवा किसी अन्य प्रकार के दंड देने की प्रथा के बारे में नहीं सुनते; लेकिन हमें यह मिलता है कि उस समय जीवन की उचित और लाभदायक आदतों के निर्माण पर ज़ोर दिया जाता था। आठ वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी को गुरु की संरक्षता में भेज दिया जाता था जिसके साथ उसे वीस वर्ष की अवस्था तक रहना पड़ता था। उससे सेवा, कभी-कभी निम्न कोटि की सेवा भी कराई जाती थी तथा उसे संयम, विनम्रता, शुद्धता एवं निरामिष आहार पर रहने की शपथ खानी पड़ती थी। इस अवस्था में उसे पाँच शास्त्रों की अर्थात् व्याकरण, कला, आयुर्वेद, तर्क एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। अन्त में उसे संसार में जीवन निर्वाह करने के लिए यह उपदेश देकर कि शिक्षा का चौथा भाग गुरु से, चौथा भाग स्वाध्याय से, चौथा भाग अपने मित्रों से तथा शेष चौथा भाग जीवन से प्राप्त होता है, भेज दिया जाता था।

लगभग सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी गुरु के पास से उन महान् विश्वविद्यालयों में जैसे, वनारस, तक्षशिला, विदर्भ, अजन्ता, उज्जैन और नालन्दा जा सकता था। जो प्राचीन और मध्य कालीन भारत की शोभा थे। बनारस वर्तमान युग के समान बौद्ध-काल में भी सनातनी ब्राह्मण शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। सिकन्दर के काल में तक्षशिला सम्पूर्ण एशिया में हिन्दू-विद्वता का केन्द्र था तथा अपनी आयुर्वेद की शिक्षा के लिए विख्यात था। उज्जैन के विश्वविद्यालय की ज्योतिष में और अजन्ता की कला में विशेष प्रसिद्धि थी। अजन्ता की भग्नावशेष गुफ़ाओं के वाहरी भाग उन प्राचीन विश्वविद्यालयों के गौरव का स्मरण कराते हैं। नालन्दा का, जो बौद्ध-विद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध था, शिलान्यास वुद्ध के निर्वाण के कुछ ही दिनों बाद हुआ था और राज्य ने उसके पोषण हेतु एक सौ गाँवों का लगान निर्धारित कर दिया था। उसमें दस हज़ार विद्यार्थी थे, एक सौ शिक्षा-कोष्ठ थे, बड़े-बड़े पुस्तकालय थे तथा चार मंज़िल ऊँचे छः महान् शयनागार थे। ह्वान्साँग का कथन है कि उसकी वेधशालाएँ "प्रातःकाल के वाष्प में खो जाती थीं और उसके ऊपरी कोष्ठ वादलों से भी ऊँचे उठे रहते थे।" इस वृद्ध चीनी यात्री को नालन्दा के विद्वान् साधुओं और उसकी सघन झाड़ियों से इतना प्रेम था कि वह वहाँ पाँच वर्ष तक रह गया। उसका कथन है कि नालन्दा में "विदेश से आने वाले उन व्यक्तियों में से जो तर्क के विभिन्न सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे अधिकतर तो विषय की दुःसाध्यता के कारण पीछे हट जाते थे और उन लोगों में से प्राचीन और नवीन दोनों विद्याओं में पूर्ण निपुण होते थे तथा शिक्षा के लिए भरती किए जाते थे; केवल दस में से तीन ही सफल होते थे।" वे विद्यार्थी जिन्हें प्रवेश प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता था निःशुल्क शिक्षा, भोजन एवं रहने का स्थान प्राप्त करते थे लेकिन उन्हें आश्रम के अनुशासन के अनुसार रहना पड़ता था। विद्यार्थियों को किसी स्त्री को देखने की अथवा उससे बात करने की आज्ञा नहीं थी। स्त्री को देखने की इच्छामात्र को भी न्यू टेस्टामेंट की कठिनतम उक्ति के अनुसार ही एक महान् पाप समझा जाता था। स्त्री-संभोग के अपराधी विद्यार्थी को पूरे एक वर्ष तक गधे की खाल, उसकी दुम ऊँची करके, ओढ़नी पड़ती थी और चारों ओर भीख माँगते हुए तथा अपने पाप को बतलाते हुए घूमना पड़ता था। रोज प्रातःकाल पूरे विद्यार्थी वर्ग को विश्वविद्यालय के दस बड़े-बड़े स्नान-कुंडों में नहाना पड़ता था। अध्ययन की

अवधि बारह साल की थी लेकिन कुछ विद्यार्थी तीस वर्ष तक रहते थे और कुछ मृत्यु पर्यन्त वहीं रह जाते थे।

मुसलमानों ने उत्तरी भारत के बौद्ध और ब्राह्मण दोनों प्रकार के लगभग सभी आश्रमों को विध्वंस कर दिया। ११९७ ई० में नालन्दा को जलाकर ढेर कर दिया गया तथा उसके सभी भिक्षुओं की हत्या कर डाली गई। इन हठधर्मियों के विध्वंस के बाद जो कुछ भी अवशेष रहा उससे हम प्राचीन भारत के प्रचुर जीवन का कुछ भी मूल्यांकन नहीं कर सकते। फिर भी ये विध्वंसकारी पूर्णरूपेण असभ्य नहीं थे; वे सौंदर्य के प्रेमी थे तथा लूटने में भी वर्तमान कालीन चातुर्य के समान पवित्रता का ध्यान रखते थे। जब मुग़लों ने राज्यसिंहासन ग्रहण किया तब वे अपने साथ एक उच्च लेकिन संकुचित संस्कृति को लेकर आए; वे विद्या से उतना ही प्रेम करते थे जितना कि वे तलवार से प्रेम करते थे और वे एक सफल सैनिक घेरे का काव्य के साथ किस प्रकार समन्वय करना चाहिए यह भी जानते थे। मुसलमानों में शिक्षा अधिकतर व्यक्तिगत थी जो उन उस्तादों द्वारा दी जाती थी जिन्हें धनाढ्य व्यक्ति अपने लड़कों के लिए नियुक्त करते थे। यह शिक्षा का वैभवशाली लोगों से सम्बन्ध रखनेवाला सिद्धान्त था जिसमें उसे एक अच्छे पद और शक्ति वाले व्यक्ति के लिए आभूषण समझा जाता था—कभी-कभी वह सहायक भी होती थी—लेकिन एक ग़रीब और मामूली पद के आदमी में इसका होना आमतौर से कष्टप्रद तथा समाज के लिए खतरनाक माना जाता था। उस समय शिक्षकों के शिक्षा देने के क्या तरीके थे उनका अनुमान हम औरंगज़ेब के उसके गुरु के प्रति, जिसने बादशाह से कोई पद और तत्सम्बन्धी वेतन पाने का प्रयत्न किया था, दिए गए उत्तर से, जो इतिहास की प्रसिद्ध चिट्ठियों में से एक है, लगा सकते हैं।

'उस्ताद! आप मुझसे क्या चाहेंगे? क्या आप उचित रूप से यह इच्छा कर सकते हैं कि मैं आपको अपने दरबार के प्रमुख उमराओं के मध्य स्थान दूँ? मैं आपको यह बतला दूँ कि अगर आपने मुझे उस तरीके से पढ़ाया होता जैसा कि आपको चाहिए था तो इससे सही बात दूसरी न होती क्योंकि मैं इस ख्याल का हूँ कि एक अच्छी तरह पढ़े हुए और पढ़ाए गए लड़के को कम-से-कम अपने उस्ताद का उतना ही एहसानमंद होना चाहिए जितना कि अपने बाप का। लेकिन कहाँ हैं वे शिक्षाएँ जो आपने मुझे दी थीं? सबसे पहले तो आपने मुझे यह सिखलाया कि सारा फिरंगिस्तान (ऐसा प्रतीत होता है, वे योरप को फिरंगिस्तान कहते थे) एक, मैं नहीं जानता कितना छोटा टापू है जिसका सबसे बड़ा बादशाह पुर्तगाल का बादशाह है और उससे नीचे हालैंड क राजा है और उसके बाद इंगलैंड का राजा है और फ़्रांस तथा अंडलूसिया आदि के सम्राटों का आपने मुझसे ऐसा वर्णन किया जैसे वे कोई तुच्छ राजागण हों। आपने मुझे यह बतलाया कि हिन्दुस्तान के सम्राट उन सबको मिलाकर कहीं अधिक बड़े थे कि वे (हिन्दुस्तान के बादशाह) जो विश्व के विजेता और राजा थे कहीं अधिक महान् थे तथा हिन्दुस्तान के सम्राटों के नाम से फारस, उज़बेक, काशगर, तातार और कैथी, पेगू, चीन और महाचीन के राजा लोग काँपते थे। क्या प्रशंसनीय भूगोल थी। आपको मुझे विश्व के उन सब राज्यों को ठीक-ठीक पहचानना सिखलाना चाहिए था तथा यह शिक्षा देनी चाहिए थी कि मैं यह समझ सकूँ कि उनकी शक्ति कितनी है, उनका लड़ने का ढंग क्या है, उनकी सामाजिक रीतियाँ क्या हैं उनके धर्म, शासन-विधि तथा उनकी रुचियाँ क्या हैं जिससे कि इतिहास के अध्ययन मात्र से मैं उनके उत्थान, उन्नति एवं पतन को देख सकता; और आपको मुझे यह सिखलाना था कि किन आकस्मिक कारणों अथवा गलतियों से उन साम्राज्यों और राज्यों में महान् परिवर्तन और

क्रांतियाँ हुई। मैंने शायद ही कभी आपसे अपने बुजुर्गों के जो इस सल्तनत के नींव जमाने वाले थे, नाम सीखे हों। आप मुझे उनके जीवन के इतिहास तथा उस रास्ते को जिससे उन्होंने इतनी बड़ी विजय प्राप्त की थी वतलाने से वहुत दूर थे। आप मुझे अरवी भाषा को पढ़ना तथा लिखना सिखलाना चाहते थे। सच है, मैं आपका इसके लिए वड़ा आभारी हूँ कि आपने एक भाषा के ऊपर मेरा इतना समय नष्ट कराया जिसमें पूर्णता प्राप्त करने के लिए दस से वारह साल तक चाहिए जैसे कि एक वादशाह के लड़के को, जिसके लिए अनेक आवश्यक कारणों से जिन्हें जानना उसके लिए आवश्यक है, समय कहीं वहुमूल्य है। एक वैयाकरण अथवा कानून का विशेषज्ञ होना या अपने पड़ोसियों की भाषा से दूसरी भाषाओं का जानना जव कि वह विना उनका ज्ञान प्राप्त किए ही रह सकता है, कोई गौरव की वात हो। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई प्रेतात्मा किसी अरुचि, यही नहीं किसी नीच भावना के कारण अपने को शब्दों के अध्ययन ऐसे कठिन एवं थकान पैदा करने वाले शुष्क एवं दुःखद अभ्यास में लगाने में असमर्थ रही हो।'

उसके समकालीन वरनियर का कहना है कि "इस प्रकार औरंगज़ेब ने अपने शिक्षकों की पांडित्यपूर्ण शिक्षाओं का विरोध किया जिसके सम्वन्ध में उसके दरवार में यह कहा जाता है कि उसने निम्नलिखित भर्त्सना की थी:"*

क्या तुम यह नहीं जानते कि एक सुशिक्षित वचपन, जो कि एक ऐसी अवस्था है जो आमतौर से आनन्ददायक स्मृतियों से सम्वन्धित रहती है, हज़ारों उत्तम नियमों और शिक्षाओं को जो मनुष्य के वाकी जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं तथा वुद्धि को वड़े-वड़े काम करने के लिए उठाए रहती हैं, देने में समर्थ है। क्या कानून, प्रार्थना और विज्ञान की शिक्षा हमारी मातृ-भाषा में अरवी के समान प्राप्त नहीं की जा सकती? आपने मेरे पिता शाहजहाँ से कहा था कि आप मुझे दर्शन-शास्त्र की शिक्षा देंगे। यह सच है, मुझे अच्छी तरह याद है, कि आपने मुझे कई वर्षों तक उन वस्तुओं से जो वुद्धि को किसी प्रकार का संतोष प्रदान नहीं करतीं तथा मनुष्य-समाज के लिए जिनकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है सम्वन्धित प्रश्नों से मेरा मन वहलाया; इन सारहीन विचारों तथा कोरी कल्पनाओं में केवल एक ही गुण है कि वे समझने में कठिन हैं और भूलने में आसान हैं। मैं आज भी याद करता हूँ कि जव आप अपने उत्तम दर्शन से मेरा मन वहला चुके—मालूम नहीं कव तक—तव मैं केवल कुछ असभ्य और अँधेरे शब्दों को ही याद रख सका जो अच्छी से अच्छी वुद्धि को भी परेशान करने में, आश्चर्य में डालने में और उसे विलकुल थका देने में समर्थ हैं और जिनका आविष्कार ही केवल इसीलिए हुआ है कि वे आपके ऐसे आदमियों के अभिमान और अज्ञान पर पर्दा डाल सकें जो हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वे सव कुछ जानते हैं; उन अस्पष्ट और अनिश्चित शब्दों में वड़े-वड़े रहस्य छिपे हैं जिन्हें केवल वे ही समझ सकते हैं। यदि आपने मुझे उस दर्शन की शिक्षा दी होती जो वुद्धि को विचार करने के योग्य वनाता है तथा उसे अज्ञात रूप से तर्क को छोड़कर और किसी भी वस्तु से संतुष्ट न होने का अभ्यस्त करता है, यदि आपने मुझे उन उत्तम आदेशों और सिद्धान्तों की शिक्षा दी होती जो आत्मा को भाग्य के प्रभाव से ऊपर उठाते हैं तथा उसे एक अडिग स्थिर रूप में परिवर्तित कर देते हैं और उसे न तो समृद्धि के कारण ऊपर उठने और न

*हम यह नहीं कह सकते कि यह उद्धरण कहाँ तक वर्नियर का है और कहाँ तक औरंगज़ेव का है। हम केवल यह ही जानते हैं कि इसका पुनः मुद्रण होना चाहिए।

कुसमय के फलस्वरूप निम्नावस्था प्राप्त करने देते हैं, यदि आपने मुझे हम क्या हैं अथवा वस्तुओं के प्रथम मूल सिद्धान्त क्या हैं इनका ज्ञान प्राप्त कराने की लेशमात्र भी चिंता की होती तथा मुझे मेरी बुद्धि में विश्व की महानता तथा उसके अवयवों के प्रशंसनीय व्यवस्था एवं गति की ठीक-ठीक कल्पना करने में सहायता की होती; मैं कहता हूँ कि यदि आपने इस प्रकार के दर्शन की शिक्षा दी होती तब मैं अपने को आपका उससे भी अधिक आभारी समझता जितना कि सिकन्दर अरस्तू के प्रति था और मैं अपना यह फर्ज़ समझता कि आपको वह पारितोषिक प्रदान करूँ जैसा कि सिकन्दर ने अरस्तू को भी न दिया हो। मेरी मिथ्या प्रशंसा करने के स्थान पर क्या आपको मुझे एक बादशाह के लिए जो अत्यन्त आवश्यक बात है अर्थात् एक सम्राट का उसकी प्रजा के प्रति तथा प्रजा का उसके प्रति क्या धर्म है नहीं सिखलाना चाहिए था? क्या आपको यह विचार नहीं करना चाहिए था कि एक दिन मुझे तलवार के द्वारा अपने भाइयों से अपने जीवन और राज्य के लिए लड़ाई करनी पड़ेगी? . . . . क्या कभी आपने इस बात की चिंता की कि आप मुझे यह सिखलाते कि एक शहर का घेरा किस प्रकार डालना चाहिए या लड़ाई के मैदान में सेना को किस तरह खड़ा करना चाहिए? इन बातों के लिए मैं दूसरों का कृतज्ञ हूँ, आपका बिलकुल नहीं। जाइए! उस गाँव को वापस चले जाइए जहाँ से आप आए हैं और किसी को यह न मालूम होने पाए कि आप कौन हैं और आपका क्या अंत हुआ।

३. महाकाव्य

महाभारत; उसकी कथा; उसका स्वरूप; भगवद्गीता; संग्राम-दर्शन; स्वतंत्रता का मूल्य; रामायण; वन-चरित्र; सीता हरण; हिन्दू महाकाव्य तथा ग्रीक।

पाठशालाएँ और विश्वविद्यालय भारत की शिक्षा प्रणाली के केवल एक अंग थे। चूंकि भारत में अन्य सभ्यताओं की अपेक्षा लिखने की प्रथा की कम महत्ता थी। मौखिक शिक्षा में ही देश के इतिहास एवं काव्य को जीवित रक्खा गया तथा उसी के द्वारा उसका प्रचार किया गया अतएव समाज में पाठ की प्रथा ने लोगों के बीच उनकी सांस्कृतिक परम्परा के सबसे बहुमूल्य अंश का प्रचार किया। जिस प्रकार ग्रीस निवासियों के अंकगणित अन्वेषकों ने इलियड और ओडिसी को प्रसारित करते हुए उसका प्रचार किया था उसी प्रकार भारत के उच्चारकों और कथाकारों ने सदैव वृद्धि को प्राप्त होने वाले महाकाव्यों को जिनमें ब्राह्मणों ने अपनी प्राचीन युग की कथाएँ भर रक्खी थीं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा राज्य-दरबार से लेकर जनता तक पहुँचाया।

एक हिन्दू विद्वान ने महाभारत को "एशिया में कल्पना की सर्वोत्तम कृति" माना है और सर चार्ल्स इलियट उसे "इलियड् से भी उत्तम काव्य" मानते हैं। एक दृष्टि से इस बाद के (अर्थात् इलियट के) विचार में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। आरम्भ में एक उचित विस्तार की कथा होते हुए महाभारत में प्रत्येक शताब्दी में कुछ नई-नई कथाओं और धर्मोपदेशों का प्रवेश हुआ, उसमें भगवद्गीता और राम की कथा का समावेश हुआ और अंत में वह १,०७,००० श्लोकों की, इलियड् और ओडिसी दोनों को मिला कर उनकी सातगुनी परिमाण की रचना हो गई। इसके रचयिता एक सैनिक थे—व्यास; जिन्हें परम्परागत महाभारतकार माना जाता है—का अर्थ है, "क्रमबद्ध करने वाला।" सैकड़ों कवियों ने उसकी रचना की, हज़ारों गायकों ने उसमें संशोधन किया और गुप्त-सम्राटों के प्रश्रय में इस ग्रंथ में जो मूलतया क्षत्रियों का था ब्राह्मणों

ने अपने धार्मिक एवं नैतिक विचारों का समावेश करके उसे वह महान् रूप दिया जो आज हम देखते हैं।

महाभारत का मुख्य विषय धार्मिक-शिक्षा से सम्बन्धित नहीं था क्योंकि वह एक हिंसा, जुआ और संग्राम की कथा है। प्रथम पर्व में सुन्दरी शकुन्तला (जो भारत के सबसे प्रसिद्ध नाटक की नायिका होने को थी) और उसके सर्वशक्तिमान् पुत्र भरत का वर्णन है; उसके शरीर से कौरव और पाण्डव वंशों की उत्पत्ति हुई जो 'महान्-भारत' माने जाते हैं तथा जिनका संग्राम महाभारत का कथानक है (जो बीच-बीच में टूटा हुआ भी मिलता है)। पाण्डवों के राजा युधिष्ठिर अपनी सम्पत्ति, अपना राज्य, अपने भाई और अंत में अपनी स्त्री को भी अपने कुरु वैरी के पास जो एक विशिष्ट प्रकार से बने हुए पाँसे से खेल रहा था, हार जाते हैं। जैसा कि तय हुआ था पाण्डवों को उनका राज्य बारह वर्ष के वनवास के बाद वापस मिलना चाहिए था। बारह वर्ष बीत गए; पाण्डव कौरवों से अपना राज्य वापस माँगते हैं; उन्हें कोई उत्तर नहीं मिलता और वे संग्राम की घोषणा कर देते हैं। दोनों ओर मित्र-राज्यों को निमंत्रण दिया जाता है और उस लड़ाई में लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत प्रविष्ट हो जाता है।* पाँच पर्वों में यह संग्राम अट्ठारह दिन में समाप्त होता है; सारे कौरव और लगभग सारे पाण्डव भी मार डाले जाते हैं। केवल वीर-भीष्म ने ही दस रोज में १,००,००० आदमियों का संहार किया; कुल मिलाकर, महाभारत के कवि की गणना के अनुसार, मरे हुए वीरों की संख्या कई लाख में थी। मृत्यु के इस रक्तरंजित स्थल पर अंध-कुरु-सम्राट धृतराष्ट्र की रानी गांधारी अपने पुत्र दुर्योधन के शव पर तृष्णा से मँडराते हुए गिद्धों को देख कर भयातुर होकर विलाप करती है।

> एवमुक्त्वा तु गान्धारी कुरुणामवकर्तनम्।
> अपश्यत्तत्र तिष्ठन्ती सर्वं दिव्येन चक्षुषा ।।१।।[1]
>
> पतिव्रता महाभागा समानव्रतचारिणी।
> उग्रेण तपसा युक्ता सततं सत्यवादिनी ।।२।।[2]
>
> ददर्श सा बुद्धिमती दूरादपि यथान्तिके।
> रणाजिरं नृवीराणामद्भुतं लोमहर्षणम् ।।४।।[3]
>
> अस्थिकेशवसाकीर्णं शोणितौघपरिप्लुतम्।
> शरीरैर्बहुसाहस्रैर्विनिकीर्णं समन्ततः ।।[4]

---

* वेदों में महाभारत के कुछ चरित्रों का वर्णन मिलने से यह प्रतीत होता है कि दो वंशों के इस संग्राम की २००० ई० पू० की तारीख मूलरूपेण ऐतिहासिक है।

[1] ऐसा कहकर गान्धारी देवी ने वहीं खड़ी रहकर अपनी दिव्य दृष्टि से कौरवों का वह सारा विनाश-स्थल देखा।

[2] गान्धारी बड़ी ही पतिव्रता, परम सौभाग्यवती, पति के लिए समान व्रत का पालन करने वाली, उग्र तपस्या से युक्त तथा सदा सत्य बोलने वाली थीं।

[3] बुद्धिमती गान्धारी ने नरवीरों के उस अद्भुत एवं रोमांचकारी समरांगण को दूर से भी उसी तरह देखा जैसा निकट से देखा जाता है।

[4] वह रणक्षेत्र हड्डियों, केशों और चर्बियों से भरा था, रक्त के प्रवाह से आप्लावित हो रहा था, कई हजार लाशें वहाँ चारों ओर बिखरी हुई थीं।

गजाश्वनरनारीणां निःस्वनैरभिसंवृतम् ।
शृगालवककाकोलकङ्ककाकनिषेवितम् ॥७॥[1]

रक्षसां पुरुषादानां मोदनं कुरराकुलम् ।
अशिवाभिः शिवाभिश्च नादितं गृध्रसेवितम् ॥८॥[2]

वासुदेवं पुरस्कृत्य हतवन्धुं च पार्थिवम् ।
कुरुस्त्रियः समासाद्य जग्मुरायोधनं प्रति ॥१०॥[3]

समासाद्य कुरुक्षेत्रं ताः स्त्रियो निहतेश्वराः ।
अपश्यन्त हतांस्तत्र पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥११॥[4]

क्रव्यादैर्भक्ष्यमाणान् वै गोमायुवलवायसैः ।
भूतैः पिशाचै रक्षोभिर्विविधैश्च निशाचरैः ॥१२॥[5]

रुद्राक्रीडनिभं दृष्ट्वा तदा विशसनं स्त्रियः ।
महार्हेभ्योऽथ यानेभ्यो विक्रोशन्त्यो निपेतिरे ॥१३॥[6]

अदृष्टपूर्वं पश्यन्त्यो दुःखार्ता भरतस्त्रियः ।
शरीरेष्वस्खलन्नन्याः पतन्त्यश्चापरा भुवि ॥१४॥[7]

श्रान्तानां चाप्यनाथानां नासीत काचन चेतना ।
पाञ्चालकुरुयोषाणां कृपणं तदभून्महत् ॥१५॥[8]

दुःखोपहतचित्ताभिः समन्तादनुनादितम् ।
दृष्ट्वाऽऽयोधनमत्युग्रं धर्मज्ञा सुवलात्मजा ॥१६॥[9]

ततः सा पुण्डरीकाक्षमामन्त्र्य पुरुपोत्तमम् ।
कुरूणां वैशसं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥१७॥[10]

---

[1] हाथियों, घोड़ों, मनुष्यों और स्त्रियों के आर्तनाद से वह सारा युद्धस्थल गूँज रहा था। सियार, वगुले, काले कौए, कङ्क और काक उस भूमि का सेवन करते थे।

[2] वह स्थान नरभक्षी राक्षसों को आनन्द दे रहा था। वहाँ सव ओर कुरर पक्षी छा रहे थे। अमंगलमयी गीदड़ियाँ अपनी वोली वोल रही थीं, गीध सव ओर वैठे हुए थे।

[3] जिनके वन्धु-वान्धव मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्र तथा भगवान् श्रीकृष्ण को आगे करके कुरुकुल की स्त्रियों को साथ ले वे सव लोग युद्ध स्थल में गये।

[4-5] कुरुक्षेत्र में पहुँचकर उन अनाथ स्त्रियों ने वहाँ मारे गये अपने पुत्रों, भाइयों, पिताओं और पतियों के शरीरों को देखा जिन्हें मांस-भक्षी जीव-जन्तु, गीदड़-समूह, कौए, भूत,—पिशाच, राक्षस और नाना प्रकार के निशाचर नोच-नोचकर खा रहे थे।

[6] रुद्र की क्रीणास्थली के समान उस रणभूमि को देखकर वे स्त्रियाँ अपने वहुमूल्य रथों से क्रन्दन करती हुई नीचे गिर पड़ीं।

[7] जिसे कभी नहीं देखा था, उस अद्भुत रणक्षेत्र को देखकर भरतकुल की स्त्रियाँ दुःख से आतुर हो लाशों पर गिर पड़ीं और दूसरी वहुत-सी स्त्रियाँ धरती पर गिर गयीं।

[8] उन थकी-माँदी और अनाथ हुई पाञ्चालों तथा कौरवों की स्त्रियों को वहाँ चेत नहीं रह गया था। उन सब की वड़ी दयनीय दशा हो गयी थी।

[9-10] दुःख से व्याकुल चित्त हुई युवतियों के करुण क्रन्दन से वह अत्यन्त भयंकर युद्ध-

पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष स्नुषामे निहतेश्वराः ।
प्रकीर्णकेशाः क्रोशन्तीः कुररीखि माधव ॥१८॥[1]

अमूस्त्वभिसंमागम्य स्मरन्त्यो भर्तृजान् गुणान् ।
पृथगेवाभ्यधावन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥१९॥[2]

वीरसूभिर्महाराज हतपुत्राभिरावृतम् ।
क्वचिच्च वीरपत्नीभिर्हतवीराभिरावृतम् ॥२०॥[3]

एवमार्ता विलपतीं समाभाष्य जनार्दनम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता ददर्श निहतं सुतम् ॥६१॥[4]

दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा गान्धारी शोककर्शिता ।
सहसा न्यपतद् भूमौ छिन्नेव कदली वने ॥१॥[5]

सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां विक्रुश्य च विलप्य च ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य शयानं रुधिरोक्षितम् ॥२॥[6]

परिष्वज्य च गान्धारी कृपणं पर्यदेवयत् ।
हा हा पुत्रेतिशोकार्ता विललापाकुलेन्द्रिया ॥३॥[7]

सुगूढजत्रु विपुलं हारनिष्कविभूषितम् ।
वारिणा नेत्रजेनोरः सिंचन्ती शोकतापिता ॥४॥[8]

स्थल सब ओर से गूंज उठा। यह देखकर धर्म को जानने वाली सुबलपुत्री गान्धारी ने कमल-नयन श्रीकृष्ण को सम्बोधित करके कौरवों के उस विनाश पर दृष्टिपात करते हुए कहा।

[1] कमल नयन माधव! मेरी इन विधवा पुत्र वधुओं की ओर देखो जो केश बिखारे कुररी की भाँति विलाप कर रही हैं।

[2] वे अपने पतियों के गुणों का स्मरण करती हुई उनकी लाशों के पास जा रही हैं और पतियों, भाइयों, पिताओं और पुत्रों के शरीरों की ओर पृथक्-पृथक् दौड़ रही हैं।

[3] महाराज! कहीं तो जिनके पुत्र मारे गये हैं उन वीरप्रसविनी माताओं से और कहीं जिनके पति वीरगति को प्राप्त हो गये हैं, उन वीरपत्नियों से यह युद्धस्थल घिर गया है।

[4] भगवान् श्रीकृष्ण को सम्बोधित करके पुत्रशोक से व्याकुल हो इस प्रकार आर्त विलाप करती हुई गान्धारी ने मारे गये अपने पुत्र दुर्योधन को देखा।

[5] दुर्योधन को मारा गया देखकर शोक से पीड़ित हुई गान्धारी वन में कटे हुए केले के वृक्ष की तरह सहसा पृथ्वी पर गिर पड़ीं।

[6-7] पुनः होश में आने पर अपने पुत्र को पुकार-पुकार कर वे विलाप करने लगीं। दुर्योधन को खून से लथपथ होकर सोया देख उसे हृदय से लगाकर गान्धारी दीन होकर रोने लगीं। उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं। वे शोक से आतुर हो 'हा पुत्र!' कहकर विलाप करने लगीं।

[8] दुर्योधन के गले की विशाल हड्डी मांस से छिपी हुई थी। उसने गले में हार और निष्क पहन रखे थे। उन आभूषणों से विभूषित बेटे के वक्षःस्थल को आंसुओं से सींचती हुई गान्धारी शोकाग्नि से संतप्त हो रही थीं।

समीपस्थं हृषीकेशमिदं वचनमब्रवीत् ।
उपस्थितेऽस्मिन् संग्रामे ज्ञातीनां संक्षये विभो ॥५॥[१]

मामयं प्राह वार्ष्णेय प्रांजलिर्नृपसत्तमः ।
अस्मिन् ज्ञातिसमुद्धर्षे जयमम्वा ब्रवीतु मे ॥६॥[२]

इत्युक्ते जानती सर्वमहं स्वव्यसनागमम् ।
अब्रवं पुरुषव्याघ्र यतोधर्मस्ततोजयः ॥७॥[३]

यथा च युध्यमानस्त्वं न वै मुह्यसि पुत्रक ।
ध्रुवं शस्त्रजिताँल्लोकान् प्राप्स्यस्यमरवत् प्रभो ॥८॥[४]

इत्येवमब्रवं पूर्वं नैनं शोचामि वै प्रभो ।
धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हतवान्ववम् ॥९॥[५]

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति वरस्त्रियः ।
तं वीरशयने सुप्तं रमयन्त्यशिवाः शिवाः ॥१३॥[६]

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति महीक्षितः ।
महीतलस्थं निहतं गृध्रास्तंपर्युपासते ॥१४॥[७]

यं पुरा व्यजनै रम्यैरुपवीजन्ति योषितः ।
तमद्य पक्षव्यजनैरुपवीजन्ति पक्षिणः ॥१५॥[८]

---

[१]-[२]वे पास ही खड़े कृष्ण से इस प्रकार कहने लगीं—वृष्णिनन्दन ! प्रभो ! भाई-बन्धुओं का विनाश करने वाला जब यह भीषण संग्राम उपस्थित हुआ था, उस समय नृपश्रेष्ठ दुर्योधन ने मुझसे हाथ जोड़कर कहा—'माता जी ! कुटुम्बीजनों के इस संग्राम में आप मुझे मेरी विजय के आशीर्वाद दें।'

[३]पुरुषसिंह श्री कृष्ण ! उसके ऐसा कहने पर मैं यह सब जानती थी कि मुझ पर बड़ा भारी संकट आने वाला है, तथापि मैंने उससे यही कहा—'जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।'

[४]बेटा ! शक्तिशाली पुत्र ! यदि तुम युद्ध करते हुए धर्म से मोहित न होओगे तो निश्चय ही देवताओं के समान शस्त्रों द्वारा जीते हुए लोकों को प्राप्त कर लोगे।

[५]प्रभो ! यह बात मैंने पहले कह दी थी, इसलिए मुझे इस दुर्योधन के लिए शोक नहीं हो रहा है। मैं तो इन दीन राजा युधिष्ठिर के लिए शोकमग्न हो रही हूँ, जिनके सारे भाई-बन्धु मार डाले गये।

[६]"पूर्वकाल में जिसके पास बैठकर सुन्दरी स्त्रियाँ उसका मनोरंजन करती थीं, वीरशय्या पर सोये हुए आज उसी वीर का ये अमंगलकारिणी गीदड़ियाँ मन-बहलाव करती हैं।

[७]जिसके पास राजा लोग बैठकर उसे आनन्द प्रदान करते थे, आज मरकर धरती पर पड़े हुए उसी वीर के पास गीध बैठे हुए हैं।

[८]पहले जिसके पास खड़ी होकर युवतियाँ सुन्दर पंखे झला करती थीं, आज उसी को पक्षीगण अपने पाँखों से हवा करते हैं।

प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्कगाम् ।
रुक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण लक्ष्मणमातरम् ॥२५॥[1]

नूनमेषा पुरा वाला जीवमाने महीभुजे ।
भुजावाश्रित्य रमते सुभुजस्य मनस्विनी ॥२६॥[2]

कथं तु शतधा नेदं हृदयं मम दीर्यते ।
पश्यन्त्या निहतं पुत्रं पुत्रेण सहित रणे ॥२७॥[3]

पुत्रं रुधिरसंसिक्तमुपजिघ्रत्यनिन्दिता ।
दुर्योधनं तु वामोरूः पाणिना परिमार्जती ॥२८॥[4]

किं नु शोचति भर्तारं पुत्रं चैषा मनस्विनी ।
तथा ह्यवस्थिता भाति पुत्रं चाप्यभिवीक्ष्य सा ॥२९॥[5]

स्वशिरः पञ्चशाखाभ्यामभिहत्यायतेक्षणा ।
पतत्युरसि वीरस्य कुरुराजस्य माधव ॥३०॥[6]

पुण्डरीकनिभा भाति पुण्डरी कान्तरप्रभा ।
मुखं विमृज्य पुत्रस्य भर्तुश्चैव तपस्विनी ॥३१॥[7]

यदि सव्यागमाः सन्ति यदि वै श्रुतयस्तथा ।
ध्रुवं लोकानवाप्तोऽयं नृपो वाहुवलार्जितान् ॥३२॥[8]

---

[1] 'श्रीकृष्ण ! सुवर्ण की वेदी के समान तेजस्विनी तथा सुन्दर कटि प्रदेशवाली उस लक्ष्मण की माता को तो देखो जो दुर्योधन के शुभ अंक में स्थित हो केश खोले रो रही है।'

[2] पहले जब राजा दुर्योधन जीवित था तब निश्चय ही यह मनस्विनी वाला सुन्दर बाँहों वाले अपने वीर पति की दोनों भुजाओं का आश्रय लेकर इसी तरह उसके साथ सानन्द क्रीड़ा करती रही होगी।

[3] रणभूमि में मेरा वही पुत्र अपने पुत्र के साथ ही मार डाला गया है, इसे इस अवस्था में देखकर मेरे इस हृदय के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते।

[4] सुन्दर जाँघों वाली मेरी सती साध्वी पुत्रवधू कभी खून से भीगे हुए अपने पुत्र लक्ष्मण का मुंह सूँघती है तो कभी पति दुर्योधन का शरीर अपने हाथ से पोंछती है।

[5] पता नहीं, यह मनस्विनी बहू पुत्र के लिए शोक करती है या पति के लिए ? कुछ ऐसी ही अवस्था में वह जान पड़ती है। माधव ! वह देखो, वह विशाललोचना वधू पुत्र की ओर देखकर दोनों हाथों से सिर पीटती हुई अपने वीर पति कुरुराज की छाती पर गिर पड़ी है।

[6] कमल-पुष्प के भीतरी भाग की सी मनोहर कान्तिवाली मेरी तपस्विनी पुत्रवधू जो प्रफुल्ल कमल के समान सुशोभित हो रही है, कभी अपने पुत्र का मुंह पोंछती है तो कभी अपने पति का।

[7] श्रीकृष्ण ! यदि वेद-शास्त्र सत्य हैं तो मेरा पुत्र यह राजा दुर्योधन निश्चय ही अपने वाहुवल से प्राप्त हुए पुण्यमय लोकों में गया है।

[8] श्री महाभारत स्त्री पर्व के अंतर्गत स्त्री विलाप पर्व में दुर्योधन का दर्शन विषयक सत्रहवें अध्याय से उद्धृत।

प्रेम और संग्राम के इस कथानक में हज़ारों क्षेपक लगा दिये गए। एक सर्ग में भगवान् कृष्ण योद्धा को रोक कर उसे युद्ध और कृष्ण की महानता पर व्याख्यान देते हैं, मरणासन्न भीष्म जाति, सम्पत्ति-दान, विवाह, दान, और मृतक-संस्कार के नियमों की व्याख्या करने के लिए, सांख्य और उपनिषदों के प्रदर्शन को समझाने के लिए, प्राचीन कथा और परम्परा का निर्देश करने के लिए और युधिष्ठिर को शासक के धर्म को सविस्तार समझाने के लिए अपनी मृत्यु को स्थगित करते हैं; वंशपरम्परा और भूगोल, धर्म और दर्शन के धूल से भरे मैदान अभिनय और कृति के नखलिस्तान को अलग करते हैं; देवताओं और अप्सराओं की कहानियाँ, प्रेम के कथानक, साधुओं की जीवनियाँ महाभारत की एक ऐसी स्वरूपहीनता देने—लेकिन उसे एक प्रचुर साहित्य बनाने—में सहायक हैं जैसी कि इलियड या ओडिसी में नहीं पाई जाती जो कि स्पष्टतया क्षत्रिय-गत कर्म, वीरत्व और युद्ध का राज्याभिषेक था। ब्राह्मणों के हाथ में लोगों को मनु के नियम, योग के सिद्धान्त, नैतिकता की सीख तथा निर्वाण की सुन्दरता की शिक्षा देने का एक माध्यम हो गया। नैतिकता के स्वर्ण-नियम की अनेक प्रकार से व्याख्या* है, सौंदर्य और ज्ञान के नीति-विषयक सूत्रों की भरमार है तथा पतिभक्ति की सुन्दर कहानियाँ (नल-दमयन्ती, और सावित्री) स्त्री-श्रोताओं को पतिव्रता स्त्री के ब्राह्मण-आदर्श की शिक्षा देती हैं।

महाभारत की कथा में भागवद्गीता जो विश्व-साहित्य की सर्वोच्च दार्शनिक पद्यात्मक रचना है एक रत्न के समान जड़ी है। यह भारतवर्ष की न्यू-टेस्टामेंट है जिसके सम्मान की गणना वेदों के बाद ही हैं तथा जिसका न्यायालयों में हमारी बाइबिल या कुर न के समान शपथ लेने में प्रयोग होता है। विलियम वान हमबोल्ट ने कहा है कि "यह सबसे सुन्दर, कदाचित् एक ही सत्य दार्शनिक काव्य है जिसका कि किसी भी भाषा में अस्तित्व है।" व्यक्ति और तत्गत विशेषता का तिरस्कार करते हुए भारतवर्ष अपनी कृतियों के रचयिताओं को जिस प्रकार प्रच्छन्न रखता है उसमें भाग लेते हुए गीता हमारे समक्ष बिना अपने ग्रंथकार और काल का निर्देश किए हुए आती है। वह ४०० ई० पू० तक की प्राचीन अथवा २०० ई० पू० तक की नवीन भी हो सकती है।†

इस काव्य का घटना-स्थल कौरवों और पाण्डवों की रणभूमि है; इसका समय वह है जब कि पाण्डव योद्धा अर्जुन वैरी-दल के अपने सम्बन्धियों से लड़ने में अनिच्छा प्रकट करता है। भगवान् कृष्ण से जो अर्जुन के बगल में होमर के देवता के समान रण में भाग ले रहे थे अर्जुन, गाँधी और क्राइस्ट के दर्शन का व्याख्यान करता है:

"दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

---

* उदाहरणार्थः "जो कुछ तुम्हें कष्ट दे उसे दूसरे के प्रति न करो," "यदि शत्रु भी सहायता माँगे तो एक धार्मिक व्यक्ति उसे प्रदान करने के लिए तैयार हो जायगा" "विनम्रता से क्रोध को, दया से बुराई को, दान से कृपणता को और सत्य से झूठ को जीतो।"

† उदाहरणार्थ: "जिस प्रकार एक महासागर में लकड़ी का एक टुकड़ा दूसरे से मिलता है और फिर अलग हो जाता है उसी प्रकार प्राणियों का सम्पर्क है।"

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।

(अर्थात्, हे कृष्ण! इस युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमांच होता है।....हे केशव! लक्षणों को भी विपरीत ही देखता हूँ तथा युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता। हे कृष्ण! मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता; हे गोविन्द हमें राज्य से क्या प्रयोजन अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है।....अहो शोक है कि हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान् पाप करने को उद्यत हैं जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए उद्यत हुए हैं। यदि मुझे शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार भी डालें तो वह मेरे लिए अति कल्याणकारक होगा।)

इसके बाद कृष्ण जिनका देवत्व उन्हें रणक्षेत्र के आनन्द से नहीं हटा सकता विष्णु-पुत्र के पूर्ण अधिकार के साथ यह व्याख्या करते हैं कि शास्त्रों के अनुसार तथा सर्वोत्तम प्राचीन विचार के आधार पर रणक्षेत्र में स्वजनों की हत्या करना न्यायोचित है और अर्जुन का यह कर्तव्य है कि वह क्षत्रिय-धर्म का पालन करे, शुद्ध विचार एवं शुद्ध-इच्छा से युद्ध करे तथा वैरियों का विनाश करें क्योंकि अंततोगत्वा केवल शरीर का ही हनन होता है, आत्मा तो अविनाशी है और वह सांख्य के अविनाशी पुरुष और उपनिषदों के नित्य आत्मा की विवेचना करते हैं :

"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"[1]

कृष्ण अर्जुन को दर्शन की शिक्षा देने के लिए अग्रसर होते हैं जिसमें उन्होंने सांख्य और वेदान्त का एक विचित्र समन्वय किया है जो वैष्णव सम्प्रदाय को मान्य है। परमात्मन् से अपनी एकता दिखलाते हुए वे कहते हैं :

---

[1]नाश रहित तो उसको जानना चाहिए जिससे यह संपूर्ण जगत व्याप्त है क्योंकि इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। नाश रहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं। अतएव हे अर्जुन! तू युद्ध कर। जो इस आत्मा को मरनेवाला समझते हैं तथा जो इसको मरा हुआ मानते हैं वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है। यह आत्मा किसी भी काल में न जन्म लेता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है; शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता।

"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपास्विषु ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थं सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥....
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाले च पण्डिताः समदर्शिनः ॥[1]

यह काव्य सहायक विषयों से तथा तत्त्वज्ञान एवं नीति विषयक विरोधों से जो जीवन के परस्पर विरोध और पेचीदगी का आभास दिलाता है परिपूर्ण हैं। हमको यह देखकर धक्का लगता है कि मनुष्य तो उस सिद्धान्त को अपनाता है जो सर्वोत्तम नैतिक-सिद्धान्त माना जा सकता है जबकि देवता आत्मा की नित्यता एवं शारीरिक व्यक्तित्व को असत्य मानकर युद्ध और हिंसा के पक्ष में तर्क करता है। स्पष्टतया ग्रंथकार की इच्छा हिन्दू आत्मा के अंदर से बौद्ध-पुण्यता की क्षीणकारी शांति को हिला कर भारतवर्ष के लिए युद्ध करने की इच्छा उत्पन्न करना था; यह एक क्षत्रिय का विद्रोह था जिसने यह अनुभव किया कि धर्म उसके देश को दुर्बल कर रहा था और जिसने अभिमान के साथ यह कहा कि संसार में बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो शांति से भी अधिक मूल्यवान् हैं। एक सामान्य दृष्टि से यह एक उत्तम शिक्षा थी जिसे यदि भारतवर्ष ने ग्रहण किया होता तो वह सदैव स्वतंत्र रहता।

भारतवर्ष का दूसरा महाकाव्य हिन्दू ग्रंथों में सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं सर्वप्रिय है। महाभारत की अपेक्षा रामायण का विस्तार छोटा है; उसमें केवल एक हजार पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ में ४८ लाइनें हैं; और यद्यपि इसका भी विकास ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी तक सम्मिश्रण से हुआ तथापि इसमें क्षेपकों की संख्या कम है और वे इसके मुख्य विषय को किसी प्रकार से अवरुद्ध नहीं करते। परम्परा के अनुसार इस काव्य के रचयिता वाल्मीक हैं जो महाभारत के माने गए ग्रंथकार के समान इस काव्य के एक चरित्र हैं; लेकिन यह अधिक सम्भव है कि यह उन गायकों की कृति है जो आज भी इस काव्य का गान अपने श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए करते हैं जो कभी-कभी निरन्तर ९० दिन तक चलता रहता है।

जिस प्रकार महाभारत की इलियड से इस बात में समानता है कि वह देवताओं और मनुष्यों के युद्ध की एक महान् कथा है जिसमें कभी-कभी एक देश की सुन्दरी दूसरे देश में चली जाती है उसी प्रकार रामायण ओडाइसी से मिलती-जुलती है और नायक की कठिनाइयों, उसके परिभ्रमण तथा उसकी स्त्री के उससे पुनर्मिलन की प्रतीक्षा के धैर्य के वृत्तान्त का वर्णन है। आरम्भ में हम एक स्वर्ण-युग का जिसमें दशरथ अपनी राजधानी अयोध्या से अपने कौशल-राज्य (वर्तमान अवध) पर राज्य करते थे।

---

[1] अर्थात्, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मेरे गुथा हुआ है। हे अर्जुन! जल में मैं रस हूँ, चंद्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ऊँकार हूँ तथा आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में मैं तेज हूँ और सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ तथा तपस्वियों में तप हूँ। हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण को ही जान; मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। ....ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले होते हैं।

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपद प्रियः ॥१॥
तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो वहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाःसत्यवादिनः ॥६॥
नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन पुरोत्तमे।
कुटुम्वीयो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ॥७॥[1]

पास ही में विदेह-नामक एक दूसरा समृद्धिशाली राज्य था जिस पर महाराजा जनक राज्य करते थे। उन्होंने वीर सिन्सिनैटस् के समान "हल अपने हाथ में ग्रहण किया और पृथ्वी को जोता;" और एक दिन हल के लगने से पृथ्वी से सीता नामक एक सुन्दर कन्या ऊपर आई। शीघ्र ही सीता का विवाह होना था और जनक ने इसके लिए एक स्वयंवर की व्यवस्था की: जो जनक के धनुष को चढ़ा देता वही सीता से विवाह करता। इस स्वयंवर में दशरथ के ज्येष्ठ-पुत्र राम "जिनका वक्षस्थल सिंह के समान था, जिनकी भुजाएँ वलवान् थीं जो कमल-नेत्र थे, जंगली हाथी के समान ऐश्वर्यवान् थे और जिनके ऊपर केशों का मुकुट था," ने भी भाग लिया। केवल राम ने ही धनुष चढ़ाया और जनक ने हिन्दू-विवाह-पद्धति की विशेषता के अनुसार उन्हें अपनी कन्या सौंप दी।

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥२६॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥२७॥[2]

इस प्रकार राम अपनी वधू के साथ जिसकी भौंहें हाथी के दाँत के समान, ओंठ मूंगे के समान तथा चमकीले दाँत मोती के समान थे—अयोध्या वापस आते हैं और अपनी शुद्धता सौम्यता और अपनी उदारता से कोशलवासियों का प्रेम अपना लेते हैं। सहसा दशरथ की स्त्री कैकेयी के रूप में पाप इस पुण्य भूमि में प्रवेश करता है। दशरथ ने उसे कोई भी वरदान देने का वचन दिया था और अव वह दशरथ की वड़ी रानी जिनके राम पुत्र थे तथा जो अव राजसिंहासन पर वैठने जा रहे थे की ईर्ष्या के कारण वह दशरथ से राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास वरदान के रूप में माँगती है। दशरथ प्रतिष्ठा के कारण, जिसका विचार राजनीति से अनभिज्ञ एक कवि ही कर सकता है,

---

[1] उस अयोध्या पुरी में रहकर राजा दशरथ प्रजा वर्ग का पालन करते थे। वे वेदों के विद्वान् तथा सभी उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करने वाले थे। वे दूरदर्शी तथा महान तेजस्वी थे। नगर और जनपद की प्रजा उनसे वहुत प्रेम रखती थी ॥१॥ उस उत्तम नगर में निवास करने वाले सभी मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा, वहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी तथा अपने-अपने धन से संतुष्ट रहने वाले थे ॥६॥ उस श्रेष्ठ पुरी में कोई भी ऐसा कुटुम्बी नहीं था जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओं का संग्रह अधिक मात्रा में न हो, जिसके धर्म, अर्थ और काममय पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों तथा जिसके पास गाय-वैल, घोड़े, धन-धान्य आदि का अभाव हो ॥७॥

[2] कौसल्या-पुत्र रामचन्द्र से राजा जनक वोले—यह सीता मेरी कन्या है, और तुम्हारे साथ धर्माचरण करने के लिए तुम्हें दी जाती है ॥२६॥ इसको तुम ग्रहण करो। तुम्हारा कल्याण हो, इसका हाथ अपने हाथ में लो, यह पतिव्रता, सौभाग्यवती और तुम्हारी छाया के समान होगी ॥२७॥

अपने वचन को पूरा करते हैं और दुःखित हृदय से अपने सबसे प्रिय पुत्र को वनवास दे देते हैं। राम उन्हें बड़े सुन्दर ढंग से माफ कर देते हैं और वन में अकेले जाकर रहने की तैयारी करते हैं लेकिन सीता भी उनके साथ जाने के लिए हठ करती हैं। इस स्थल पर उनका वचन प्रत्येक हिन्दू वधू के लिए चिरस्मरणीय है :

प्रासादग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥९॥
अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥१०॥
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥११॥
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥१२॥....
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥१६॥
अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि।
इच्छामि परतः शैलान् पल्वलानि सरांसि च ॥१७॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता ॥१७½॥[1]

यहाँ तक कि उनके भाई लक्ष्मण भी राम के साथ जाने के लिए आज्ञा माँगते हैं :

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥
धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥
आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥

---

[1] ऊँचे-ऊँचे महलों में रहना, विमानों पर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियों के द्वारा आकाश में विचरना—इन सब की अपेक्षा स्त्री के लिए सभी अवस्थाओं में पति के चरणों की छाया में रहना विशेष महत्व रखता है। मुझे किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, इस विषय में मेरी माता और पिता ने मुझे अनेक प्रकार से शिक्षा दी है। इस समय इसके विषय में उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। अतः नाना प्रकार के वन्यपशुओं से व्याप्त तथा सिंहों और व्याघ्रों से सेवित उस निर्जन और दुर्गम वन में मैं अवश्य चलूँगी। मैं तो जैसे पिता के घर में निवास करती थी, उसी प्रकार उस वन में भी सुखपूर्वक निवास करूँगी। वहाँ तीनों लोक के ऐश्वर्य को भी कुछ न समझती हुई मैं सदा पतिव्रत धर्म का चिन्तन करती हुई आप की सेवा में लगी रहूँगी। वन में चलकर मैं आपको कोई कष्ट न दूँगी, सदा आपके साथ रहूँगी और प्रतिदिन फल-मूल खाकर ही निर्वाह करूँगी। मेरे इस कथन में किसी प्रकार के सन्देह के लिए स्थान नहीं है। मैं आपके आगे-आगे चलूँगी और आपके भोजन कर लेने पर जो कुछ बचेगा, उसे ही खाकर रहूँगी। प्रभो! मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं आप बुद्धिमान प्राणनाथ के साथ निर्भय हो वन में सर्वत्र घूमकर पर्वतों, छोटे-छोटे तालाबों और सरोवरों को देखूँ।

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥[1]

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम्।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं प्रपच्छ साबला ॥
रमणीयान् बहुविधान् पादपान कुसुमोत्करान्।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ॥....
ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥
एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति।
रमणीये वनोद्देशे पुष्प संस्तरसंकटे ॥....
विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः।
नित्य विक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥
सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम्।
कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनी ॥[2]

इस स्थल पर यह महाकाव्य एक उत्तम वन कथा का रूप धारण करता है जिसमें यह बतलाया जाता है कि किस प्रकार राम और लक्ष्मण वन के लिए प्रस्थान करते हैं, किस प्रकार अयोध्या की जनता उनके लिए विलाप करती हुई प्रथम दिन उनके साथ-साथ यात्रा करती है, किस प्रकार वे उस उत्सुक समाज को रात्रि में चुपके से छोड़ कर चल देते हैं, किस प्रकार वे अपने बहुमूल्य आभूषणों और राजसी वस्त्रों का परित्याग करके वल्कल और बुने हुए घास के वस्त्र धारण करते हैं अपनी तलवार से जंगलों को काटकर रास्ता बनाते हैं तथा पेड़ों के फल और कंदमूल खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं।

---

[1] आप मुझ को अपना अनुगामी बना लीजिए। इसमें कोई धर्म की हानि नहीं होगी। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध हुआ करेगा। प्रत्यंचा सहित धनुष लेकर कुदाल और पिटारी लिए आपको रास्ता दिखाता हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा। प्रतिदिन आपके लिए फल-मूल लाऊँगा तथा तपस्वीजनों के लिए वन में मिलने वाली तथा अन्यान्य हवन-सामग्री जुटाता रहूँगा। आप विदेहकुमारी के साथ पर्वतशिखरों पर भ्रमण करेंगे। वहाँ आप जागते हों या सोते, मैं हर समय आपके सभी आवश्यक कार्य पूर्ण करूँगा।

[2] अबला सीता एक-एक वृक्ष, झाड़ी अथवा पहले की न देखी हुई पुष्पशोभित लता को देखकर उसके विषय में श्रीरामचन्द्र जी से पूछती थीं तथा लक्ष्मण सीता के कथनानुसार तुरन्त ही भाँति-भाँति के वृक्षों की मनोहर शाखायें और फूलों के गुच्छे ला-लाकर उन्हें देते थे।....उस समय लक्ष्मण के साथ वहाँ से प्रस्थित हुए श्री राम ने कमलनयनी सीता से इस प्रकार कहा—'वन का यह भाग बड़ा ही रमणीय है, यहाँ फूलों की वर्षा सी हो रही है और सारी भूमि पुष्पों से आच्छादित दिखायी देती है। इस वन प्रान्त में यह चातक 'पी कहाँ'-'पी कहाँ' की रट लगा रहा है। उधर वह मोर बोल रहा है मानो पपीहे की बात का उत्तर दे रहा है।....यहाँ इस नदी में प्रतिदिन तपस्या, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह से सम्पन्न निष्पाप सिद्ध-महात्माओं के अवगाहन करने से इसका जल विक्षुब्ध होता रहता है। चलो, तुम भी मेरे साथ इसमें

वे नदी के किनारे एक झोपड़ी बनाते हैं और अपने जंगली जीवन में आनन्द लेते हैं। लेकिन सूर्पनखा नामक एक दक्षिणी राजकुमारी जंगल में घूमती हुई राम से मिलती है और उनसे प्रेम करने लगती हैं; वह राम के सद्गुणों का विरोध करती है और अपने भाई रावण को सीता का अपहरण करने के लिए उसकाती है। वह इसमें सफल होता है, सीता को बड़ी दूर एक किले में ले जाता है और वहाँ उसे निरर्थक लुभाने का प्रयत्न करता है। चूँकि देवताओं और ग्रंथकारों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, राम एक बड़ी सेना तैयार करते हैं, रावण के राज्य पर आक्रमण करते हैं, उसे युद्ध में हराते हैं, सीता को मुक्त करते हैं और फिर उसके साथ विमान (हवाई-जहाज़) में बैठकर वापस आते हैं (उनकी वनवास की अवधि पूर्ण हो चुकी थी) जहाँ उनका एक दूसरा आज्ञाकारी भाई उन्हें सहर्ष कोशल का राजसिंहासन वापस करता है।

जो सम्भवत: एक बाद को जोड़ी हुई कथा जान पड़ती है। राम उन सशंक व्यक्तियों को जो यह कभी विश्वास न कर सकते थे कि सीता रावण के महल में बिना उससे सम्बद्ध हुए रह सकती थी संतुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि वह अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अपनी निष्कलंकता सिद्ध करती हैं फिर भी राम परम्परा के उस कटु-छल से जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी पर उन पाप और त्रुटियों को दोहराती है जिसे उसे अपने पूर्वजों के हाथों सहन करना पड़ा था सीता को वन के एक आश्रम में भेज देते हैं। वन में सीता की वाल्मीक से भेंट होती है और वह राम के दो पुत्र को जन्म देती है। कई वर्ष बाद ये लड़के, भ्रमण करते हुए गायकों के रूप में, दुःखित राम के समक्ष सीता की स्मृतियों पर आधारित वाल्मीकि विरचित उनसे सम्बन्धित महाकाव्य का गान करते हैं। राम इन बालकों को अपने पुत्र के रूप में पहचानते हैं और सीता के पास उन्हें वापस आने की प्रार्थना का संदेश भेजते हैं। लेकिन सीता जिसका हृदय अपने प्रति किए गए संदेह से टूट चुका था उस पृथ्वी में जो कि एक समय उसकी माँ थी पुनः लुप्त हो जाती हैं। अनेकों वर्ष तक राम एकाकी एवं दुःख से पूर्ण जीवन निर्वाह करते हुए राज्य करते हैं और उनके कृपापूर्ण शासन में अयोध्या पुनः दशरथ काल के सुख की पराकाष्ठा का अनुभव करती है:

राघवश्चापि धर्मात्मा प्राप्य राज्यमनुत्तमम् ।
ईजे बहुविधैर्यज्ञैः ससुहृज्ज्ञाति बान्धवः ॥९७॥
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥९८॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥९९॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् ॥१००॥
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥१०१॥[1]

स्नान करो। भामिनि सीते! एक सखी दूसरी सखी के साथ जैसे क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार तुम मन्दाकिनी नदी में उतरकर इसके लाल और श्वेत कमलों को जल में डुबोती हुई इसमें स्नान-क्रीड़ा करो।

[1] अयोध्या के परम उत्तम राज्य को पाकर धर्मात्मा श्रीराम ने सुहृदों, कुटुम्बीजनों

:

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ।
रामभूतं जगद्भूद् रामे राज्यं प्रशासति ॥१०२॥
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः ।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ॥१०३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभ विवर्जिताः ।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ॥१०४॥
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः ।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ॥१०५॥[1]

यह एक रोचक कथा है जिसमें एक आधुनिक संशयवादी भी आनन्द ले सकता है यदि वह कभी-कभी अपने को गान के स्वर एवं रोमांच के अधीन करने की बुद्धिमानी कर सके। ये काव्य जो कदाचित् होमर के महाकाव्य से साहित्यिक गुण, आकार-रचना के तर्क, शब्दों के बाहुल्य, विषय विवरण की गम्भीरता एवं वस्तु सत्ता के प्रति सच्चाई आदि में निम्नतर हैं, उत्तम-भाव, स्त्री और पुरुष के उच्च आदर्श तथा जीवन की ओजपूर्ण व्याख्या से विशिष्ट हैं। राम और सीता वास्तविक होने के लिए कहीं अधिक उत्तम हैं लेकिन द्रौपदी और युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र और गांधारी, ऐचीलिज़ और हेलेन, यूलिसीज़ और पेनीलोप के समान वास्तविक जीवन से सम्बन्धित हैं। एक हिन्दू का यह विरोध सत्य होगा कि किसी भी विदेशी व्यक्ति के लिए इन महाकाव्यों को समझना अथवा उनके विषय में कुछ निर्णय करना असम्भव है। उसके लिए ये महाकाव्य कोरी कहानियाँ नहीं हैं वरन् उन आदर्श चरित्रों की चित्रशाला हैं जिस पर निर्भर करके वह अपने चरित्र को तदनुसार बना सकता है। वे अपने समाज के व्यक्तियों के लिए परम्परा, दर्शन एवं धर्म के भण्डार हैं; एक अर्थ में वे पवित्र शास्त्र हैं जिन्हें एक हिन्दू उसी श्रद्धा से पढ़ेगा जिस प्रकार एक ईसाई दी इमीटेशन आफ़ क्राइस्ट अथवा दी लाइव्ज़ आफ़ सेन्ट्स को पढ़ता

तथा भाई बन्धुओं के साथ अनेक प्रकार के यज्ञ किये ॥९७॥ श्रीराम के राज्य-शासन काल में कभी विधवाओं का विलाप नहीं सुनायी पड़ता था। सर्प आदि दुष्ट जन्तुओं का भय नहीं था और रोगों की भी आशंका नहीं थी ॥९८॥ सम्पूर्ण जगत् में कहीं चोरों या लुटेरों का नाम भी नहीं सुना जाता था। कोई भी मनुष्य अनर्थकारी कार्यों में हाथ नहीं डालता था और बूढ़ों को बालकों के अन्त्येष्टि संस्कार नहीं करने पड़ते थे ॥९९॥ सब लोग सदा प्रसन्न ही रहते थे। सभी धर्मपरायण थे और श्रीराम पर ही बारम्बार दृष्टि रखते हुए वे कभी एक दूसरे को कष्ट नहीं पहुँचाते थे ॥१००॥ श्रीराम के राज्यशासन करते समय लोग सहस्रों वर्ष तक जीवित रहते थे, सहस्रों पुत्रों के जनक होते थे और उन्हें किसी प्रकार का रोग या शोक नहीं होता था ॥१०१॥

[1]श्री राम के राज्य-शासन काल में प्रजावर्ग के भीतर केवल राम, राम, की ही चर्चा होती थी। सारा जगत् श्रीराममय हो रहा था ॥१०२॥ श्री राम के राज्य में वृक्षों की जड़ें सदा मजबूत रहती थीं। वे वृक्ष सदा फूलों और फलों से लदे रहते थे। मेघ प्रजा की इच्छा और आवश्यकता के अनुसार ही वर्षा करते थे। वायु मन्द गति से चलती थी, जिससे उसका स्पर्श सुखद जान पड़ता था ॥१०३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोग लोभरहित होते थे। सबको अपने ही वर्णाश्रमोचित कर्मों से संतोष था और सभी उन्हीं के पालन में लगे रहते थे ॥१०४॥ श्री राम के शासनकाल में सारी प्रजा धर्म में तत्पर रहती थी। झूठ नहीं बोलती थी। सब लोग उत्तम लक्षणों से सम्पन्न रहते थे और सब ने धर्म का आश्रय ले रखा था ॥१०५॥

है। एक पवित्र हिन्दू का यह विश्वास है कि राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार थे और वह आज भी उनकी आराधना करता है और जब वह उनकी कथा को इन महाकाव्यों में पढ़ता है तब उसकी यह भावना होती है कि वह धार्मिक पुण्य का संचय कर रहा है तथा साहित्यिक रस एवं नैतिक उत्थान के आनन्द की प्राप्ति कर रहा है। उसे यह विश्वास है कि **रामायण** के पारायण से उसके समस्त पापों का नाश होगा और उसे पुत्र की प्राप्ति होगी और वह साधारण श्रद्धा के साथ महाभारत के इस अभिमान से पूर्ण निष्कर्ष को अपनाता है।

यदि कोई व्यक्ति महाभारत का पाठ करता है तथा उसे उसके सिद्धान्तों में विश्वास है तो वह समस्त पापों से छुटकारा पा जाता है और वह मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति करता है......। जिस प्रकार भोजन में घृत है, मनुष्यों में ब्राह्मण है......जल-कूप की अपेक्षा समुद्र है, चतुष्पदों में गो है उसी प्रकार समस्त इतिहास में **महाभारत** सर्वश्रेष्ठ है......जो मनुष्य **महाभारत** के* श्लोकों का ध्यानपूर्वक श्रवण करता है तथा उनमें श्रद्धावान् रहता है वह संसार में दीर्घायु एवं प्रतिष्ठित होता है तथा मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में नित्यवास करता है।

४. नाटक

उत्पत्ति; "मृच्छकटिक"; हिन्दू-नाटक की विशेषताएं; कालिदास; "शकुन्तला" की कथा; भारतीय-नाटक का मूल्यांकन।

एक दृष्टि से भारत में नाटक वेदों के समान ही प्राचीन है क्योंकि कम से कम नाटक के बीज उपनिषदों में विद्यमान मिलते हैं। यह बात निस्संदेह है कि इन शास्त्रों से भी प्राचीन नाटकों का एक और अधिक सक्रिय स्रोत है और वह है कर्मकाण्ड एवं त्योहार सम्बन्धी रीतियों का पालन तथा धार्मिक कृतियों का जलूस। नाटक का तीसरा स्रोत नृत्य-कला में था जो न केवल शक्ति का ह्रास कहा जा सकता है—उसे कामतृप्ति का प्रकारान्तर माना तो और भी अयुक्त होगा—वरन् वह उन कृतियों और घटनाओं का धार्मिक रूपक है जो उस जाति के हित में नितान्त आवश्यक है। कदाचित् इसका चौथा स्रोत महाकाव्यों के सभा के बीच ज़ोर ज़ोर से पाठ करने में था। इन बातों ने मिलकर भारतीय नाटक की उत्पत्ति में सहयोग दिया और उसमें धार्मिकता की एक ऐसी मोहर लगाई जो काव्य-काल* में नाटक के गंभीर-स्वरूप उसके कथानक के वैदिक स्रोत एवं नाटक के आरम्भ के मंगला-चरण में निरन्तर विद्यमान दिखलाई पड़ती है।

कदाचित् नाटक की अन्तिम उत्तेजना की प्राप्ति सिकन्दर के आक्रमण के फल-स्वरूप भारत और ग्रीस के परस्पर सम्बन्ध से हुई। हमें अशोक से पूर्व हिन्दू नाटकों के अस्तित्व के बारे में कोई प्रमाण नहीं मिलता; † उसके शासन-काल में भी इनका अस्तित्व निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं है। हिन्दू नाटकों का प्राचीनतम साहित्य ताड़ के पत्रों की उन पांडुलिपियों में मिलता है जो चीनी तुर्किस्तान में खोज करके प्राप्त की गई हैं। इनमें तीन नाटक थे; एक में नाटककार का नाम अश्वघोष है जो कनिष्क के राज्य दर-बार के एक धार्मिक-सितारे थे। इस नाटक का शास्त्र की परिभाषाओं के अनुसार रूप तथा उसके विदूषक की भारतीय नाट्य-कला के परम्परागत विदूषक सम्बन्धी विशे-

---

*पद्य।

†अर्थात् वह काल जिसमें साहित्य ने संस्कृत को माध्यम रक्खा था।

पताओं से समानता यह संकेत करती हैं कि अश्वघोष के जन्म के समय भारत में नाट्य-कला काफ़ी प्राचीन हो चुकी थी। १९१० ई० में त्रावणकोर में संस्कृत के तेरह प्राचीन नाटक प्राप्त हुए जिनके विषय में यह कहा जाता है कि वे भास ca ३५० ई०—जो कालिदास के प्रतिष्ठित एवं प्राचीन नाटककार थे—के हैं। अपने मालविकाग्निमित्र के उपोद्घात में कालिदास अनजाने में लेकिन प्रशंसात्मक ढंग से काल और विशेषण की सापेक्षता की दृष्टान्त-युक्त व्याख्या करते हैं; वे पूछते हैं, "क्या हम भास, सौमिल्ल और कविपुत्र ऐसे सुविख्यात ग्रंथकारों की कृतियों का तिरस्कार कर दें ? क्या श्रोतागण कभी कालिदास सरीखे नवीन कवि का सम्मान कर सकते हैं ?"

आधुनिक-काल तक मृच्छकटिक को, अन्वेषकों के अनुसार सबसे प्राचीन हिन्दू-नाटक माना जाता है। इस नाटक में लेखक के बारे में कहा गया है—जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता—कि यह शूद्रक नामक किसी राजा का लिखा है जिनके विषय में यह वर्णन मिलता है कि वे वेदों में, गणित में, हाथियों के प्रबन्ध में तथा प्रेम की कला में निपुण थे। कुछ भी हो वे नाट्य-कला के पारंगत थे। उनका नाटक सब प्रकार से उन नाटकों में से जो हमारे पास भारतवर्ष से आए हैं सबसे अधिक रोचक है; इसमें भाव और विनोद का एक चतुर समन्वय है तथा काव्यात्मक वर्णन एवं भावों की तीव्रता के उत्तम स्थल हैं।

भारतीय-नाटक के चरित्र की व्याख्या के हेतु एक टीका-ग्रंथ लिखने की अपेक्षा इसके (मृच्छकटिक) कथानक का एक संक्षिप्त वर्णन इस उद्देश्य की पूर्ति अधिक करेगा। प्रथम अंक में हम चारुदत्त से मिलते हैं जो एक समय धनी था और अब अपनी उदारता और दुर्भाग्य के कारण ग़रीब हो गया है। उसका मित्र, मैत्रेय, जो एक मूर्ख ब्राह्मण है इसमें विदूषक का नाटक करता है। चारु मैत्रेय से देवताओं के निमित्त यज्ञ करने को कहता है लेकिन वह यह कह कर इन्कार कर देता है: "इसकी उपयोगिता क्या है जब कि जिन देवताओं की तुमने उपासना की उन्होंने तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं किया। सहसा उच्च और धनी परिवार की एक स्त्री चारु के आँगन में राजा के भाई शमस्थनक जिसका दुराचार उतना ही कल्पनातीत था जितना कि चारु के चरित्र की श्रेष्ठता और जो उसका पीछा कर रहा था शरण लेने के लिए आती है। चारु उस कन्या की रक्षा करता है और शमस्यनक को बिना उसकी धमकियों की चिंता किए हुए भगा देता है। वह कन्या जिसका नाम वसन्तसेना है चारु से अपने आभूषणों की पेटारी रखने को कहती है क्योंकि कदाचित् उसके वैरी उसको उससे छीन न लें और उसे अपने रक्षक से पुनः भेंट करने का अवसर न प्राप्त हो सके। वह इससे सहमत हो जाता है, पेटारी अपने पास में रखता है और उसे उसके महल के समान घर में पहुँचा देता है।

दूसरा अंक एक प्रहसन है। एक जुआड़ी अन्य दो जुआड़ियों से भाग कर एक मन्दिर में शरण लेता है। जब वे उस मन्दिर में घुसते हैं तब वह उस मन्दिर की मूर्ति बन कर उनसे छल करता है। उसका पीछा करनेवाले वे जुआड़ी यह देखने के लिए कि वह वास्तव में पाषाण मूर्ति है या नहीं उसे कोंचते हैं लेकिन वह बिलकुल भी नहीं हिलता। वे उसे खोजना छोड़ देते हैं और अपने को मन्दिर की वेदी पर एक बाज़ी खेल कर ही संतुष्ट करते हैं। जुए का खेल इतना उत्तेजक होता है कि वह "मूर्ति" अपने को वश में न कर सकी और मूर्ति के आधार से उछल कर उसमें भाग लेने के लिए आ गए। अन्य जुआड़ी उसे पीटते हैं, वह पुनः भागता है और अन्त में वसन्तसेना जो यह पहचान लेती है कि वह चारु का पुराना नौकर है उसकी रक्षा करती है।

तीसरे अंक में चारु और मैत्रेय को एक गायन-मंडली से लौटते हुए दिखलाया जाता है। शर्विलक नामक एक चोर उसके घर में घुस आता है और उस पेटारी को चुरा

लेता है। जब चारु को उस चोरी का पता लगता है तब वह अपने को बड़ा अपमानित समझता है और वसन्तसेना के पास उस धरोहर के स्थान पर अपनी अंतिम मोतियों की माला भेज देता है।

चौथे अंक में शर्विलक उस चुराई हुई पेटारी को वसन्तसेना की नौकरानी को प्रेम के उपहार रूप में भेंट करता है। यह देखकर कि वह उसकी मालकिन की पेटारी है शर्विलक को चोर कह कर फटकारती है। वह शापेनहायर सरीखी तीक्ष्णता में उत्तर देता है :

एताहसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोः।
विश्वासंयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ॥
तस्मान्नरेण कुलशील समन्वितेन।
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः
सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्त्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं
निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ॥[1]

[1] वह नौकरानी उसे क्षमा करके उसका निराकरण करती है और वसन्तसेना उन दोनों को विवाह करने की आज्ञा देकर उसकी बातों का खण्डन करती है।

पंचम अंक के आरम्भ में वसन्तसेना चारु के घर उसके आभूषणों तथा अपनी पेटारी को वापस करने आती है। जब वह वहाँ थी तभी एक तूफ़ान आता है जिसका कि वह अत्युत्तम संस्कृत* में वर्णन करती है। उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए तूफ़ान का वेग बढ़ता है और वह उसे चारु के घर में—जैसी कि उसकी इच्छा थी—रात बिताने के लिए बाध्य कर देता है।

छठे अंक में वसन्तसेना को प्रातःकाल चारु के घर से जाते हुए दिखलाया जाता है। भूल से वह उस गाड़ी में न बैठ कर जिसे उसके लिए बुलाया गया था बदमाश शमस्थनक के रथ पर बैठ जाती है। सातवें अंक में एक अप्रधान कथा का वर्णन है जो नाटक

---

[1] शर्विलक मदनिका से कहता है कि ये स्त्रियाँ (वेश्याएँ) पुरुषों से धन प्राप्त करने के लिए उनसे मनोविनोद करती हैं तथा अन्न-वस्त्र के अभाव में रुदन करती हैं। अपने हाव-भाव आदि से ये पुरुषों के हृदय में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करा देती हैं किन्तु ये स्वयं पुरुषों का विश्वास नहीं करतीं। इसलिए उत्तम कुल और शील से युक्त पुरुषों के लिए वेश्याएँ श्मशान-पुष्प की भाँति वर्जित हैं। समुद्र की लहरों की भाँति ये स्त्रियाँ चंचल स्वभाव की होती हैं तथा इनका प्रेम उसी प्रकार क्षणिक होता है जिस प्रकार संध्या के समय आकाश में स्थित बादलों की लालिमा क्षणिक होती है। ये स्त्रियाँ पुरुषों का धन हरण करके उन्हें धनहीन बना देती हैं। फिर धनहीन होने पर ये पुरुषों को उसी प्रकार बहिष्कृत कर देती हैं जैसे तूलिका से रँगते समय रंग अलग हो जाता है। (भाव यह है कि ये स्त्रियाँ केवल स्वार्थपरायण होती हैं।)

मृच्छकटिकम् चतुर्थ अंक

*यह नियम का अपवाद है। आमतौर से हिन्दू नाटकों में स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं क्योंकि उनके लिए एक अप्रचलित भाषा से परिचित होना अनुचित समझा जाता है।

की मुख्य कथा के लिए कोई आवश्यक नहीं है। आठवें अंक में वसंन्तसेना अपने महल में जैसा कि उसे आशा थी नहीं लौटती बल्कि वह अपने वैरी के घर में यहाँ तक कि उसके हाथों में पहुँच जाती है। जब वह पुनः उसके प्रेम का तिरस्कार करती है तब वह उसका गला घोंट कर उसे ज़मीन में गाड़ देता है। तत्पश्चात् वह राजदरवार में जाकर चारु को वसन्तसेना के आभूषणों के लिए उसकी हत्या करने का दोष लगाता है।

नवें अंक में मुकदमे का वर्णन है जिसमें मैत्रेय बुद्धिहीनता से अपने स्वामी के जेब में वसन्तसेना के आभूषणों को डालकर उसे धोखा देता है। चारु को मृत्यु-दंड दिया जाता है। दसवें अंक में चारु फाँसी के लिए जाता दिखलाई पड़ता है। उसका लड़का फाँसी देनेवालों से अपने पिता के स्थान पर अपने को फाँसी देने की प्रार्थना करता है लेकिन वे इसे इन्कार कर देते हैं। अन्तिम समय पर वसन्तसेना आती है। शर्विलक ने शमस्थनक को उसे गाड़ते देखा था; उसने उसे समयानुसार औषधि सुंघा कर पुनः जीवित कर लिया। जब वसन्तसेना चारु को छुड़ाती है तब शर्विलक राजा के भाई पर हत्या का अपराध लगाता है। लेकिन चारु इस आक्षेप में सहायता करने से इन्कार कर देता है। शमस्थनक मुक्त होता है और सब लोग आनन्दित होते हैं।

चूँकि पूर्वी देशों में समय का बाहुल्य है और वहाँ पश्चिमी देशों की अपेक्षा जहाँ परिश्रम को बचाने के अनेक उपाय हैं मनुष्य प्रायः सभी काम अपने हाथ करते हैं। हिन्दू नाटकों का विस्तार हमारे आजकल के यूरोपीय नाटकों की अपेक्षा दूना है। इनमें पाँच से लेकर दस अंक तक होते हैं और प्रत्येक अंक कई दृश्यों में विभाजित होता है जिनमें एक पात्र का निष्करण और दूसरे का प्रवेश होता है। इन नाटकों में स्थान और समय की एकता का कोई ध्यान नहीं है तथा कल्पना भी सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर लेती है। इनमें प्राकृतिक दृश्यों की तो कमी है लेकिन पात्रों के वस्त्र कहीं अधिक रंगीन होते हैं। कभी-कभी जीवित पशु नाटक में प्राण का संचार करते हैं और कृत्रिम के स्थान पर प्राकृतिक का प्रदर्शन करते हैं। नाटक का प्रदर्शन एक प्रस्तावना से आरम्भ होता है जिसमें पात्र अथवा सूत्रधार नाटक के गुणों का वर्णन करता है। ऐसा प्रतीत होता है गेटे ने अपने फास्ट में प्रस्तावना रखने का विचार कालिदास से अपनाया। प्रस्तावना प्रथम पात्र का परिचय करा कर अंत होती है जो नाटक के प्रदर्शन में भाग लेता है। नाटक में आकस्मिक घटनाओं का बाहुल्य होता है और दैवी-प्रभाव प्रायः घटनाओं का मार्ग-परिवर्तन कर देते हैं। एक प्रेम-कथा तो अनिवार्य है और इसी प्रकार विदूषक भी आवश्यक है। भारतीय रंगमंच पर दुःखान्त नाटक का कभी प्रदर्शन नहीं होता। सत्य से समता रखने के लिए कथा का सुखान्त होना अनिवार्य है; तथा सच्चे प्रेम की सदैव विजय होनी चाहिए। दार्शनिक व्याख्यान का जो प्रायः काव्य में यत्र-तत्र दिखलाई पड़ता है हिन्दू नाटक में पूर्ण अभाव है। जीवन के समान नाटक की शिक्षा कर्म के द्वारा होती है शब्दों से नहीं।* गेय-काव्य और गद्य एक के बाद दूसरे विषय पात्र और उनके कर्मों की महत्ता के अनुसार आते रहते हैं। नाटक में संस्कृत उच्च वर्ग के द्वारा बोली जाती है और प्राकृत स्त्रियाँ और नीचे वर्ग के लोग बोलते हैं। इनमें वर्णनात्मक अंश अत्युत्तम हैं लेकिन चरित्र-चित्रण निम्न-कोटि का है। पात्र—जिनमें स्त्रियाँ

---

*धनञ्जय (व १००० ई०) नामक नाटक के महान् व्याख्याकार लिखते हैं, "उस साधारण बुद्धि के व्यक्ति के सम्मुख जो यह कहता है कि नाटकों से, जो वास्तव में आनन्द की उत्पत्ति करते हैं, केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है हम नतमस्तक होते हैं क्योंकि उसने नाटक में जो कुछ भी आनन्दप्रद है उससे मुख मोड़ लिया है।

भी हैं—अपना कार्य उत्तम रीति से करते हैं जिसमें न तो पाश्चात्य नाटकों के पात्रों की शीघ्रता और न सुदूर-पूर्वी देशों के पात्रों की अतिशयोक्ति मिलती है। नाटक एक परिशिष्ट से अंत होता है जिसमें नाटककार अथवा उस स्थान के इष्ट-देवता से भारत की समृद्धि के लिए प्रार्थना की जाती है।

जब से सर विलियम जोन्स ने शकुन्तला का अनुवाद किया और गेटे ने उसकी प्रशंसा की तब से हिन्दू नाटकों में वह सबसे अधिक प्रसिद्ध माना जाता है। कालिदास की स्मृति से लगी हुई अनेक किंवदन्तियों के होते हुए भी हमें उनका ज्ञान केवल उनके तीन नाटकों के आधार पर होता है। यह स्पष्ट है कि वे महाराज विक्रमादित्य (३८० ई०-४१३ ई०) के नवरत्नों में से जिन्हें उन्होंने गुप्त-साम्राज्य की राजधानी उज्जैनी में रक्खा था (जिनमें कवि, कलाकार एवं दार्शनिक थे) एक थे।

शकुन्तला सात अंकों में है जो कि कुछ गद्य और कुछ अत्यन्त सजीव पद्य में लिखा गया है। प्रस्तावना के बाद जिसमें सूत्रधार दर्शकों को प्रकृति के वैभव पर विचार करने के लिए आमंत्रित करता है नाटक एक वनस्थली के दृश्य से जिसमें एक ऋषि अपनी वन-कन्या शकुन्तला के साथ रहते हैं आरम्भ होता है। उस दृश्य की शांति रथ की तीव्र-ध्वनि से भंग होती और उस पर आरूढ़ महाराज दुष्यन्त प्रकट होते हैं। वे एक साहित्यिक गति के साथ शकुन्तला के प्रेम में पड़ जाते हैं। प्रथम अंक में वे उससे विवाह करते हैं लेकिन सहसा वे राजधानी को वापस बुला लिए जाते हैं। वे शकुन्तला को यथोचित वचन देकर कि वे अपनी सुविधानुसार शीघ्र ही वापस आवेंगे उसे छोड़ कर जाते हैं। एक ऋषि दुःख से व्याकुल उस कन्या को यह बतलाते हैं कि जब तक वह दुष्यन्त की दी हुई अँगूठी को अपने पास रक्खेगी तब तक वह उसे याद रक्खेंगे; अकस्मात् स्नान करते हुए वह उस अँगूठी को खो देती है। यह जब मातृत्व पद को प्राप्त करने के निकट होती तब वह राज-दरबार में यह पता लगाने जाती है कि क्या महाराज उसको उन व्यक्तियों के समान भूल गए हैं जिनके प्रति स्त्रियाँ कृपालु होती हैं। वह उन्हें पुनः स्मरण दिलाना चाहती है।

शकुन्तला—णं एक्कदिअहे वेदसलदामण्डवे णलिणीवत्ताभाअण गदं उदअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसी।

राजा—श्रृणुमस्तावत्।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे सुत्तकिदओ दीर्घापाङ्गो णाम मिअ पोदओ उवट्ठिदो। तदो तुए अअं दाव पढ़मं पिअदु त्ति अणुकम्पिण उवच्छन्दिदो उदएण। ण उण सो अपरिचिदस्स दे हत्थादो उदअं उवगतो पादुं। पच्चा तस्सिं ज्जेव उदए मए गहिदे किदो तेण पणओ। एत्थन्तरे विहसिअ तुए भणिदं, सव्वो सगणे वीससदि, जदो दुवे वितुम्हे आरण्णआओ त्ति।

राजा—आभिस्तावदात्मकार्य्यप्रवर्त्तिनीभिर्मधुराभिरनृतवाग्भिराकृष्यन्ते विषयिणः।

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां
संदृश्यते, किमुत याः परिबोधवत्यः।
प्रागन्तरीक्षगमनात् स्वमपत्यजात
मन्यद्विजैः परभृताः किल पोषयन्ति ॥[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम्

---

[1] शकुन्तला—एकरोज वेत्रलता मण्डप में आपके हाथों कमलपत्र के दोने में जल था।

राजा—हम सुन रहे हैं।

शकुन्तला—उसी समय मेरा कृत्रिम पुत्र दीर्घापाङ्गो नामक मृगशावक वहाँ आ पहुँचा। इस पर दयावश आप 'पहले यही जल पिये' ऐसा सोचकर उसे जल पीने के

निराश एवं तिरस्कृत शकुन्तला एक रहस्यमय ढंग से उठा कर एक वन में ले जाई जाती है जहाँ वह अपने पुत्र भरत जिसके वंशजों को महाभारत युद्ध में भाग लेना था, को जन्म देती है। इसी बीच एक मछुवा उसकी अँगूठी पाता है और उसमें राजा की मुद्रा देखकर उसे दुष्यन्त के पास ले जाता है। उसको देखकर दुष्यन्त के अन्तर में शकुन्तला की स्मृति जागृत होती है और वे उसे सब तरफ खोजते फिरते हैं। अपने वायुयान में हिमालय पर उड़ते हुए दैवगति से वे उसी आश्रम में उतरते हैं जहाँ शकुन्तला अपना जीवन दुःख में नष्ट कर रही थी। वे उस बालक भरत को कुटी के सामने खेलता हुआ देखते हैं और उसके माता-पिता के प्रति स्पर्धा के भाव प्रकट करते हैं।

स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै। (निश्वस्य)
आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासे
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा कलुषीभवन्ति [१]

शकुन्तला प्रकट होती है; राजा उससे क्षमा की भिक्षा माँगते हैं जो उन्हें मिलती है और वे शकुन्तला को अपनी महारानी बनाते हैं। नाटक एक विचित्र परन्तु लाक्षणिक प्रार्थना से अन्त होता है।

प्रवर्त्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥[२]

अविश्वसनीय आकस्मिक घटनाओं से परिवर्तित होते हैं तथा उन कृतियों का जो लक्षण के अनुसार, वे माध्यम हैं जिनसे नाटक का अर्थ प्रकट होता है, अत्यधिक

लिए राजी करने लगे, लेकिन उसने आपको अपरिचित समझ जल नहीं पिया। इसके बाद जब मैंने वह जल ले लिया, तो वह मृगशावक स्वयं मुझसे जल पिलाने की प्रार्थना करने लगा था। इस पर आपने हँसकर कहा था कि—"सब लोग अपने आत्मीय पर विश्वास करते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो न!"

राजा—स्त्रियाँ अपना काम बनाने के लिए ऐसी मिथ्या और मधुर बातें कहकर विषयी लोगों को ही अपनी ओर आकर्षित कर सकती हैं, हम जैसों को नहीं।

मनुष्य जाति से भिन्न पशु-पक्षी आदि जाति की स्त्रियों में भी स्वाभाविक चतुरता देखी जाती है, फिर सब विषयों में बुद्धि रखने वाली मनुष्य जाति की स्त्रियों की बात ही क्या कहनी है। कोकिलायें उड़ने की शक्ति उत्पन्न होने के पहले ही अपने बच्चों का अन्य पक्षी (कौए) के द्वारा पालन-पोषण करा लेती हैं।

[१] राजा—इस बच्चे को प्यार करने के लिए बड़ी इच्छा हो रही है। (ठण्डी साँस लेकर) अकारण हँसने से जिसके नये-नये दाँत कभी-कभी दिखायी दे जाते हैं, तोतली बोली में जिसके वाक्य बड़े मीठे लगते हैं और गोद में आने के लिए जो प्रार्थना कर रहा है, इस प्रकार के पुत्र या पुत्री को गोद में लेने से भाग्यवान् लोगों ही के अंग उन बच्चों के अंग की धूलि से मलिन होते हैं—अभागों के नहीं।

[२] राजे प्रजागण की भलाई की चेष्टा करें, वेद जिसकी महिमा गाते हैं, वह सरस्वती (देववाणी—संस्कृत भाषा) कभी विनष्ट न हो—उसे संसार के लोग त्यागें नहीं और सर्वशक्तिमान् महादेव जो हमारे पुनर्जन्म को निवृत्त कर दें।

विवरण एवं वार्तालाप उनके गुण हैं उनकी रचनात्मक कल्पना, उनके कोमल भाव, उनकी भावात्मक-कविता तथा प्रकृति के सौंदर्य एवं भयावह स्वरूप के प्रति उनकी सहृदय पुकार। कला के राष्ट्रीय प्रतीकों के विपय में कोई विवाद नहीं हो सकता; हम उन्हें अपने प्रादेशिक दृष्टिकोण से और अधिकतर अनुवादों के द्वारा ही उन्हें देख सकते हैं। यह ही पर्याप्त है कि गेटे जो कि प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय सीमाओं को पार करने वाले योरोपीय विद्वानों में सबसे अधिक योग्य थे ने शकुन्तला के परायण से अपने जीवन के सबसे गंभीर अनुभवों में गणना की। वे कृतज्ञता के साथ लिखते हैं :

Wouldst thou the young year's blossoms, and the fruits of its decline,

And all by which the soul is charmed, enraptured, feasted, fed,

Wouldst thou the Earth and Heaven itself in one sole name Combine ?

I name thee O Shakuntala ! and all at once is said.

(अर्थात् : तुम जो नवीन वर्ष के पुष्पों तथा उसके अंत के फल के समान हो, जिसमें आत्मा को मुग्ध, आनन्दित, एवं मुक्त करने के सभी गुण विद्यमान हैं जिसके एक नाम में पृथ्वी और स्वर्ग दोनों का समन्वय है; मैं तुम्हारा नाम 'शकुन्तला' रखता हूँ जिससे सब कुछ तुरन्त ही व्यक्त हो सकेगा).

कालिदास के वाद नाटक का ह्रास तो नहीं हुआ लेकिन उसने फिर कभी शकुन्तला या मृच्छकटिक की उत्पत्ति नहीं की। महाराज हर्ष ने—यदि हम उत्साह-पूर्ण परम्परा पर विश्वास करें—तीन नाटकों की रचना की थी जो रंगमंच पर अनेक शताब्दियों तक खेले जाते रहे। उनके सौ वर्ष वाद भवभूति ने, जो वरार के ब्राह्मण थे, तीन अद्भुत एवं रोमांचकारी नाटकों की रचना की जिनकी गणना भारतीय नाट्य-कला के इतिहास में केवल कालिदास के वाद ही मानी जाती है। उनकी शैली इतनी विस्तृत एवं अस्पष्ट थी कि उन्हें थोड़े से ही दर्शकों से संतुष्ट रहना पड़ता था—दर्शकों की इस अभिरुचि का उन्होंने वाद में विरोध किया। उन्होंने लिखा, "उन व्यक्तियों का ज्ञान जो हमारी आलोचना करते हैं कितना कम है। मेरे नाटकों का आनन्द उनके लिए नहीं है। मुझे आशा है कि मेरी रुचि के अनुरूप रुचि वाला कोई व्यक्ति होगा और न होगा तो भविष्य में होगा क्योंकि काल अनन्त है और विश्व का विस्तार महान् है।"

यद्यपि हम भारतीय नाट्य-साहित्य को ग्रीस अथवा ऐलिज़ाबेथ-काल के इंगलैंड के साहित्य के वरावर नहीं रख सकते तथापि उसकी तुलना उचित रूप से चीन या जापान के नाटकों से की जा सकती है। कृत्रिमता जो वर्तमान रंगमंच की विशेषता है को खोजने के लिए हमें भारत की ओर दृष्टि करना आवश्यक नहीं है। यह कोई नित्य-गुण नहीं है वरन् काल की एक आकस्मिक घटना है जो भविष्य में उसके विरोधी गुणों में परिवर्तित हो सकती है। भारतीय नाटकों के अलौकिक चरित्र हमारी रुचि के उतने ही विपरीत हैं जितना कि वुद्धिमान योरीपिडीज़ का दैवी हस्तक्षेप; लेकिन यह भी इतिहास की एक रीति है। हिन्दू नाटक की त्रुटियाँ हैं उनके पात्रों की कृत्रिम वोलचाल जो अनुप्रास और वाक्शैली के अहंकार से नष्ट हो जाती है, एक ही रंग का चरित्र-चित्रण जिसमें प्रत्येक व्यक्ति या तो पूर्ण रूपेण अच्छा है या वुरा, असम्भव कथानक भी उसकी त्रुटियां हैं।

५. गद्य और पद्य

भारत में उनकी एकता; कल्पित कहानियाँ; इतिहास; कथाएँ; छोटे कवि; प्रादेशिक-भाषा-साहित्य का उदय; चण्डीदास; तुलसीदास; दक्षिण के कवि; कबीर।

भारतीय साहित्य में गद्य का अस्तित्व अधिकतर नवीन है इसे हम यूरोप निवासियों के सम्बन्ध से उत्पन्न साहित्य की भ्रष्टता कह सकते हैं। हिन्दुओं की सहज काव्यात्मक आत्मा के लिए जो कुछ भी लिखने योग्य वस्तु थी उसका वर्ण्य-विषय काव्यात्मक था और तदनुसार उसको व्यक्त करने की शैली भी काव्य सम्बन्धी (पद्यात्मक) थी। चूँकि उनकी यह धारणा थी कि साहित्य का पाठ ज़ोर से होना चाहिए और वे यह जानते थे कि यदि कभी भी उनकी कृति का प्रचार होगा और वह जीवित रह सकेगी तो वह लिखित प्रचार की अपेक्षा मौखिक प्रचार से होगी अतएव उन्होंने अपनी रचनाओं को पद्य का अथवा सूत्र का रूप दिया जिससे कि पाठ करना अथवा कण्ठस्थ करना सहज हो। इसके फलस्वरूप समस्त भारतीय साहित्य की रचना पद्य में की गई। विज्ञान, वैद्यक, धर्मशास्त्र एवं कला सम्बन्धी जितने भी ग्रंथ हैं वे सभी प्रायः पद्य अथवा अनुप्रास युक्त छन्दों अथवा दोनों में हैं। यहाँ तक कि व्याकरण और शब्द कोष भी पद्य में परिवर्तित हो गए। कल्पित कथाओं और इतिहास को जो पाश्चात्य देशों में अपने गद्य-स्वरूप से ही सन्तुष्ट रहते हैं भारत में एक स्वरात्मक एवं पद्यवद्ध स्वरूप मिला।

हिन्दू साहित्य में शिक्षाप्रद कल्पित कहानियों का विशेष वाहुल्य है। वास्तव में उन कहानियों में से जो अन्तर्राष्ट्रीय सिक्कों के समान संसार की सीमाओं का अतिक्रमण कर चुकी हैं अधिकतर शायद भारतवर्ष की ही हैं।* वौद्ध-धर्म का प्रचार उस समय सवसे अधिक हुआ जव वुद्ध के जन्म एवं युवावस्था की जातक कहानियाँ जनता में सवसे अधिक प्रचलित थीं। भारतवर्ष में सवसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक पंचतन्त्र है (Ca. 500 A. D.); यह पुस्तक उन अनेक कहानियों का स्रोत है जिन्होंने यूरोप और एशिया को आनन्दित किया। हितोपदेश, पंचतंत्र का तदनुकूल संकलन है। हिन्दुओं ने इन दोनों की गणना नीति-शास्त्र—अर्थात् राजनैतिक और नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा—के अन्तर्गत की है। प्रत्येक कथा किसी नैतिक-सिद्धान्त, नैतिक आचरण अथवा शासन-सम्वन्धी सिद्धान्त को वतलाने के लिए कही गई है। प्रायः ये कहानियाँ यह दिखलाती हैं कि वे एक राजा के पुत्रों को शिक्षा देने के लिए किसी वुद्धिमान ब्राह्मण द्वारा लिखी गई थीं। अक्सर वे निम्नतम पशुओं को अत्यन्त सूक्ष्म दर्शन की शिक्षा देने के लिए प्रयोग करते हैं। उस वन्दर की कथा जो जुगनू की रोशनी में अपने को गरम कर रहा था और किसी चिड़ियाके द्वारा अपनी त्रुटि वतलाए जाने पर उसने उसकी हत्या कर दी उस विद्वान के भाग्य का जो जन समुदाय के किसी प्रचलित भ्रम का उद्घाटन करता है अत्यन्त उत्तम उदाहरण है।†

---

* सर विलियम जोन्स का कहना है कि हिन्दुओं का तीन आविष्कारों पर अधिकार है: शतरंज का खेल, दशमलव प्रणाली एवं कहानियों के माध्यम से शिक्षा देने की प्रणाली।

† पौर्वात्य विद्वानों के वीच इस वात को लेकर कि ये कथाएँ भारत से योरप में गई अथवा योरप से भारत में आई एक उत्साहपूर्ण युद्ध हुआ। यह विवाद हम उन लोगों के लिए छोड़ देते हैं जिन्हें इसके लिए अवकाश है। कदाचित् ये भारत और योरप दोनों जगह मिस्र से मेसोपोटामिया और क्रीट होकर गईं। लेकिन अरेवियन नाइट्स पर पंचतंत्र के प्रभाव के विषय में कोई संदेह नहीं है।

भारत में ऐतिहासिक-साहित्य वृत्तान्त विवरण अथवा विशद रोमांचकारी कथाओं के स्तर से ऊपर उठने में कभी भी सफल नहीं हुआ। कदाचित् देश और काल की मायिक घटनाओं के प्रति तिरस्कार की दृष्टि से, कदाचित् लिखने की अपेक्षा मौखिक शिक्षा की परम्परा के कारण हिन्दुओं ने इस प्रकार के ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की उपेक्षा की जिनकी हीरोडोट्स अथवा थ्यूसीडाइडिस, प्लूटार्च या टैसीटस्, गिवन या वाल्टेयर से समानता की जा सके। उन्होंने स्थान और काल का—प्रसिद्ध व्यक्तियों के वारे में भी— इतना सूक्ष्म विवरण किया है कि हिन्दू विद्वानों ने कालिदास सरीखे महान् कवि का जीवन-काल भी एक हज़ार वर्ष के आसपास वतलाया। वर्तमान-काल तक हिन्दू जाति ने अपने रीति-रिवाज़, नैतिक-सिद्धान्तों और विश्वास के अपरिवर्तनशील संसार में रहते हुए कभी भी उन्नति का स्वप्न नहीं देखा और न अपने प्राचीन युग की चिंता की। वह अपने महाकाव्यों को सत्य-इतिहास मानने और प्राचीन कथाओं को वास्तविक-जीवन-चरित्र समझने में संतुष्ट था। जव अश्वघोप ने वुद्ध-चरित्र में वुद्ध का जीवन लिखा तो वह एक प्रकार की कथा थी इतिहास नहीं था; और जव, पाँच सौ वर्ष वाद, वाण ने हर्ष-चरित की रचना की तो वह पुनः उस महान् सम्राट् के प्रमाणित जीवन-चरित की अपेक्षा उनके चरित का आदर्शीकरण था। राजपूताना के अपने प्रदेश के वृत्तान्त अधिकतर देशभक्ति के अभ्यास प्रतीत होते हैं। केवल एक हिन्दू लेखक इतिहासकार के सच्चे कार्य को समझ सका। राजतरंगिणी के लेखक कल्हन, अपने विषय में इस प्रकार लिखते हैं। "वह उत्तम वुद्धि का कवि ही प्रशंसा योग्य है जिसके शव्द, प्राचीन काल के वर्णन में एक न्यायाधीश के वाक्य के समान, प्रेम और द्वेष दोनों से मुक्त रहते हैं। विन्टरनिट्ज कहते हैं कि "वे एक ही महान् इतिहासकार थे जिन्हें भारत ने जन्म दिया है।"

मुसलमानों में इतिहास की चेतना अधिक मात्रा में थी और वे भारत में अपनी कृत्तियों के कुछ प्रशंसनीय लिखित प्रमाण गद्य में छोड़ गए हैं। अलवरूनी के भारत की जातियों से सम्वन्धित अध्ययन और वावर के स्वतः के इतिहास (Memoirs) के विपय में हम पहले कह चुके हैं। अकवर के समकालीन मुहम्मद काज़िम फिरिश्ता नामक एक अत्युत्तम इतिहासकार थे जिनका भारत का इतिहास मुसलमान-कालीन घटनाओं के लिए हमारा सवसे अधिक विश्वसनीय मार्गनिर्देशक है। इनसे कुछ कम अपक्षपाती अकवर के प्रधान मंत्री अथवा उनके राजनैतिक विश्वस्त अनुचर अवुलफ़ज़ल थे जिन्होंने अपने स्वामी की शासन प्रणाली को आगामी संतानों के हेतु आइने-अकवरी में लिपि-वद्ध किया तथा अपने स्वामी के जीवन का अकवर-नामे में सहृदयता से वर्णन किया। अकवर ने उनके अनुराग का यथोचित उत्तर दिया और जव अकवर के पास यह समाचार पहुँचा कि जहाँगीर ने वज़ीर की हत्या कर दी है तव अकवर ने दुःख से व्याकुल होकर कहा, "अगर सलीम (जहाँगीर) वादशाह होना चाहता था तो वह मेरी हत्या कर सकता था और अवुलफ़जल को छोड़ सकता था।"

कल्पित कथाओं और इतिहास के मध्य पद्यात्मक कहानियों के वे वृहत्-संकलन हैं जिन्हें परिश्रमी कवियों ने कल्पनाप्रेमी भारतीय-आत्मा के आनन्दार्थ एकत्रित किया था। ईसा की पहली शताव्दि के लगभग गुणाढ्य नामक एक व्यक्ति ने एक हज़ार श्लोकों में वृहत्कथा लिखी और एक हज़ार वर्ष वाद सोमदेव ने कथासरित्सागर नामक २१,५०० श्लोकों की एक वृहत् सरिता की उत्पत्ति की। उसी ग्यारहवीं शताव्दि में एक चतुर कहानी लेखक ने जिसका व्यक्तित्व अभी तक अनिश्चित है अपनी वेताल-पंचविंशतिका (वेताल की पच्चीस कहानियाँ) के लिए महाराज विक्रमादित्य को प्रति-

वर्ष एक योगी से बहुमूल्य रत्न सहित एक फल की प्राप्ति दिखलाते हुए एक ढाँचा तैयार किया। महाराज योगी से पूछते हैं कि वे किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकते हैं; योगी महाराज से एक फाँसी के वृक्ष पर लटकते हुए एक शव को लाने की आज्ञा देता है लेकिन उन्हें वह पहले से ही सचेत कर देता है कि वे उस शव के बोलने पर कुछ उत्तर न दें। शव में एक वेताल रहता था जो जैसे ही राजा चूकते थे वैसे ही उन्हें एक कहानी सुनाकर मुग्ध कर लेता था। कथा के अन्त होने पर वेताल राजा से एक प्रश्न करता जिसका कि वे योगी के आदेश को भूल कर उत्तर दे देते हैं। पच्चीस वार महाराज उस शव को योगी के पास लाने की तथा स्वयं चुप रहने की चेष्टा करते हैं और चौबीस वार में वे वेताल की कथा में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वे अन्त में किए गए प्रश्न का उत्तर दे देते हैं। वह एक अत्युत्तम फाँसी देने का वृक्ष था जिस पर कि अनेक कहानियाँ लटक सकीं।

इस बीच में कविता लिखनेवाले कवियों की कोई कमी नहीं थी। अबुलफज़ल अकवर के दरवार में "हज़ारों कवियों" का वर्णन करते हैं; छोटी-छोटी राजधानियों में सैकड़ों कवि थे और निस्संदेह प्रत्येक घर में भी दर्जनों कवि थे।[1] इनमें सबसे प्राचीन और महान् कवियों में एक भर्तृहरि थे, जो संन्यासी, व्याकरणी और प्रेमी तीनों थे और जिन्होंने धर्म के पाश में आने से पूर्व अपनी आत्मा को प्रेम से शिक्षित किया था। उन्होंने इनका एक लिखित प्रमाण अपने "श्रृंगार-शतक" में छोड़ा है। वे लिखते हैं, "यूयं वयं वयं यूयं इत्यासीन् मतिर्आवयोः। तत्किं जातमधुना यूयं यूयं वयं वयं।" (अर्थात् हम दोनों यह समझते थे कि तुम हम थे और हम तुम थे; अब यह क्यों हुआ कि तुम 'तुम' हो और मैं 'मैं' हूँ।) उन्होंने अपने आलोचकों की कभी चिंता नहीं की और उनसे कहा, "एक अज्ञानी को सन्तुष्ट करना सहज है, उससे भी सहज है एक विद्वान् को सन्तुष्ट करना परन्तु अल्पज्ञानी व्यक्ति को सन्तुष्ट करने में ब्रह्मा भी असमर्थ हैं।" जयदेव के **गीत-गोविन्द** में हिन्दू की कामुकता धर्म की ओर झुकती है और राधा और कृष्ण के वासनामय प्रेम को स्वरबद्ध करती है। यह पूर्ण-वासना का काव्य है लेकिन भारतवर्ष श्रद्धा के साथ इसकी व्याख्या आत्मा की परमात्मा के प्रति विह्वलता का निरूपण करने वाली एक रहस्यवादी एवं प्रतीकात्मक रचना के रूप में करता है—एक ऐसी व्याख्या जो केवल इन अपरिवर्तनशील धर्मोपदेशकों के समझ में आ सकती है जिन्होंने **सौंग आफ़ सौंग्स** के लिए ऐसे पवित्र शीर्षकों की रचना की।

ग्यारहवीं शताब्दि में प्रादेशिक भाषाओं ने साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में साहित्य की प्राचीन परन्तु अप्रचलित भाषा (संस्कृत) के बीच घुसना आरम्भ किया जैसा कि उनको एक शताब्दि बाद यूरोप में करना था। सबसे पहला महान् कवि जिसने लोगों में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया चन्दबरदाई थे जिन्होंने हिन्दी में साठ

---

[1] कविता अब महाकाव्य-काल की अपेक्षा विषयगत कम हो गई थी और उसमें धर्म और प्रेम की बुनावट अधिक हो गई थी। छंद जो महाकाव्यों में अधिक स्वतंत्र एवं ढीले थे जो पंक्ति की लम्बाई के अनुसार घटते-बढ़ते रहते थे तथा जिनमें नियम की व्यवस्था अंतिम चार या पाँच शब्दों में ही अपेक्षित थी अब अधिक विभिन्न एवं बद्ध हो गए थे। काव्यरचना में हजारों उलझनें पैदा कर दी गई थीं जो अनुवाद करने पर हट जाती हैं; शब्द और शब्द-समुदाय की कृत्रिम रचना शैली की वृद्धि हो गई और स्वर सामंजस्य अंत के शब्दों की जगह बीच में भी होने लगा। काव्य-कला के कठोर नियम बनाए गए और जैसे-जैसे काव्य के विषय में ह्रास हुआ उसी प्रकार काव्य का रूप अधिक सूक्ष्म होता गया।

सर्गो का एक ऐतिहासिक काव्य लिखा जिसका कि अन्त उनकी मृत्यु के कारण हुआ। आगरा के अंध-कवि सूरदास ने कृष्ण के जीवन और उनकी लीला पर ६०,००० पद्यों की रचना की; कहा जाता है कि इसमें कृष्ण ने स्वतः उनकी सहायता की; वे उनके लेखक बन गए और जितना कि कवि बोल नहीं सकते थे उससे शीघ्र वे लिखने लगे। इसी बीच चण्डीदास नामक एक निर्धन पुजारी बेटरिस के समान एक कृषक-कन्या के निमित्त दान्ते के समान गीतों की रचना करके उसे रोमांचकारी भावों के साथ आदर्श की कोटि में रखते हुए, उसे देवत्व के प्रतीक के रूप में उठाते हुए तथा अपने प्रेम को ईश्वर में लय होने की स्वेच्छा का रूपक देते हुए बंगाल के हृदय पर आघात कर रहे थे। इसी बीच उन्होंने बंगाली-भाषा का साहित्यिक-भाषा के रूप में प्रयोग करना आरम्भ किया। "मेरी प्रेमिका! मैंने तुम्हारे चरणों में शरण ली है। जब तक मैं तुम्हें नहीं देखता मेरे मन को शांति नहीं मिलती।...... मैं तुम्हारी सुन्दरता और मुग्ध करने की शक्ति का विस्मरण नहीं कर सकता—और फिर भी मेरे हृदय में कोई इच्छा नहीं है।" अपने साथी ब्राह्मणों द्वारा इस बात पर बहिष्कृत किए जाने पर कि वे जनता पर कलंक लगा रहे हैं उन्होंने उनको पुनः जाति में मिलाने के सार्वजनिक यज्ञ में रामी के प्रति अपने प्रेम का परित्याग करना स्वीकार कर लिया; लेकिन जब यज्ञ के बीच उन्होंने भीड़ में रामी को देखा तब उन्होंने जाति में मिलना अस्वीकार कर दिया—और वे उसके समक्ष जाकर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास हैं जो लगभग शेक्सपियर के समकालीन थे। उनके माता-पिता ने उन्हें इसलिए त्याग दिया था कि उनका जन्म अशुभ नक्षत्र में हुआ था। उन्हें एक वनवासी साधु ने अपने दत्तक-पुत्र के रूप में अपनाया और उन्हें राम की प्राचीन कथा की शिक्षा दी। उन्होंने विवाह किया और अपने पुत्र की मृत्यु होने पर वे वन में ध्यान और तपस्या का जीवन व्यतीत करने चले गए। वहाँ और बनारस में उन्होंने अपने धार्मिक महाकाव्य, **रामचरितमानस** की रचना की जिसमें उन्होंने राम की कथा फिर से बतलाई और भारत को उन्हें सर्वश्रेष्ठ एवं एकदेव के रूप में प्रस्तुत किया। तुलसीदास का कथन है, "भगवान् केवल एक हैं और वे हैं राम जो स्वर्ग और पृथ्वी के रचयिता हैं तथा मनुष्यमात्र के मुक्तिदायक हैं.....अपने भक्तों के लिए राम, जो भगवान् हैं ने राजा के रूप में अवतार लिया और हमारी शुद्धि करने के लिए एक साधारण मनुष्य का जीवन व्यतीत किया।" केवल थोड़े से यूरोप निवासी **रामचरितमानस** को मूल हिन्दी भाषा में पढ़ सके हैं; उनमें से एक की यह धारणा है कि यह ग्रंथ तुलसीदास के लिए यह प्रमाणित करता है कि वे "सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सर्व प्रमुख व्यक्ति हैं।" हिन्दुस्तान के निवासियों के लिए यह काव्य धर्म और नैतिकता की बाइबिल है। गाँधी कहते हैं, "मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानता हूँ।"

इस बीच में दक्षिण में भी काव्य-रचना हो रही थी। तुकाराम ने मराठी-भाषा में ४६०० धार्मिक गीतों की रचना की जो आज भी भारतवर्ष में उतना ही प्रचलित है जितने कि डैविड के शामृस (Psalms) यहूदी अथवा ईसाई धर्म में प्रचलित है। उनकी पहली स्त्री के मरने पर उनका विवाह एक कर्कशा स्त्री से हुआ और वे एक दार्शनिक हो गए। उन्होंने लिखा, "मोक्ष को प्राप्त करना कोई कठिन नहीं है क्योंकि वह सरलता से हमारी पीठ की गठरी में पाया जा सकता है।" लगभग ईसा की दूसरी शताब्दि में मदुरा तमिल साहित्य का केन्द्र हो गया। वहाँ पांड्य राजाओं की क्षत्र-छाया में एक **संगम** अथवा कवियों और समालोचकों के दरबार की स्थापना हुई जिसने फ्रेंच अकेडेमी

के समान भाषा के विकास की व्यवस्था की, लोगों को सम्मान-पत्र बाँटे तथा पारितोषिक प्रदान किए।

तिरुवल्लवर-नामक एक अंत्यज-जुलाहे ने तमिल के सबसे कठिन छन्द में कुर्रल नामक एक धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथ की रचना की जिसमें उसने नैतिक एवं राजनैतिक आदर्शों की व्याख्या की। परम्परा से यह प्राप्त होता है कि जब संगम के सदस्यों ने, जो सब ब्राह्मण थे, इस परिआ के काव्य की सफलता देखी तब उन सबने डूब कर आत्म-हत्या कर ली; लेकिन किसी भी अकादमी के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

हम लोगों ने, यद्यपि यह उनके ऐतिहासिक स्थान के अनुसार नहीं है, मध्यकालीन भारत के सबसे महान् गीतकार को अन्त में वर्णन करने के लिए रख छोड़ा है। कबीर ने, जो बनारस के जुलाहे थे, हिन्दू और इस्लाम धर्म की एकता के कार्य के लिए अपने को तैयार किया; बतलाया जाता है कि उनके पिता एक मुसलमान थे तथा उनकी माता एक अविवाहित ब्राह्मण-स्त्री थीं। धर्मोपदेशक श्री रामानन्द से प्रभावित होकर वह राम के भक्त हो गए; उन्होंने राम की एक सर्वव्यापी ईश्वर के रूप में कल्पना की (जैसा कि तुलसीदास ने भी किया) और वे एक ऐसे सम्प्रदाय की जिसमें न मन्दिर हैं, न मस-जिद हैं, न मूर्ति है, न जाति है न खतना है लेकिन सिर्फ एक ईश्वर ही है की व्याख्या करने के लिए अत्यन्त उत्कृष्ट सौंदर्य से भरी कविताओं की रचना करने लगे :

अलह रांम जीऊँ तेरें नांई,
बंदे ऊपरि मिहर करौ मेरे सांईं॥
क्या ले माटी भुंइ सूँ मारें, क्या जल देह न्हवायें।
जोर करै मसकीन सतावै, गुन ही रहै छिपायें।
क्या तू जू जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नांयें।
रोजा करें निमाज गुजारें, क्या हज कावे जांयें।
ब्रांह्मण ग्यारसि करै चौबीसौं, काजी महरम जांन।
ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समान।
जौर खुदाइ मसीति बसत हैं, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किन हूँ न हेरा।
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकांमां।
दिल ही खोजि दिलैदिल भीतर, इहां रांम रहिमानां।
जेतीं औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा।
कबीर पंगुड़ा अलह रांम का, हरि गुर पीर हमारा।

(कबीर ग्रन्थावली)

ब्राह्मणों को इसका धक्का लगा; उन्होंने उन्हें पथभ्रष्ट करने के लिए (ऐसी कथा है) उनके पास एक वेश्या को भेजा लेकिन उन्होंने उसे भी अपने धर्म में परिवर्तित कर लिया। यह सरल इसलिए था कि उनके साथ किसी प्रकार की धार्मिक रूढ़ि नहीं थी, उनमें केवल उत्कृष्ट धार्मिक-भावना थी।

अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान,
सहज समाधें सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम॥
गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कँवल बिगासा।
भागाभ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा॥

मृतक उठया धनक कर लीये, काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयांनां, सोवत थैं जब जागा॥
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जांनि मिठाई॥
पहुप बिना एक तरुवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो परया॥

उन्होंने अवतार वाद के सिद्धान्त को अपनाया जो उनके चारों तरफ़ वातावरण में था और एक हिंदू के समान जन्म और मृत्यु की शृंखला से मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। उनके नैतिक-सिद्धान्त संसार में सबसे सरल थे; सत्य का आचरण करो और अपने केहुँनी के पास सुख की प्राप्ति करो।

जल बिच मीन पियासी।
मोहिं सुनि आवत हाँसी॥
घर में बसति घरी नहिं सूझै बाहर खोजन जासी।
मृग की नाभि माँहि कस्तूरी, बन-बन फिरत उदासी॥
आतम-ग्यान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सहज मिले अविनासी॥

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ,
भूलै भरम दुनीं कत बाहौ।
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया।
आतमरांम न चीन्हें संतो, क्यूं रमि लै रांम राया॥
लागैं प्यास नीर सों पीवै, बिन लागैं नहीं पीवै।
खोजैं तत मिले अविनासी, बिन खोजै नहिं जीवै॥
कहै कबीर कठिन यह करणीं, जैसी षंडे धारा।
उलटी चाल मिलै पर ब्रह्म को, सो सतगुरु हमारा॥
(कबीर ग्रन्थावली)

उनके विषय में यह कथा है कि उनकी मृत्यु के उपरांत हिन्दू और मुसलमानों में उनके शव के लिए झगड़ा हुआ और इस पर विवाद हुआ कि उन्हें जलाया जाय अथवा दफ़नाया जाय। लेकिन जब यह विव.द चल/ ही रहा था तब किसी व्यक्ति ने उनके ऊपर से कफ़न हटाया और वहाँ फूलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। फूलों के उस ढेर के एक भाग को हिन्दू लोगों ने बनारस में जलाया और शेष को मुसलमानों ने दफ़न किया। उनकी मृत्यु के बाद उनके पद प्रत्येक व्यक्ति के मुख से सुनाई देने लगे; उनसे उत्साहित होकर नानक नामक एक सिक्ख ने अपने मज़बूत सम्प्रदाय की स्थापना की; अन्य व्यक्तियों ने उस गरीब जुलाहे की एक देवता के रूप में स्थापना की। आज दो छोटे-छोटे सम्प्रदाय जो परस्पर वैमनस्य से एक दूसरे से अलग हैं उस कवि के सिद्धान्तों का जिसने हिन्दू और मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया था अनुकरण करते हैं तथा उसके नाम का पूजन करते हैं। इनमें से एक सम्प्रदाय है हिन्दू और दूसरा है मुसलमान।

अध्याय २१

भारतीय कला

१. साधारण कलाएं

भारतीय कला का महान युग; भारतीय कला की अद्वितीयता; भारतीय कला का मिट्टी, धातु, काष्ठ, हाथी दाँत, आभूषण और वस्त्र उद्योग से सम्बन्ध।

भारतीय सभ्यता के हर पहलू की तरह ही जब हम भारतीय कला पर दृष्टि डालते हैं तो उसकी प्राचीनता एवं सतर्कता पर चकित रह जाते हैं। मोहेनजोदाड़ो में जो अवशेष मिलते हैं वे सभी उपयोगी ही नहीं हैं। उन अवशेषों में चूने का पत्थर, दाढ़ी रखे हुए पुरुष (महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह पुरुष सुमेरिया के निवासियों की तरह थे), स्त्रियों और पशुओं की पकी मिट्टी की मूर्तियां, माला तथा दूसरे गहने और बहुत सुन्दर चमक से युक्त सोने के आभूषण आदि हैं। एक मुहर में हल्के उभार के साथ एक बैल इतने ओजस्विता के साथ बनाया हुआ है कि उसे देखकर दर्शक बरबस सोचता है कि कला की प्रगति नहीं होती अपितु वह अपना रूप बदलती चलती है।

उस समय से आज तक, पाँच हज़ार वर्ष के परिवर्तनों से गुजरते हुए भारत सैकड़ों कलाओं में विलक्षण प्रकार के सौन्दर्य का सृजन करता आ रहा है। यह रेकार्ड टूटा हुआ एवं अपूर्ण है—इसलिए नहीं कि भारत कभी इस क्षेत्र में निष्क्रिय था, बल्कि इसलिए कि मुसलमानों की युद्धवादी और मूर्ति तोड़ने-फोड़नेवाली उन्मत्तता ने अगणित सर्वोत्तम भवन एवं मन्दिर नष्ट कर डाला। अन्य भवनों तथा मन्दिरों की रक्षा गरीबी के कारण न की जा सकी। पहली ही नजर में हम इस कला के आनन्द का अनुभव न कर पायेंगे, इस कला का संगीत हमें विलक्षण प्रतीत होगा, इसकी रंगसाजी धुँधली लगेगी, इसकी भवन निर्माण कला अव्यवस्थित दिखायी पड़ेगी और इसकी मूर्ति कला असंगत लगेगी। हमें पग-पग पर यह सोचना पड़ेगा कि हमारी रुचि हमारी स्थानीय एवं सीमित परम्पराओं तथा परिवेश की देन है जिसमें त्रुटि का होना स्वाभाविक है। विदेशी राष्ट्रों और उनकी कलाओं के विषय में हम ऐसे प्रतिमाओं और उद्देश्यों को दृष्टिगत रखकर निर्णय देते हैं जो हमारे जीवन के लिए स्वाभाविक और उन राष्ट्रों के लिए विदेशी हैं तो हम उन राष्ट्रों के प्रति अन्याय करते हैं, हमें यह बात भी याद रखनी होगी।

भारत में अभी तक कलाकार को शिल्पी से पृथक नहीं समझा गया है, अर्थात् कला को कृत्रिम और काम को दासवृत्ति नहीं माना गया है। प्लासी के युद्ध में काल-कवलित भारत में हमारे मध्ययुग की ही तरह प्रत्येक प्रौढ़ कामगार हस्तकलाविद था, जो अपनी कारीगरी और रुचि की कृति में अपना वैशिष्ट्य एवं स्वरूप प्रदर्शित करता था। आज इस युग में जब दस्तकारी के उद्योगों का स्थान फैक्टरियां लेती जा रही हैं और दस्तकारों की स्थिति 'मजदूर' की हो गयी है, प्रत्येक हिन्दू नगर में हिन्दू दूकानों और स्टालों पर ऐसे कारीगर मिलेंगे जो धातुओं की पिटाई कर रहे हैं, गहने बना और डिजाइनें तैयार कर रहे हैं; महीन शालों की बुनाई और कसीदाकारी कर रहे हैं या हाथी के दाँत और लकड़ी पर खुदाई का काम कर रहे हैं। हम जिन राष्ट्रों को जानते

हैं उनमें से शायद किसी भी दूसरे राष्ट्र में कलाओं का इतना अधिक वैषम्य नहीं है।

यह विचित्र वात है कि भारत में कुम्भकारी उद्योग से ऊपर उठकर कला का स्थान नहीं ले सकी। जाति के नियमों के कारण मिट्टी के एक वर्तन के वार-वार काम में लाने पर इतने अधिक प्रतिवन्ध हैं कि कुम्हार द्वारा त्वरित गति से वनाये जानेवाले मिट्टी के वर्तन को सौन्दर्य का जामा पहनाने की कोई प्रेरणा ही नहीं मिली। यदि पात्र किसी मूल्यवान् धातु का वना तो कला निर्वाध रूप से प्रदर्शित की जाती थी। मद्रास के विक्टोरिया इन्स्टीट्यूट में रखा हुआ तंजोर का चाँदी का कलश या काण्डी (लंका) का सोने का पीचदान इसका नमूना है। पीतल को पीटकर अगणित प्रकार के चिराग वनाये जाते थे, कटोरे और कनस्तर वनते थे; ताँवे में एक काले किस्म की धातु (विदरी) मिलाकर पेटियाँ, तश्तरी तथा थाली-परात वनायी जाती थी। एक धातु दूसरी धातु में मिलायी जाती थी या ऊपर से उसकी पर्त चढ़ा दी जाती अथवा उसपर चाँदी और सोने का पानी चढ़ाया जाता था। लकड़ी में खुदाई करके विविध प्रकार के वृक्षों और पशुओं की आकृति वनायी जाती थी। हाथीदाँत को काटकर देवता की मूर्ति से लेकर पाँसा तक वनाया जाता था; दरवाजे तथा लकड़ी की अन्य चीजों में हाथीदाँत और उसकी चीजें जड़ी जाती थीं। श्रृंगार और सुगन्ध के लिए इससे सुरुचिपूर्ण पात्र वनाये जाते थे। आभूषणों का वाहुल्य था जिन्हें गरीव और धनी पहिनते या संग्रह करके गाड़कर रखते थे। सोने की पृष्ठभूमि पर चमकदार मीनाकारी करने में जयपुर अग्रणी था। माला के दाने, पताके, चाकू और कंघियाँ वहुत सुन्दर आकृति की वनायी जाती थीं, जिनपर फूल, पशु या धार्मिक कथाओं का दृश्य अंकित रहता था। एक पताके पर तो थोड़ी सी जगह में आध सौ देवता वने हुए हैं। सूती वस्त्र इतने कलात्मक ढंग से वनते थे कि आज तक उनसे अधिक सुन्दर वस्त्र वन ही नहीं सके हैं। सीजर के समय से लेकर आज हमारे युग तक सूती वस्त्र की कला में भारत सारे विश्व में सवसे आगे रहा है। कभी-कभी वहुत ही वारीकी के साथ और पहले से नाप का अनुमान करके ताने और वाने का एक-एक सूत करघे में लगाने के पहले रंग दिया जाता था। कपड़ा जैसे-जैसे वुनता जाता था वैसे-वैसे डिजाइन वनती जाती थी जो दोनों ओर एक ही तरह की होती थी। घर में वुने हुए खद्दर से लेकर सुनहले रंगके चमकते हुए किमखाव तक, रंग-विरंगे पायजामों से लेकर अति महीन सूत की काश्मीरी शाल तक सभी भारतीय वस्त्रों में अति प्राचीन और प्रायः स्वाभाविक कला से सुलभ सौन्दर्य होता है।

२. संगीत

भारत में संगीत गोष्ठी; गीत और नृत्य; संगीतज्ञ; ताल और स्वर; लय; संगीत और दर्शन।

मद्रास में एक संगीत गोष्ठी में वैठे हुए एक अमेरिकी ने देखा कि दो सौ हिन्दू श्रोता, जो स्पष्ट रूप से सभी व्राह्मण थे और कुछ वेंचों पर तथा कुछ जमीन पर विछी हुई दरी पर वैठे हुए थे, मंत्रमुग्ध होकर छोटी-सी संगीत मण्डली का संगीत सुन रहे हैं। यह मण्डली इतनी छोटी थी कि उसके सामने हमारी वड़ी-वड़ी वृन्दवाद्य मण्डलियाँ ऐसी मालूम होंगी जैसे वे अपना संगीत चन्द्रलोक तक सुनाने जा रही हैं। उन वाद्ययंत्रों से अमेरिकी दर्शक ऐसा अपरिचित था कि उसे वे किसी उपेक्षित उद्यान में उत्पन्न विचित्र और असामान्य वस्तुओं जैसे लगे। कई प्रकार के आकार-प्रकार के अनेक मृदंग,

अलंकृत वंसियाँ, नरसिंहे तथा विविध प्रकार के तंत्र वाद्य उस मण्डली में थे। इन वाद्य-यंत्रों में अधिकांश का निर्माण बड़ी सूक्ष्म कला से हुआ था और इनमें से कुछ में रत्न जड़े हुए थे। एक मृदंग छोटे से पीपे की तरह था; उसके दोनों सिरों पर चर्मपत्र लगे थे, जो एक दूसरे से चमड़े की डोरी से बँधे हुए थे। इस डोरी को कसकर या ढीला करके चर्मपत्र के मसाला लगे हुए हिस्से का स्वर की दृष्टि से नियमन किया जा सकता था। एक चर्मपत्र के मसाला लगे भाग में मैंगनीज की रज, पकाया हुआ चावल और इमली का जूस लगाया गया था ताकि उसमें से विचित्र स्वर निकले। वादक केवल हाथ चलाता था, कभी उसकी हथेली, कभी उसकी उँगली और कभी उसकी उँगली की नोक बाजे पर पड़ती थी। दूसरे वादक के हाथ में तम्बूरा था, जिसके गीत के गंभीर और शान्त भाव की पृष्ठभूमि बनाने के लिए चार लम्बे तार बराबर झंकृत किये जा रहे थे। वीणा विशेष रूप से स्पन्दन शील थी, स्वर की सूक्ष्मतम बारीकी उसमें प्रस्तुत की जा सकती थी। इसके तार धातु की पतली चादर के ऊपर से एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए थे; एक छोर पर लकड़ी की तुम्बी बनी हुई थी और दूसरे सिरे पर स्वर की गूँज करने के लिए वृहत तुम्बी लगी हुई थी। वीणा के ये तार बराबर झंकृत हो रहे थे। वादक बाँयें हाथ की उँगली से वीणा स्वर बाँधता था। उसकी उँगलियाँ एक तार से दूसरे तार पर थिरक रही थीं। अमेरिकी यात्री ने शान्तिपूर्वक ध्यान लगाकर सारा संगीत सुना और कुछ भी न समझ सका।

भारत में संगीत का इतिहास कम से कम तीन हज़ार वर्ष पुराना है। वैदिक मंत्र हिन्दू कविता की तरह गाने के लिए लिखे गए थे। कविता और गीत, गायन और नृत्य को प्राचीन धार्मिक पूजापाठ में एक कला (संगीत) बना दिया गया था। हिन्दू नृत्य, जो पश्चिम की आँखों में उसी प्रकार भोग प्रधान और प्रतीत अश्लील होता है जिस प्रकार पश्चिमी नृत्य हिन्दुओं की आँखों में, भारतीय इतिहास के अधिकांश काल में धार्मिक आराधना की एक रीति रही है; देवताओं के सम्मान और उपदेश के लिए गति एवं लय से सौन्दर्य प्रदर्शन का नृत्य एक माध्यम था। देवदासियाँ तो लौकिक एवं भ्रष्ट मनोरंजन के लिए मन्दिरों से काफी संख्या में निकल कर आधुनिक युग में आयी हैं। हिन्दुओं की दृष्टि में ये नृत्य शरीर के हाड़मांस के प्रदर्शन नहीं थे। उनमें लय और संसार चक्र की अवतारणा की जाती थी। भगवान् शिव स्वयं नृत्य के देवता थे; शिव का नृत्य संसार चक्र का प्रतीक था।*

अन्य कलाकारों की ही भाँति संगीतज्ञ, गायक और नर्तक सबसे नीची जाति के थे। ब्राह्मण गाता था तो अकेले में और वीणा अथवा दूसरा तंत्रवाद्य स्वयं बजाता था। वह वादन, गायन या नृत्य की शिक्षा दूसरों को दे सकता था लेकिन पारिश्रमिक लेकर संगीत प्रस्तुत करने की वह कल्पना तक नहीं कर सकता था। सार्वजनिक संगीत समारोह अभी हाल तक शायद ही कहीं होते थे, लौकिक संगीत जनता का स्वतः प्रेरित अथवा बेसिर पैर का गाना-बजाना होता था या यूरोप के दरबारी संगीत (चेम्बर म्यूजिक) की तरह अभिजात वर्गीय घरों में छोटी सी महफिल के सामने। अकबर स्वयं संगीत कला में

---

*यूरोप और अमेरिका को लौकिक हिन्दू नृत्य का सुन्दर रूप उदयशंकर की कला में देखने को मिला है। उनके नृत्य शरीर, हाथ, उँगली और आँख की प्रत्येक गति में मंत्रमुग्ध दर्शक का सूक्ष्म एवं यथार्थतम अभिप्राय के दर्शन होते हैं, प्रत्येक अंग संचालन में गतिमान सौन्दर्य एवं कविता की ऐसी अभिव्यक्ति होती है जो हमारे पश्चिमी नृत्य में अज्ञात है।

दक्ष था; उसके दरबार में कई संगीतज्ञ थे। इन संगीतज्ञों में तानसेन को बहुत प्रसिद्धि एवं श्री प्राप्ति हुई और वे ३४ वर्ष की उम्र में शराब के नशे में स्वर्गवासी हुए। उस समय शौकिया संगीतज्ञ नहीं होते थे, जो संगीतज्ञ थे वे पेशेवर थे। संगीत की शिक्षा का उद्देश्य समाज में सफल होना नहीं था और बच्चे (Beethovens) में प्रताड़ित नहीं किये जाते थे। जनता का काम बुरा संगीतज्ञ नहीं बल्कि अच्छा श्रोता बनना था।

भारत में संगीत सुनना स्वयं एक कला है और उसके लिए काफी समय तक श्रवण तथा हृदय का प्रशिक्षण आवश्यक है। यूरोप और अमेरिका निवासियों को भारतीय संगीत के शब्द उसी तरह सुबोध नहीं हो सकते जिस तरह ओपेरा के शब्द, जिनका आनन्द उठाना वह अपना कर्तव्य समझता है। सभी देशों की तरह वहाँ भी ये दो विषय—धर्म और प्रेम—से सम्बन्धित हैं, किन्तु हिन्दू संगीत में शब्दों का महत्त्व बहुत थोड़ा है। गायक, हमारे अधिकांश उन्नत साहित्य की तरह, प्रायः उनके स्थान पर अर्थहीन शब्दांश रख देता है। गीत हमारे यहाँ से कहीं अधिक सूक्ष्म छन्द में लिखे जाते हैं। हमारे बारह स्वरों के ताल में उसने दस 'लघु स्वर' बढ़ा दिये हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बाइस चौथाई ताल हो गये हैं। हिन्दू संगीत के संकेत (notation) संस्कृत अक्षरों में लिखे जा सकते हैं। सामान्यतः यह न लिखा जाता है और न पढ़ा ही जाता है, बल्कि श्रवण करके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में या उस शिष्य परम्परा के द्वारा आगे बढ़ता रहता है। इसे bars में पृथक् नहीं किया गया है बल्कि अविरल स्वर में इसका आरोह और अवरोह होता रहता है। जो श्रोता साधारण संगीत बिल्कुल नपे तुले राग में और लय में सुनने के अभ्यस्त होते हैं वे इसका आनन्द नहीं उठा पाते। इसमें सुरों का कोई तारतम्य (chord) नहीं होता और न ही एक तान होती है। वह अपने को सुर-माधुर्य तक सीमित रखती है जिसकी पृष्ठभूमि में धीमा स्वर होता है। इस दृष्टि से हिन्दू संगीत यूरोपीय संगीत से कहीं अधिक सादा और पुरातन है। ताल और लय में वह अवश्य अधिक जटिल है। स्वर सीमित और निःसीम दोनों हैं। वे सभी ३६ परम्परागत सुरों रागों में से किसी न किसी एक से व्युत्पन्न हैं, किन्तु रागों के साथ इन स्वरों के अगणित भिन्न-भिन्न जाल बुने जा सकते हैं। प्रत्येक राग में पाँच छः या सात सुर होते हैं जिसमें से किसी एक पर गायक बार-बार पहुँच जाता है। प्रत्येक राग का उस भाव के अनुसार नामकरण किया गया है जिसकी उस राग में अवतारण होती है जैसे प्रभाती, बसन्त आदि। प्रत्येक राग का एक निश्चित समय या ऋतु होती है। परम्परा से प्रचलित हिन्दू कथाओं के अनुसार इन रागों* में अलौकिक शक्ति है। ऐसा कहा जाता है कि बंगाल की एक नर्तकी ने मेघ मल्हार गाकर अनावृष्टि का अन्त किया था। इन परम्परागत कथाओं की प्राचीनता ने रागों को पवित्रता प्रदान कर दी है। जो भी इन रागों को प्रस्तुत करे उसे बड़ी निष्ठा से यह मान कर चलना पड़ता है कि रागों का यह स्वरूप स्वयं भगवान् शिव ने बनाया है। वीणावादक नारद लापरवाही से इन रागों की प्रस्तुति किया करते थे। विष्णु भगवान् ने उन्हें नरक लोक पहुँचाया, जहाँ उन्होंने देखा कि अंगभंग स्त्री और पुरुष विलाप कर रहे हैं। भगवान् ने नारद से कहा—ये राग और रागिनियाँ हैं जो तुम्हारे बेपरवाही से वीणावादन के कारण अंगभंग हो गयी हैं। कहा जाता है कि इसके बाद नारद और अधिक विनम्रता से इस कला में दक्षता प्राप्त की।

कार्यक्रम के लिए अपने चुने हुए राग के प्रति एक निष्ठ रहने के बन्धन से भारतीय

---

*मोटे तौर पर कुल ६ राग हैं। इनमें से प्रत्येक में पाँच परिवर्तन करके किया गया है, जिन्हें रागिनी कहा जाता है।

संगीतज्ञ के मार्ग में उसी प्रकार कोई बड़ी रुकावट नहीं आती जिस प्रकार सोनेट या सिम्फोनी गीतबद्ध करनेवाले पाश्चात्य कलाकार को। दोनों हालतों में मुक्तता के कारण जितना गंवाना पड़ता है उतना संरचनात्मक सामीप्य और स्वरूपात्मक संगति से प्राप्त हो जाता है। हिन्दू संगीतज्ञ हिन्दू दार्शनिक की तरह होता है। वह सान्त से शुरू करता है और अपनी आत्मा को अनन्त में पहुँचा देता है। लय के अविरल प्रवाह और पुनरावृति से, यहाँ तक कि एक ही स्वर की बार-बार सम्मोहक पुनरावृत्ति के द्वारा वह अपने राग पर तब तक एक पर एक तार बुनता जाता है जब तक संगीत से योग की अवस्था न उत्पन्न हो जाय। यह ऐसा योग होता है जिसमें आकांक्षा और अस्मिता, पदार्थ, काल और परिमाण विस्मृत हो जाते हैं, आत्मा का एक ऐसी अन्तर्निहित शक्ति शान्त प्रकृति से व्यापक सत्ता से तादात्म्य होता है जो सभी संघर्षरत संकल्पों पर, सारे परिवर्तन और विनाश पर मुस्कराती है।

हिन्दू संगीत की हम शायद तब तक चिन्ता न करेंगे और तब तक उसे ग्रहण न कर पायेंगे जब तक हम अस्तित्व के लिए संघर्ष, स्थायित्व के लिए प्रगति स्वीकृति के लिए आकांक्षा और विश्रान्ति के लिए गति का परित्याग न कर दें। यह तब हो सकता है जब एशिया पुनः स्वामी और यूरोप अधीनस्थ हो। किन्तु तब एशिया अस्तित्व, स्थायित्व, स्वीकृति और विश्रान्ति से ऊब जायगा।

३. चित्रकला

इतिहासपूर्व की चित्रकला; अजन्ता के भित्तिचित्र; राजपूत; मुगल शैली; चित्रकार; सिद्धान्त निरूपक।

गँवार व्यक्ति वह है जो सारे संसार को कूपमण्डूक की तरह अपने गाँव की दृष्टि से देखे और सभी अपरिचित चीजों को बर्बर समझे। कला में अभिरुचि और पैठ रखनेवाले सम्राट जहाँगीर के विषय में कहा जाता है कि एक बार उसे जब एक यूरोपीय चित्र दिखाया गया तो उसने तुरत उस चित्र को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि "तैल-विनिर्मित होने के कारण मैं इसे पसन्द नहीं करता।" यह जानकर प्रसन्नता होती है कि एक सम्राट भी गँवार हो सकता है। जिस प्रकार जहाँगीर यूरोप के तैल चित्र से आनन्द अनुभव नहीं कर सकता था, उसी प्रकार हम भारत के लघु चित्रों या बीज चित्रों (miniatures) का उचित मूल्यांकन नहीं कर सकते।

सिंगनपुर और मिर्जापुर में इतिहासपूर्व की गुफाओं में लाल रंग से बनाये गये पशुओं तथा गैण्डे के शिकार के जो चित्र देखने को मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि भारतीय चित्रकला का हजारों वर्ष पुराना इतिहास रहा है। नव पाषाण युगीन भारत के जो अवशेष मिले हैं उनमें चित्रकारों के रंग मिलाने के ऐसे अनेक पात्र हैं जिनमें रंग तैयार करके रखा था। भारतीय कला के इतिहास में एक बहुत बड़ा अन्तर मिलता है, क्योंकि प्रारम्भिक युग की अधिकांश कलाकृति जलवायु के थपेड़े से नष्ट हो गयी। शेष कृतियों महमूद से लेकर औरंगजेब तक मुसलमान मूर्ति विध्वंसकों नें नष्ट कर डाली। विनयपिटक में (३०० ई० पू०) वर्णन किया गया है कि राजा प्रसेन जिनके महल में चित्र कक्ष बने हुए थे। फाहियान और युवान च्वांग ने ऐसे अनेक भवनों का उल्लेख किया है जो अपने उच्च कोटि के भित्ति चित्रों के लिए प्रसिद्ध थे। किन्तु इन भवनों का अब कोई चिह्न नहीं मिलता। तिब्बत के एक सबसे पुराने भित्तिचित्र में चित्रकार को भगवान् बुद्ध का चित्र बनाते हुए दिखाया गया है। बाद के कलाकार

इस बात से यह निश्चित समझते हैं कि भगवान् बुद्ध के कालमें भारत में चित्रकला प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

भारत के सबसे पुराने चित्र, जिनका काल निर्णय किया जा सकता है, मध्यप्रान्त (पुराना) स्थित सिरगुवा की गुफा की दीवारों पर मिले हैं। बौद्धों के एक समूह के ये भित्तिचित्र १०० ई० पू० के हैं। उस काल के बाद से भित्तिचित्र बनाने की कला—अर्थात् ताजे पलस्तर पर सूखने के पहले ही चित्र बनाने की कला—एक-एक चरण के क्रम से अजन्ता की चित्रकला तक बढ़ी, जहाँ वह ऐसी पूर्णता की स्थिति प्राप्त की कि जिओटो (Giotto) या लेनार्डो (Leonardo) भी उससे आगे नहीं बढ़ सके। ये मन्दिर पहिली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न समय में पहाड़ की चट्टानों को काटकर बनाये गए थे। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद शताब्दियों तक ये इतिहास और मानव स्मृति से विलुप्त हो गये। इनके आसपास जंगल हो गये और इन्हें प्रायः पूर्ण रूप से अपने अन्तर में छिपा लिया। चमगादड़, साँप, जंगली जानवर तथा अन्य पशुओं ने इन गुफाओं को अपना निवास-स्थान बना लिया। हजारों जाति के पक्षियों और कीड़ों ने इन्हें गन्दगी से भर दिया। १८७९ में यूरोपियनों ने इन खण्डहरों में प्रवेश किया। इनके भित्तिचित्रों को देखकर वे चकित रह गये। अब इन चित्रों की गणना विश्व की सर्वोच्चतम कलाकृतियों में की जाती है।

इन मन्दिरों को गुफा कहा गया है, क्योंकि वे अधिकतर पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाये गये हैं। उदाहरणार्थ गुफा नम्बर १६ की खुदाई प्रत्येक ओर से ६५ फुट हुई है और उसमें बीस खम्भे हैं। मध्य में स्थित बड़े कमरे के किनारों पर भिक्षुओं की १६ कोठरियाँ हैं, सामने ड्योढ़ीदार बरामदा शोभित है और पीछे पूजा स्थान है। प्रत्येक दीवार भित्तिचित्र से आच्छादित है। १८७९ में २९ में से १६ मन्दिरों में चित्र थे; १९१० तक इन १६ में से १० मन्दिरों के चित्र खुले होने के कारण नष्ट हो गये। शेष ६ मन्दिरों के चित्र फिर से ठीक करने के दक्षतारहित प्रयास से बिगड़ गये। एक समय ये भित्तिचित्र लाल, हरे, नीले और बैंगनी रंग से चमक रहे थे। अब हल्की रेखा-युक्त और काले उपरिस्तर के अलावा उन रंगों का कोई चिह्न नहीं बचा है। समय और अज्ञान के कारण इस प्रकार अगम्य बने हुए इन चित्रों में से कुछ चित्र, बौद्ध-धर्म की परम्परागत कलाओं को बौद्ध हृदय से न समझनेवाले हम लोगों को अशिष्ट एवं असंगत प्रतीत होते हैं। दूसरे चित्र तुरन्त अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और सुन्दर हैं। वे उन कलाकारों की दक्षता को प्रकट करते हैं जिनका नाम अपनी कृति समाप्त होने के बहुत पहले ही समाप्त हो चुका है।

इन बर्बादियों के बावजूद गुफा नम्बर एक में अब भी उच्चतम कलाकृतियों का प्राचुर्य है। इस गुफा की एक दीवार में (सम्भवतः) एक बोधिसत्त्व[1] का चित्र है। उदासी का इतना सुन्दर चित्रण आज तक कभी नहीं हुआ है। दर्शक चकित रह जाता है कि लेनार्डो द्वारा कल्पना से चित्रित ईसा का सिर अधिक ललित और गम्भीर भाव-पूर्ण है या बोधिसत्त्व का यह चित्र। इसी मन्दिर की एक दूसरी दीवार पर शिव और आभूषणों से सुशोभित उनकी पत्नी पार्वती को चित्रित किया गया है। पास में ही चार मृग बने हुए हैं जो पशुओं के प्रति बौद्धों के दयाभाव के प्रतीक हैं। ऊपर छत के निचले भाग में बहुत सफाई के साथ फूल और पक्षी का चित्रण हुआ है। गुफा नम्बर १७ की

---

[1] **बोधिसत्त्व वे महात्मा हैं जो निर्वाण के अधिकारी हो चुके हैं, किन्तु मानव के कल्याण और सन्मार्ग प्रदर्शन के लिए मुक्त होने के बजाय बार-बार जन्म लेते हैं।**

एक दीवार पर अर्द्ध विनष्ट अवस्था में भगवान् विष्णु और उनके दल का सुन्दर चित्र है जो भगवान बुद्ध के जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में शामिल होने के लिए स्वर्ग से उड़ते हुए आ रहे हैं। दूसरी दीवार पर एक राजकुमारी और उसकी सेविकाओं का रंगबिरंगा रेखाचित्र है। इन प्रधान चित्रों के ही साथ अगणित भित्ति चित्र ऐसे भी हैं जिनकी कला उच्चकोटि की नहीं है और जिनमें बुद्ध की तरुणाई, गृह त्याग और उन्हें तप से विचलित करने के लिए मार का प्रयास दिखाया गया है।

किन्तु आज जो कुछ अवशिष्ट है उससे हम इन चित्रों के मूल रूप का मूल्यांकन नहीं कर सकते इसमें शक नहीं कि उनके मूल्यांकन का सूत्र है किन्तु विदेशी हृदय के लिए वह प्रकट नहीं है। फिर भी विषय की श्रेष्ठता, योजना का महान् दृष्टिक्षेत्र, चित्र रचना की समरूपता, रेखाओं की स्पष्टता, सरलता तथा दृढ़ता और अन्य अनेक बातों के अलावा सभी कलाकारों के हाथ की आश्चर्यजनक सफाई की सराहना पश्चिम का व्यक्ति तक कर सकता है। कल्पना उन कलाकार-भिक्षुओं का चित्रण कर सकती है जो इन कोठरियों में साधना करते थे और जिन्होंने[1] शायद इन दीवारों तथा छतों के निचले स्तर को बड़ी रुचि के साथ पवित्र कला से उस समय चित्रित किया जब यूरोप अपने प्रारम्भिक-मध्यकालिक अन्धकार युग में था। यहाँ अजन्ता में धार्मिक भक्ति ने स्थापत्य-कला, मूर्तिकला तथा चित्रकला को सुखद एकात्मकता में ढाला और हिन्दूकला की एक सर्वोच्च कीर्ति प्रस्तुत की।

हिन्दुओं के मन्दिर जब हूणों और मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिये गये तो हिन्दुओं ने अपनी चित्रकला की दक्षता को अपेक्षाकृत लघुतर स्वरूप की ओर मोड़ा। राजपूतों में एक ऐसी चित्रशैली का प्रचलन हुआ जिसमें कमनीय बीजचित्रों में रामायण और महाभारत की कलाओं तथा राजपूताना के बहादुर राजाओं और सरदारों के वीरतापूर्ण कार्यों का चित्रण किया गया। उनके चित्र प्रायः साधारण रूपरेखा मात्र होते थे, तथापि उनमें जीवन रहता था और उनकी डिजाइन त्रुटिहीन होती थी। बोस्टन स्थित ललित-कला संग्रहालय (Museum of fine Arts) में इस शैली का बहुत सुन्दर नमूना है जिसमें संगीत के एक राग को एक सुन्दरी स्त्री, विशाल मीनार और नीचे आये हुए 'बादलों' को प्रतीक बनाकर चित्रित किया गया है। एक दूसरा नमूना डेट्राइट (Deroit) के कला भवन (Art Institute) में है, जिसमें गीत गोविन्द का एक बहुत ही ललितपूर्ण दृश्य बनाया गया है। इन चित्रों तथा अन्य कृतियों में जो मानवरूप बने हैं वे किसी माडल (प्रतिरूप) पर आधृत नहीं हैं। कलाकार ने उस रूप को अपनी कल्पना और स्मृति से उतारा। हिन्दू चित्रकार सामान्यतः कागज पर चमकदार रोगन (tempera) लगाता था और कोमल ब्रुशों का उपयोग करता था, जो गिलहरी, ऊँट, बकरी या नेवले के बालों का बना होता था। रेखाएँ खींचने और सजाने में उसकी कला इतनी शुद्ध थी कि उसकी कृति अजनबी और अदक्ष नेत्रों को भी आनन्दित कर देती है।

इसी प्रकार कलाकृतियाँ भारत के अन्य भागों, विशेषकर काँगड़ा राज्य में भी बनीं। इसी प्रकार की एक और श्रेणी की कला मुगलों के संरक्षण में दिल्ली में परिणत हुई। फारसी अक्षर-लेखन और लिपि को चमकदार बनाने की कला से उद्भूत इस शैली ने विकसित होकर अभिजातीय छवि चित्रण का रूप ले लिया, जो अपने सौन्दर्य और वैशिष्ट्य

---

[1] ऐसा हमारा अनुमान है। हम नहीं जानते कि इन भित्तिचित्रों को किसने बनाया।

में उस दरवारी संगीत की तरह थी जो राजभवन में फली फूली। राजपूत शैली के कलाकारों की तरह मुगल शैली के चित्रकारों ने भी अपनी रेखाओं को कमनीय वनाने का प्रयास किया। कभी-कभी तो वे केवल एक वाल का बना हुआ व्रुश प्रयोग करते थे। वे भी हाथ का चित्र वनाने में एक दूसरे को मात देते थे। किन्तु वे अपने चित्रों में रंग अधिक देते थे और उनकी कृतियों में रहस्यवाद कम रहता था। उन्होंने शायद ही धर्म और पौराणिक कथाओं की ओर ध्यान दिया। उन्होंने अपने को दुनियादारी तक ही सीमित रखा और उस अवस्था में जहाँ तक हो सकता था अपने को यथार्थवादी रखा। उन्होंने अपने चित्र का विषय शाही दर्जे के और प्रकृति के जीवित स्त्री-पुरुषों को वनाया, जिनकी ख्याति विनम्रता के लिए नहीं थी। शाही परिवार के ये व्यक्ति और उच्च शासक एक के वाद एक अपना चित्र वनवाने के लिए कलाकार के सामने वैठते थे। इस तरह कलानुरागी जहाँगीर के चित्रकक्ष अकवर के राजगद्दी पर वैठने के वाद से तव तक के सभी प्रमुख राजाओं और राजदरवारियों के चित्रों से भर गया। अकवर मुगलवंश का पहला वादशाह था, जिसने अपने शासन के अन्तिम दिनों में चित्रकला को प्रश्रय दिया। अवुलफजल के अनुसार उस समय दिल्ली में चित्रकला के एक सौ गुरु थे और एक हज़ार शौकिया चित्रकार। जहाँगीर के वुद्धिमत्तापूर्ण संरक्षण से यह कला और विकसित हुई। अव इसकी परिधि रूप चित्रण से वढ़कर शिकार के दृश्य तथा मानव प्रकृति की अन्य प्राकृतिक पृष्ठभूमियों के अंकन तक वढ़ गयी। एक चित्र में दिखाया गया है कि शेर हाथी के पुट्ठे पर चढ़ गया है और सम्राट स्वयं करीव-करीव शेर के पंजे में आ गया है तथा उनका मांस नोच लेना चाहता है, जवकि रक्षक भाग खड़ा हुआ है। शाहजहाँ के समय कला अपनी चोटी पर पहुँच गयी और ह्रासोन्मुख होने लगी। जापान के चित्रों के विषय में जैसा हुआ वैसे ही उसने मुगल शैली को वहुत जल्दी व्यापक जनप्रियता दी। इसके वहुत से कद्रदार हो गये और वास्तविक रुचि की कमी हो गयी। रूप उतारने के विरुद्ध इस्लाम के कड़े नियमों की फिर से प्रतिष्ठा करके औरंगजेव ने इस ह्रास की पूर्ति कर दी।

मुगल वादशाहों के वुद्धिमत्तापूर्ण अनुग्रह से दिल्ली में भारतीय चित्रकारों की ऐसी समुन्नति हुई जैसी अनेक शताव्दियों से कभी नहीं हुई थी। चित्रकारों की श्रेणी, (guild) जो वौद्धकाल से अपने को जीवित रखे हुए थी, फिर से शक्तिशाली हो गयी। इसके अनेक सदस्य अज्ञात वने रहने से वच गये। उसके वाद से, और हिन्दू धर्म में व्यक्ति की उपेक्षा के कारण, भारतीय कला के क्षेत्र में कलाकार के नाम अज्ञात हैं। अकवर के दरवार में १७ कलाकार सर्व प्रधान समझे जाते थे, जिनमें से १३ कलाकार हिन्दू थे। महान मुगल वादशाह के दरवार का सर्वाधिक अनुग्रह प्राप्त कलाकार दसवन्त था। दसवन्त नीच जाति में गिने जानेवाले कहार का पुत्र था, किन्तु अकवर की आँखों में उसके प्रति कोई उपेक्षा का भाव नहीं था। यह तरुण कलाकार झक्की स्वभाव का था और इसने जिद्द की कि मैं जहाँ भी जाऊँगा वहीं चित्र वनाऊँगा, मुझे जो भी चीज नीचे रखने को मिलेगी उसी पर कागज आदि रखकर चित्र वनाऊँगा। अकवर ने उसकी प्रतिभा को समझा और अपने ही चित्रकला-शिक्षक को उसे शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया। थोड़े ही समय में दसवन्त अपने युग का सवसे वड़ा चित्रकार वन गया। किन्तु जिस समय उसकी प्रसिद्धि का सितारा वुलन्दी पर था उसी समय उसने छुरा मारकर आत्महत्या कर ली।

लोग जहाँ भी कुछ काम करते हैं वहाँ दूसरे ऐसे व्यक्ति हो जायेंगे जो उन्हें वतायेंगे कि कौन काम किस प्रकार किया जाना चाहिए। हिन्दू दर्शन तर्क को वहुत सम्मान

नहीं देता, फिर भी हिन्दुओं को तर्क कम प्रिय नहीं था। उन्होंने प्रत्येक कला की प्रक्रिया के कठोरतम और बहुत ही युक्ति संगत नियम निर्धारित किए। इसीलिए 'षडांग'[१] में बाद में निर्मित और शायद भारत की नकल करके बनाये गये[२] चीन के कला सम्बन्धी ६ नियमों की तरह निम्न लिखित ६ बातों का ध्यान रखने का निर्देश है। (१) रूप का ज्ञान, (२) सही-सही दृष्टिबोध, माप और ढाँचा, (३) स्वरूपों पर अनुभवात्मक प्रतिक्रिया, (४) सौन्दर्य का उभार या कलात्मक प्रस्तुति, (५) सदृश्यता और (६) ब्रुश तथा रंगों का कलापूर्ण उपयोग। बाद में शिल्प-शास्त्र नाम से एक विस्तृत संहिता तैयार की गयी जिसमें सर्वकाल के लिए प्रत्येक कला के नियमों और परम्पराओं का सूत्र-निरूपण किया गया। इसमें कहा गया है कि कलाकार को वेदों का ज्ञान होना चाहिए, भगवान् की पूजा में प्रसन्न होना चाहिए, अपनी पत्नी के प्रति एकनिष्ठ रहना चाहिए, अपरिचित स्त्रियों से मिलने-जुलने से बचना चाहिए और बहुत निष्ठापूर्वक विभिन्न विद्वानों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

हम पूर्वी चित्रकला को तभी समझ सकेंगे जब हम यह जान लें कि उसमें वस्तुओं का नहीं हृदय के भावों को चित्रित किया जाता है और यह भाव भी वह प्रस्तुत नहीं करती वरन् उसका संकेत देती है; वह रंग पर नहीं रेखा पर निर्भर करती है, उसका लक्ष्य यथार्थ को उतारने की अपेक्षा सौन्दर्यात्मक और धार्मिक भावना जागृत करना है। उसकी रुचि मानव और वस्तुओं के भौतिक स्वरूप नहीं बल्कि आत्मा या प्राण में है। भले ही हम कोशिश कर लें और करेंगे भी, हमें भारतीय चित्रकला में वह प्राविधिक विकास अर्थात् अभिप्राय का क्षेत्र और गहराई न मिलेगी जो चीन और जापान की चित्र-कला में है। कुछ हिन्दू बड़े चाव से कहते हैं कि हम लोगों में चित्रकला का ह्रास इसलिए हुआ कि वह बहुत ही सरल है, उसमें इतना अधिक श्रम नहीं होता कि उसे देवार्पित किया जा सके। इतना क्षीण और क्षणिक चित्र आराध्य देव के प्रतिरूप के रूप में अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। शायद इसीलिए उससे हिन्दू की उत्कण्ठा की पूर्ति नहीं होती थी। धीरे-धीरे बौद्धधर्म में ज्यों-ज्यों मूर्ति-पूजा होने लगी और ब्राह्मणों के मन्दिर बनने तथा बढ़ने लगे त्यों-त्यों चित्रकला का स्थान मूर्ति लेती गई।

४——मूर्तिकला

आदिम कालीन मूर्तिकला; बौद्ध मूर्तिकला; गान्धार शैली; गुप्तकालीन मूर्तिकला; 'औपनिवेशिक' मूर्तिकला; मूल्यांकन।

मोहेनजोदाड़ो की मूर्तियों से लेकर अशोक के काल तक भारतीय मूर्ति कला का इतिहास हमें नहीं मिलता। किन्तु हमारा ख्याल है कि यह अन्तर कला के क्षेत्र में नहीं अपितु हमारे ज्ञान में है। आर्यों के आक्रमण से कुछ समय के लिए शक्तिहीन भारत ने शायद मूर्ति बनाने के लिए पत्थर के बजाय काष्ठ को अपनाया, या आर्य लोग लड़ाई पर इतने उतारू थे कि उन्होंने कला की कोई चिन्ता नहीं की। भारत में जो सबसे पुरानी पत्थर की मूर्तियाँ मिली हैं वे अशोक के काल के पहले की नहीं हैं। किन्तु इन मूर्तियों

---

[१] शियेह हो (Hsieh Ho) इसी पुस्तक में आगे २५वें अध्याय के चतुर्थ खण्ड का द्वितीय उपखण्ड (चीनी चित्रकला की विशेषताएँ)।

[२] षडांग का काल अनिश्चित है। हम उसके विषय में १३वीं शताब्दी की एक टीका से जानते हैं।

के निर्माण में इतनी उच्चकोटि की दक्षता प्रदर्शित की गई है कि उसे देखकर हमें इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि उस समय तक कला विकसित होने में कई शताब्दियों का समय ले चुकी थी। मूर्ति-पूजा और लौकिक स्वरूप बनाकर पूजा करने का विरोधी होने के कारण बौद्धधर्म चित्रकला और मूर्तिकला दोनों के लिए बाधक हुआ। बुद्ध ने "कल्पना से स्त्रियों और पुरुषों के चित्र बना कर" पूजा करने का निषेध किया। इस विधि विधानवत निषेध के कारण भारत में चित्रकला और मूर्तिकला को उसी प्रकार आघात लगा जिस प्रकार इस्लाम के कारण जेद्दा में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे जब बौद्धधर्म में, कठोर संयम कम होता गया और वह प्रतीक तथा काल्पनिक कलाओं में द्रविड़ों का अनुसरण करने लगा वैसे-वैसे यह कट्टरता कम हो गयी। बोध गया और भरहुत के बौद्ध स्तूपों के चारों ओर बनी हुई पत्थर की रेलिंग या बाड़ पर जब फिर (२०० ई० पू०) खुदाई की कला के दर्शन होते हैं जो स्वतन्त्र कला होने की अपेक्षा स्थापत्य कला का अंग है। अपने इतिहास के अन्त तक अधिकांश काल में भारतीय मूर्तिकला स्थापत्य कला की अधीनवर्ती थी। इस काल में चारों ओर गढ़कर आकृति बनाने के बजाय किसी चीज पर उभरी हुई नक्काशी का अधिक प्रचलन था।* मथुरा स्थित जैन मन्दिरों और अमरावती तथा अजन्ता स्थित बौद्ध विहारों में नक्काशी की यह कला श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँच गयी है। एक अधिकारी विद्वान् का कहना है कि अमरावती की रेलिंग "भारतीय मूर्तिकला का सर्वाधिक आनन्ददायक और सर्वाधिक कोमल पुष्प है।"

इसी बीच पश्चिमोत्तर भारत के गान्धार प्रदेश में कुषाण राजाओं के संरक्षण में एक दूसरी शैली की मूर्तिकला की परिणति हो रही थी। यह रहस्यजनक वंश, जो अकस्मात उत्तर दिशा से (शायद) यूनान शासित बैक्ट्रिया से आया अपने साथ यूनानी आकृतियों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी लाया। कनिष्क के दरबार पर छाये हुए महायान बौद्धधर्म ने मूर्तिपूजा के निषेध को रद्द करके मार्ग में पड़े हुए अवरोध का अन्त कर दिया। यूनानी शिक्षकों के प्रशिक्षण के अन्तर्गत भारतीय मूर्तिकला ने कुछ समय के लिए चिकना यूनानी चेहरा ग्रहण कर लिया। बुद्ध का रूप मूर्ति में अपोलो (यूनानियों के सूर्य देवता) की तरह बनने लगा और वे ओलिम्पस (यूनानियों का स्वर्ग) में जाने के आकांक्षी बन गये। हिन्दू देव मूर्तियों और सन्तों को बने हुए वस्त्र पहनाये जाने लगे और पवित्रात्मा बोधिसत्त्व शराब के नशे में बुत विलासप्रिय सिलेनी से कोहनी रगड़ने लगे। बुद्ध और उनके शिष्यों के कल्पना से निर्मित और कोमलता प्रधान मूर्तियों का स्थान यूनान के ह्रासशील यथार्थवाद के भयानक नमूनों ने ले लिया जिसका एक उदाहरण है लाहोर की भूख से तड़प रहे बुद्ध की वह मूर्ति जिसकी हर पँसुली और पुट्ठे की हड्डी झलक रही है, बाल महिला की तरह सँवारे हुए हैं, पुरुष की तरह दाढ़ी है और चेहरे पर अकाल से पीड़ित होने के चिह्न हैं। इसी यूनानी-बौद्ध कला से युवान च्वांग प्रभावित हुआ। उसके तथा बाद के यात्रियों के साथ यही कला चीन, कोरिया और जापान पहुँची। भारत की मूर्तिकला का इस पर नाममात्र का प्रभाव था। कुछ शताब्दियों तक फलने-फूलने के बाद जब गान्धार शैली का अन्त हो गया तो

---

*इस विचार के विरुद्ध एक बहुत वजनदार अपवाद है बुद्ध की ८० फुट ऊँची ताँबे की वह मूर्ति जिसे युवान च्वाँग और अन्य सुदूर पूर्वीय यात्रियों ने पाटलिपुत्र में देखा था। यही मूर्ति जापान में नारा तथा कामाकुरा में बनी हुई विशाल मूर्तियों की सम्भवतः पूर्ववर्ती थी।

हिन्दू राजाओं के संरक्षण में भारतीय कला फिर जीवित हुई। उसने भरहुत, अमरावती तथा मथुरा के प्राचीन कलाकारों की परम्परा पुनः अपनायी और यूनान तथा गान्धार की खिचड़ी मूर्तिकला की उपेक्षा कर दी।

गुप्त वंश के राजाओं के शासनकाल में सभी चीजों की तरह मूर्तिकला की भी उन्नति हुई। बौद्ध-धर्म अब मूर्ति के विरुद्ध अपना विरोध त्याग चुका था और नयी शक्ति के साथ उदित ब्राह्मणधर्म प्रतीक को प्रोत्साहन दे रहा था तथा सभी कलाओं से धर्म को सुशोभित करने में दत्तचित था। मथुरा के संग्रहालय में एक बहुत उच्च कोटि की बुद्ध मूर्ति है जिसकी आँखें ध्यान मग्न हैं, ओंठों पर प्रसन्नता है। इस मूर्ति में चेहरे की आकृति बहुत ही कोमल तथा सुन्दर है और पैर भद्दे तथा घनाकार हैं। सारनाथ के संग्रहालय में बैठे हुए बुद्ध की दूसरी प्रस्तर प्रतिमा है, जो बौद्ध मूर्तिकला का शिरमौर है। शान्तिपूर्ण ध्यानावस्था में करुणा की मुद्रा में बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति पूर्ण रूप से निखरी है। कराची में ब्रह्मा की कांसे की मूर्ति है जो, वाल्तेयर की तरह है।

मुसलमानों के पदार्पण के पहले की शताब्दी में भारत में सर्वत्र मूर्ति निर्माण की कला की सर्वोच्च कृतियों का निर्माण हुआ, हालाकि तब वह स्थापत्य कला तथा धर्म से उत्प्रेरित और उन्हीं की अधीनवर्ती भी थी। सुल्तानपुर में मिली विष्णु की आकर्षक मूर्ति, छेनी से बहुत होशियारी के साथ बनायी गयी पद्मपाणि की मूर्ति, एलिफैण्टा की गुफा में निर्मित तीन शिर के शिव की मूर्ति (त्रिमूर्ति), नोक्कास में रुक्मिणी देवी के रूप में पूजित पत्थर की मूर्ति, तंजौर की चोल कलाकारों की बनी हुई नटराज की कांस्य मूर्ति, ममलापुरम की सुन्दर मृग प्रतिमा तथा पेरूर की आकर्षक शिव मूर्ति, ये सभी भारत के हर प्रदेश में मूर्तिकला के प्रसार के प्रमाण हैं।

यही प्रवृत्तियाँ तथा प्रक्रियाएँ भारत की मुख्य भूमि की सीमा पार करके दूसरे देशों में पहुँची और तुर्किस्तान तथा कम्बोडिया से लेकर जावा तथा श्रीलंका तक उच्चकोटि की अनेक कृतियों का निर्माण हुआ। कला के विद्यार्थी को इसका प्रमाण खोतान के रेत में सर औरेल स्टीन द्वारा की गयी खुदाई में प्राप्त बालक के शिरभाग की मूर्ति, स्याम में प्राप्त बुद्ध के शिर की मूर्ति, कम्बोडिया के हरिहर (जो मिस्र की मूर्तियों की तरह सुन्दर है), जावा की विशाल कांस्य मूर्तियों, लेडेन संग्रहालय में रखी हुई प्रज्ञा पारमिता की मूर्ति, कोपेनहेगेन के ग्लिप्टोथेक संग्रहालय में बोरोबुदुर से ला कर रखी हुई बोधिसत्त्व की दोष रहित मूर्ति, करुणा के अवतार अवलोकितेश्वर की बहुत सफाई से बनी हुई मूर्ति तथा अनुराधपुर (लंका) की विशाल बुद्ध मूर्ति तथा चन्द्रकान्त मणि की चौखट से मिलेगा। कई शताब्दियों तक जिन कृतियों में न जाने कितने लोगों ने अपना खून लगाया उनकी यह क्षुद्र सूची प्रकट करती है कि भारत के सांस्कृतिक उपनिवेशों पर हिन्दू प्रतिमा का कितना प्रभाव था। पहिली दृष्टि में हमें यह मूर्तिकला अच्छी नहीं लगती। बहुत प्रगाढ़ और उदार विचार के लोग ही बाहर जाने पर अपने परिवेश के प्रभाव से मुक्त हो सकते हैं। इन मूर्तियों के प्रतीक को समझने के लिए इन अगणित हाथों और पाँवों में परिलक्षित अलौकिक शक्ति एवं जटिल कार्यों को समझने के लिए, सृष्टि, पालन और संहार की दैवी शक्तियों के विषय में हिन्दू भावना को प्रकट करनेवाली इन मोहक मूर्तियों की भयानक यथार्थता को समझने के लिए हमें हिन्दू या भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व स्वीकार करनेवाले देशों का नागरिक बनना पड़ेगा। हमें यह देखकर दुख होता है कि हिन्दू ग्राम में हर व्यक्ति दुबला-पतला दिखायी पड़ता है और हिन्दू मूर्ति कला में हर व्यक्ति मोटा है। हम यह भूल जाते हैं कि यह मूर्तियाँ देवताओं की हैं जिन्हें भूमिका पहिली उपलब्धि प्राप्त होती थी। हमें यह जानकर परेशानी होती

है कि हिन्दू मूर्तियों को रँगते थे। इससे हम इस तथ्य के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं कि यूनानी भी ऐसा ही करते थे। यूनानी देव मूर्तियों की उच्चकोटि की जो श्रेष्ठता है उसका कारण उनका रंग समाप्त हो जाना ही है। स्त्री मूर्तियों की अपेक्षाकृत कमी देखकर हमें क्षोभ होता है, इससे स्त्रियों की दासता का संकेत मिलता है जिससे हम दुखी होते हैं, लेकिन यह नहीं सोचते कि नग्न स्त्री का ही रूप बनाना कला के लिए अपरिहार्य नहीं है। स्त्री का सर्वोत्तम सौन्दर्य यौवन से अधिक मातृपद में है। हम यह भूल जाते हैं कि मूर्तिकार ने जो कृति बनायी है उस में उसकी कल्पना का उतना अंश नहीं है जितना धर्माचार्यों द्वारा वर्जित रूप का। भारत की हर कला अपेक्षा धार्मिक के अधीनस्थ अधिक थी। मूर्तिकार ने जो अति गम्भीर रूप बनाना चाहा है उसे हम हास्यजनक प्रतिमा, विदूपक या मृत प्रेत को भगाने के लिए बनायी गयी देवमूर्ति समझते हैं। यदि हम डरकर उनके पास से हट जायँ तो हम समझ लेते हैं कि इन मूर्तियों का उद्देश्य पूरा हो गया।

यह सब होने पर भी भारत की मूर्तिकला कभी भी साहित्य में वर्णित सौन्दर्य, या अपनी स्थापत्यकला की भव्यता का अपने दर्शन की गहराई नहीं प्राप्त कर सकी। इसने मुख्य रूप से अपने धर्मों की 'अव्यवस्थित' एवं अनिश्चित अन्तर्दृष्टि को प्रतिबिम्बित किया। यह चीन और जापान की कला से उच्चतर थी किन्तु कभी भी मिस्र की मूर्तिकला की बराबरी की प्रवीणता या यूनानी संगमरमर की मूर्ति का आकर्षक सौन्दर्य नहीं प्राप्त कर सकी। इसकी कल्पनाओं को समझने के लिए भी हमें अपने हृदय में मध्यकाल की सच्ची और विश्वासपूर्ण शुचिता उत्पन्न करनी पड़ेगी। सत्य यह है कि हम भारत में चित्रकला की ही भाँति मूर्तिकला से भी बहुत कुछ चाहते हैं। हम ऐसा समझते हैं कि यूरोप और अमेरिका की तरह भारत में भी ये स्वतन्त्र कलाएँ थीं। समझने के लिए हमने अपने परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार कृत्रिम रूप से उनका पृथक्करण कर दिया है। यदि हम एक हिन्दू की तरह उन्हें भारत की अप्रतिम स्थापत्य कला के अभिन्न अंगों के रूप में देखें तो निश्चय ही हमने भारतीय कला को समझने के लिए एक प्रकार से अहंकाररहित श्रीगणेश कर दिया है।

५. स्थापत्य कला

(क) हिन्दू स्थापत्य कला

अशोक के पूर्व; अशोककालीन; बौद्ध कालीन; जैन स्थापत्यकला; उत्तर भारत की सर्वोच्च कृतियाँ; बर्वादी; दक्षिण भारतीय शैली; एक ही चट्टान को काटकर निर्मित मन्दिर; संरचनात्मक मन्दिर।

अशोक के समय के पहले की स्थापत्य कला का अब कुछ भी नहीं बचा है। मोहेनजोदाड़ो की ईंटों के खण्डहर हमें मिलते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक तथा बौद्धकालीन भारत के भवन लकड़ी के होते थे। ऐसा लगता है कि स्थापत्यकला के क्षेत्र में अशोक ने सबसे पहले पत्थर का उपयोग किया। साहित्य में हम ७ खंड के भवनों और शानदार महलों का वर्णन पाते हैं, किन्तु उनका कोई भी चिह्न अब नहीं मिलता। मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त के राजमहल का ऐसा वर्णन किया है कि परसेपोलिस को छोड़ कर, जिसके नमूने पर यह राजमहल बना है, फारस में इसकी बराबरी का और कुछ भी नहीं है। फारस का यह प्रभाव अशोक के समय तक था। उसके

महल के निचले भाग के नक्शे में उसके दर्शन होते हैं। यह महल परसेपोलिस के एक सौ स्तम्भों के हाल के नमूने पर बना था। यह प्रभाव लौरिया के अशोक स्तम्भ पर भी दृष्टिगोचर होता है जिस पर सिंह बने हुए हैं।

अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी हो जाने से भारतीय स्थापत्यकला इस विदेशी प्रभाव से मुक्त होने लगी। उसने अपने प्रतीक और प्रेरणा नये धर्म से ग्रहण करना प्रारम्भ किया। यह संक्रमण उस स्तम्भ के ऊपरी भाग से प्रकट होता है जो सारनाथ के दूसरे अशोक स्तम्भ का एक मात्र अवशिष्ट चिन्ह है। सर जान मार्शल ने आश्चर्यजनक प्रवीणता की दृष्टि से इसे प्राचीन विश्व में इस तरह की किसी भी वस्तु की बराबरी पर माना है। इस स्तम्भ के ऊपर रक्षा के लिए चार सिंह चारों ओर को मुँह करके खड़े हैं। आकृति की दृष्टि से इस पर पूरा फारसी प्रभाव है। किन्तु इन सिंहों के नीचे सुन्दर आकृतियों से ऐसा सजाया हुआ भाग है जो पूर्णतः भारतीय है। इसमें शुद्ध भारतीय प्रतीक हाथी और बुद्ध का धर्मचक्र बना है। इस सँवारे हुए भाग के नीचे पत्थर का कमल है, जिसे पहले गल्ती से फारसी शैली के घण्टे के ऊपर आधृत स्तम्भ खण्ड समझा जाता था। किन्तु अब इसे भारतीय कला के प्रतीकों में सर्वाधिक पुरातन सार्वत्रिक एवं विशिष्ट समझा जाता है। पद्म की पंखुड़ियों को नीचे करके ऊपर की ओर कमलगट्टे को दरसाया गया है, जो विश्व के गर्भाशय का प्रतीक था या प्रकृति की एक सर्वोत्तम कृति के रूप में यह देवता के आसन के रूप में था। कमल बौद्ध धर्म के साथ चीन और जापान में भी पहुँचा और वहाँ की कलाओं में अपनी पैठ जमायी। खिड़कियों और दरवाजों की परिकल्पना (डिजाइन) के रूप में इसी तरह की आकृति अशोक कालीन द्वारों और गुम्बदों के अश्वनाल सदृश मेहराब में परिणत हुई, जो मूलतः गोलाई में मुड़े बाँसों पर बने हुए बंगाल के छप्परों के नमूने पर आधृत थे।

बौद्धकाल की धार्मिक स्थापत्यकला के अब कुछ नष्ट-भ्रष्ट मन्दिर और कई स्तूप तथा रेलिंगें और बची हैं। बौद्धों के पहले स्तूप समाधि स्थल पर बनाये जाया करते थे। बौद्धों के युग में वे स्मारक स्तूप बन गये, जिनमें प्रायः बौद्ध महात्माओं के अस्थि अवशेष रखे जाया करते थे। अक्सर स्तूप ईंट की गुम्बद की तरह बनते थे जिसके ऊपर शिखर होता था तथा चारों ओर पत्थर की नक्काशीयुक्त बाड़ बनी होती थी। एक सबसे प्राचीन स्तूप भरहुत में है, किन्तु वहाँ जो नक्काशी हुई है उसमें बारीकी का बहुत अभाव है। सबसे सुन्दर रेलिंग या बाड़ अमरावती में है। यहाँ १७ हज़ार वर्ग फुट पत्थर पर इतनी बारीक और सुन्दर नक्काशी हुई थी कि फर्गुसन ने उसे "भारत की सम्भवतः सर्वाधिक उल्लेखनीय स्मारककृति" करार दिया था। स्तूपों में सर्वाधिक प्रसिद्ध भोपाल के निकट स्थित सांची का स्तूप है। पत्थर के द्वारों पर स्पष्ट रूप से लकड़ी के द्वारों पर की जानेवाली नक्काशी की अनुकृति उतारी गयी है। स्तंभों, स्तंभों के शिखर भागों, एक दूसरे के आर-पार जानेवाले टुकड़ों और टेउकों (अवलम्बों) का एक-एक फुट जगह की नक्काशी करके वृक्ष, पशु, मानव और देव बनाये गये हैं। पूर्वी प्रवेश द्वार पर बौद्ध धर्म का सार्वकालिक प्रतीक बोधिवृक्ष, और तथागत के बोधि प्राप्ति के दृश्य अंकित हैं। उसी द्वार पर आकर्षक ढंग से दरवाजा खोलते हुए एक पक्षी बनी है जिसके मोटे-मोटे अंग, भारी नितम्ब, पतला कटि प्रदेश तथा बड़े-बड़े स्तन हैं।

एक ओर जहाँ निर्वाण प्राप्त महात्मा स्तूपों में शयन कर रहे थे वहीं दूसरी ओर जीवित भिक्षु पहाड़ों को काटकर विहार बना रहे थे जहाँ वे दुनिया के झंझटों और सूर्य की चमक तथा गर्मी से बचकर एकान्त में आराम से और शान्तिपूर्वक रह सकें। भारत

की धार्मिक प्रवृत्ति को हम इस वात से जान सकते हैं कि जैनों, ब्राह्मणों और अधिकांशत: वौद्धों के लिए गुफाओं में वने हुए हज़ारों मन्दिरों में वारह सौ से अधिक मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। इन विहारों का प्रवेश द्वार प्राय: अश्वनाल या अर्द्ध कमल के आकार का होता था। कहीं कहीं पर (जैसा कि नासिक में है) प्रवेश द्वार पर मज़वूत स्तम्भ तथा शिखर भाग पर पशु मूर्ति से मुक्त खम्भे होते थे। कहीं-कहीं द्वार पर वड़ी होशियारी से नक्काशी की हुई होती थी। अक्सर खम्भों, पत्थर की पट्टियों या सराहनीय परि-कल्पना की ड्योढ़ियों से सुशोभित रहते थे। भीतरी भाग में एक चैत्य होता था। इन चैत्यों में स्तम्भ पंक्ति होती थी जो मध्य भाग को प्रदक्षिण मार्ग से पृथक करती थी। दोनों ओर भिक्षुओं की सावना के लिए कोठरियाँ, तथा अन्त में विल्कुल भीतर* पूजा की वेदिका होती थीं जिसमें किसी महात्मा का अस्थि अवशेष रखा रहता था। गुफाओं में निर्मित इन विहारों में से एक सवसे पुराना और सम्भवत: सवसे सुन्दर विहार पूना और वम्वई के वीच कार्ले में है। यहाँ हीनयान वौद्ध धर्म ने सर्वोत्तम कलाकृति प्रस्तुत की।

अजन्ता की गुफाएँ महत्तम वौद्ध चित्रों को छिपा रखने का स्थान होने के अलावा आधो चित्रकला और आधी स्थापत्यकला की मिश्रित कला में, जो भारतीय मन्दिरों की विशेषता है, कार्ले की कोटि में आती हैं। गुफा नम्वर १ और २ में विस्तृत सभा कक्ष हैं जिनकी छत का निचले भाग, जो मर्यादापूर्ण होने के साथ ही ललित परिकल्पनाओं से वने और रँगे हुए हैं, मजवूत और अलंकृत खम्भों के ऊपर हैं। ये खम्भे नीचे चौकोर और ऊपर गोल है। इन्हें फूलों की नक्काशी करके सजाया गया है और ऊपर शानदार शिखर वना हुआ है। गुफा नम्वर १९ अपने एक खण्ड के लिए प्रसिद्ध है जो मोटी मूर्तियों और पेचीदी नक्काशी से सुशोभित है। गुफा नम्वर २६ में नक्काशी से सजी हुई दीवार के सामने वड़े-वड़े खम्भे हैं। इस दीवार पर ऐसी आकृतियाँ खँचित हैं जिन्हें अत्यधिक धार्मिक तथा कलात्मक उत्साह से ही इतनी सूक्ष्मताओं के साथ वनाना सम्भव हुआ होगा। कला के इतिहास में अजन्ता को विश्व की प्रमुख कृतियों की पंक्ति में आने से वंचित नहीं किया जा सकता।

भारत में अव भी विद्यमान दूसरे वौद्ध विहारों में सर्वाधिक आकर्षक है वोध गया के मन्दिर का महान् शिखर जो अपने गोथिक महरावों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। फिर भी यह मन्दिर प्रथम शताब्दी के पहले का है। वौद्ध स्थापत्यकला के सभी अवशेष खण्डित हैं और गौरव की दृष्टि से उनका महत्त्व मूर्तिगत अधिक और भवनगत कम है। उस समय तक किसी प्रकार चली आ रही कट्टरवादिता ने उन कृतियों को वाहर से नग्न और इस प्रकार का रखा कि लोग उधर के लिए न दौड़ें। जैनों ने स्थापत्य कला की ओर अधिक लगन से ध्यान दिया। ११वीं और १२वीं शताब्दियों में उनके मन्दिर भारत में सर्वोत्तम थे। उन्होंने कोई अपनी शैली नहीं वनायी। उन्होंने पहले (एलौरा की तरह) पहाड़ की चट्टानों को काटकर मन्दिर वनाने के वौद्ध ढंग को अपनाया और उसके वाद विष्णु और शिव के ढंग के मन्दिर वनवाये, जो पहाड़ों पर दीवारों से घिरे हुए होते थे। वे मन्दिर भी वाहर से तड़क-भड़क रहित होते थे किन्तु भीतर इनकी कला वहुत पेचीदी और उच्च कोटि की होती थी। यह सरल जीवन का अच्छा प्रतीक था। इन

---

*ईसाई गिर्जाघरों और इस आन्तरिक भाग के एक जैसा होने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ की ईसाई स्थापत्य कला पर सम्भवत: हिन्दू शैली का प्रभाव पड़ा था।

मन्दिरों में भक्ति-भावना से एक के बाद एक जैन वीरों की मूर्ति रखी जाती रही। शत्रुंजयों के वर्ग में फर्गुसन ने इस तरह की ६४४९ मूर्तियों की गणना की थी।

ऐहोल का जैन मन्दिर प्रायः पूर्ण रूप से यूनानी शैली का है जिसका आकार समकोणिक है, वाहर खम्भों की कतार है, एक ड्योढ़ी बनी हुई है और भीतर कोठरी या केन्द्रीय कक्ष बना हुआ है। खजुराहों में जैनों, वैष्णवों और शैवों ने, मानो हिन्दू धर्म की सहिष्णुता का प्रदर्शन करने के लिए बिल्कुल पास-पास २८ मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों में प्रायः पूर्ण प्रवीणता की कृति पार्श्वनाथ का मन्दिर है, जो एक के ऊपर एक शंकु (Cone) पर बहुत ऊँचाई तक बना हुआ है। इसके नक्काशी किये हुए तलों के नीचे जैन सन्तों का जमाव है। मरुस्थल में चार हज़ार फुट ऊँचे माउण्ट आबू में जैनों ने अनेक मन्दिर बनवाये, जिन में से दो अब भी बचे हुए हैं। विमला और तेजपाल के ये दो मन्दिर कला के क्षेत्र में जैन सम्प्रदाय की सबसे बड़ी उपलब्धि हैं। तेजपाल मन्दिर का गुम्बद देखकर जो अनुभव होता है उसके आगे कला के बारे में सारा लेखन निरर्थक और प्रभावहीन हो जाता है। पूर्ण रूप से संगमरमर का बना हुआ विमला मन्दिर अनियमित खम्भों की भूलभुलैया है। वे खम्भे बहुत सुन्दर दीवारगीर कोष्टक (bracleet) से सीधे-सादे नक्काशीदार ढाँचे से जुड़े हुए हैं। ऊपर पत्थर का गुम्बद है जो निर्माण कला में अत्यधिक श्रेष्ठ है; उस में पत्थरों की नक्काशी बहुत हृदयाकर्षक है। फर्गुसन का मत है कि "इस गुम्बद का छोटे से छोटा काम भी इतनी बारीकी एवं प्रवीणता और आभूषण की उपयोगिता का ध्यान रख कर किया गया है कि कहीं की भी इस तरह की कोई कृति शायद ही इस से श्रेष्ठ हो। हेनरी सप्तम के वेस्ट मिंस्टर गिर्जे या आक्सफोर्ड की गोथिक स्थापत्य कला इसकी तुलना में भद्दी और घटिया है।"

इन जैन मन्दिरों और इनके समकालिक मन्दिरों में हमें बौद्ध विहारों के गोलाकार आकार से मध्यकालिक भारत की शिखर शैली की ओर संक्रमण के दर्शन होते हैं। चैत्य का खम्भों से घिरा मध्य भाग इस में आगे तक चला जाता है, जहाँ वह मण्डप का रूप ले लेता है। इसके पीछे पूजागृह होता है, जिसके ऊपर ऊँचाई तक नक्काशी किया हुआ शुग्गकारक शिखर चला जाता है। उत्तर भारत के मन्दिर इसी ढंग पर बनाये गये। इस कोटि के सर्वाधिक आकर्षक मन्दिर भुवनेश्वर (उड़ीसा) में हैं और उनमें भी सर्वोत्तम है ११वीं शताब्दी में निर्मित विष्णु का राजारानी मन्दिर। इसका शिखर बहुत विशाल है और निकट-निकट लगे हुए अर्द्धवृत्ताकार खम्भों से बना है। ऊपर मूर्तियाँ बनी हैं तथा पत्थर का शिखर मुण्डाकार होता गया है। अन्दर की ओर संकुचित होते हुए पूरे शिखर के ऊपर गोलाकार मुकुट और गुम्बद का निर्माण हुआ है। पास में ही लिंगराज मन्दिर है, जो राजारानी मन्दिर से बड़ा है, किन्तु उतना सुन्दर नहीं है। फिर भी लिंगराज मन्दिर के एक-एक इंच खण्ड पर शिल्पकार की छेनी लगी है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि मन्दिर के ढाँचे के निर्माण में जितना खर्च हुआ उसका तिगुना खर्च उसकी नक्काशी में हुआ है। हिन्दुओं ने अपने मन्दिरों को शानदार रूप देकर ही अपनी धर्म प्रियता प्रकट नहीं की बल्कि मन्दिरों की छोटी सी छोटी चीज में बहुत बारीकी से कला प्रदर्शित की। आराध्यदेव के लिए इस से अच्छी भेंटें और क्या हो सकती थीं।

विशेष विवरण और फोटोग्राफ प्रस्तुत किये बिना उत्तर भारत के अन्य सर्वोत्तम हिन्दू भवनों की सूची प्रस्तुत करना ठीक न होगा। फिर भी भारतीय सम्यता का इतिहास कोजार्क और मुढेरा के सूर्य मन्दिर, जगन्नाथपुरी के मन्दिर के शिखर, बादनगर के सुन्दर प्रवेशद्वार, ग्वालियर के सास बहू मन्दिर, तेली का मन्दिर और राजा मानसिंह

के राजमहल तथा चित्तौड़ के विजय स्तम्भ को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकता। इन सब से निराले खड़े हैं खजुराहो के शैव मन्दिर। वहीं के कुंवर मठ का मण्डप भी भारतीय स्थापत्यकला का पौरुष और नक्काशी की प्रवीणता प्रदर्शित कर रहा है। एलिफैण्टा का विशाल नक्काशीदार खम्भों का शिव मन्दिर. उसके स्तम्भों के पृथक पड़े हुए ऊपरी भाग, उसकी अप्रतिभ नक्काशी तथा प्राणवान् मूर्तियाँ अपनी विनष्टावस्था में भी हमें वता रही हैं कि भारत में राष्ट्रीय नवजीवन और कलात्मक प्रवीणता का एक युग था, जिसकी शायद ही कोई स्मृति वनी हो।

हम भारतीय कला के प्रति कभी भी इसलिए न्याय न कर पायेंगे कि अज्ञान और धर्मान्धता ने उसकी महत्तम उपलव्धियों को नष्ट कर दिया और शेष कृतियों को खण्डहर वना डाला। एलिफैण्टा में पुर्तगालियों ने मूर्तियों और नक्काशी की कृतियों को स्वच्छन्द वर्वरता से तोड़ कर अपनी पवित्र भावना का परिचय दिया। उत्तर भारत में मुसलमानों ने प्रायः सर्वत्र पाँचवीं और छठीं शताव्दियों की भारतीय स्थापत्यकला की उन महान् कीर्त्तियों को धराशायी कर दिया जो वताया जाता है कि हमें आश्चर्य में डाल देनेवाली वाद की कृतियों से कहीं वढ़चढ़ कर थीं। मुसलमानों ने मूर्तियों को विनष्ट कर डाला, उनके एक-एक अंग तोड़ डाले और फिर उन से अपनी मस्जिदें वनवायीं। उन्होंने वहुत अंश तक जैन मन्दिरों के आकर्षक खम्भों की नकल की। इस विनाशकार्य में समय और धर्मान्धता दोनों ने हाथ मिलाया, क्योंकि विदेशियों के स्पर्श के कारण अपवित्र मन्दिरों को पुराण पंथियों ने छोड़ दिया।

उत्तर भारत की स्थापत्यकला के विगत गौरव का अनुमान हम उन विशाल और मोहक भवनों तथा मन्दिरों से लगा सकते हैं, जो दक्षिण भारत में आज भी वचे हुए हैं, जहाँ मुसलमानों का शासन बहुत कम तथा हिन्दू तौर तरीकों के प्रति मुसलमानों का द्वेष भारत में कुछ दिन रहने के वाद घट चुका था। इसके अलावा दक्षिण भारत में मन्दिरों की निर्माण कला का महान युग सोलहवीं और सत्रहवीं शताव्दियों में आया, जब अकवर मुसल्मानों को कुछ संयमशील वना चुका और भारतीय कला की अच्छाइयों से अवगत करा चुका था। इसीलिए दक्षिण भारत में मन्दिरों का वाहुल्य है, जो उत्तर भारत में वचे हुए मन्दिरों से आमतौर पर श्रेष्ठता और अधिक विशाल एवं आकर्षक हैं। फर्गुसन ने ऐसे करीव ३० द्रविड़ मन्दिरों की गणना की थी, जिनका व्यय उनके अनुमान के अनुसार एक इंगलिश कैथेडरल से अधिक होगा। दक्षिण भारत ने मण्डपम् के वजाय गोपुरम रखकर और मण्डपम् को सँभालने के लिए अनेक अतिव्ययी स्तम्भ लगा कर उत्तर भारत की शैली अपनायी। उसने स्वस्तिक[1] से लेकर पवित्र पशुओं तक अनेक प्रतीक भी अपनाये। सर्प हताहत करने की अपनी क्रिया से जो पुनर्जन्म का प्रतीक था, वैल उत्पादन शक्ति का आदर्श था, शिव लिंग की सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक और प्रायः उसी के आधार पर मन्दिर की आकृति भी हुआ करती थीं।

इन दक्षिण भारतीय मन्दिरों के ढाँचे की योजना में तीन वातें काम करती थी गोपुरम्, स्तम्भों पर आधृत मण्डपम् और पूजा गृह। मदुरा के तिरुमल-नामक महल जैसी कुछ कृतियों को छोड़ दिया जाय तो दक्षिण भारत की यह सारी स्थापत्यकला धार्मिक थी। वनानेवाले यह गर्व नहीं करते थे कि यह शानदार भवन या मन्दिर हमारे हाथ की कृति है। वे अपनी कला व्राह्मणों, पुजारियों और देवता को अर्पित करते थे।

---

[1] स्वस्तिक कल्याण का चिह्न है और आदिम तथा आधुनिक दोनों तरह के मानव समाजों में इसका प्रचलन है।

दूसरा कोई भी कार्य इस बात का इतना अच्छा प्रमाण नहीं दे सकता कि भारत की सरकार कितनी धर्मवादी थी। चालुक्य राजाओं और उनकी प्रजा ने जो अनेक भवन बनवाये उनमें से मन्दिरों के अलावा अब कुछ भी नहीं बचा है। हैदराबाद के निकट इटागी के मन्दिर[1] या मैसूर में सोमनाथपुर के मन्दिर में जो सुन्दर प्रतिसाम्य हैं, उनका वर्णन शब्दों का आचार्य कोई धर्म प्राण हिन्दू ही कर सकता है। इन मन्दिरों में बड़े-बड़े पत्थरों पर जरी के काम की तरह बहुत बारीक नक्काशी की गयी है। यही बात मैसूर राज्य के ही हालेबीडस्थित मन्दिर की भी है, जो फर्गुसन के मतानुसार—एक ऐसा भवन है जिसे हिन्दू स्थापत्यकला की वकालत करनेवाला अपने मत के पक्ष में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना चाहेगा। "इस मन्दिर में बेंड़ी रेखाओं का ऊर्ध्वमान रेखाओं से ऐसा कलापूर्ण मेल तथा रूपरेखा, प्रकाश एवं छाया का ऐसा प्रदर्शन हुआ है कि गोथिक कला की कोई भी चीज उससे पीछे रह जाती है। इसकी प्रभावकारिता वही है जो मध्यकाल के कलाकार चाहते थे किन्तु जिसे वे हालवीड़ के मन्दिर की तरह प्रवीणता से प्रस्तुत नहीं कर सके।"

जब हमें उस श्रमशील धर्म भावना पर आश्चर्य होता है जिसने हालवीड मन्दिर में १८ सौ फुट सजावटी भाग की नक्काशी कर सकता और उनमें दो हज़ार ऐसे हाथी बना सकता था जो एक दूसरे से भिन्न थे तो हम उस धैर्य और साहस के विषय में क्या कहेंगे जिसने ठोस चट्टान को काटकर पूरा मन्दिर निर्मित किया? किन्तु यह हिन्दू शिल्पकार की साधारण सफलता थी। पूर्वी तटपर मद्रास के निकट मयलापुरम में इन शिल्पकारों ने पत्थर काटकर अनेक 'रथ' या पगोडा बनाये जिन में सब से सुन्दर धर्मराज रथ है। धार्मिक तीर्थ स्थान एलौरा में बौद्धों, जैनों और पुरातनवादी हिन्दुओं में पहाड़ों की चट्टानों को काटकर एक पत्थर के मन्दिर बनाने की प्रतिस्पर्द्धा मच गयी। इन मन्दिरों में सर्वोत्तम कृति है, कैलास जिसका नामकरण भगवान शिव के हिमालय स्थित वासस्थान के नाम पर हुआ है। यहाँ क्लान्तियुक्त निर्माताओं ने २५० फुट लम्बे और १६० फुट चौड़े खण्ड को पृथक रखने के लिए एक सौ फुट नीचे तक पत्थर की कटाई की। इसके बाद उन्होंने दीवारों को काट कर मजबूत खम्भे बनाय, मूर्तियाँ बनायीं और नक्काशी का काम किया। उन्होंने छेनी से अन्दर का भाग काटा और वहाँ बहुत निश्चिन्तता से आश्चर्यजनक कला की सृष्टि की।

इसका एक नमूना है 'प्रेमी' भित्तिचित्र। उनके हृदय में शिल्पकला की लगन अब भी समाप्त नहीं हुई थी; उन्होंने मूल स्थान के तीन ओर गहराई तक चट्टानों की कटाई करके चैत्यालय तथा मठ बनाये। कुछ हिन्दुओं का विचार है कि कैलास मन्दिर कला के इतिहास में किसी भी उपलब्धि के बराबर है।

पिरामिडों की तरह ऐसे विशाल ढाँचों का खड़ा करना बहुत चतुराई तथा परिश्रम का काम था और इस में अनेक व्यक्तियों का खून और पसीना लगा होगा। या तो कलाकारों की श्रेणियाँ (guilds) नहीं थकीं या बनवाने वाले नहीं थके, क्योंकि उन्होंने दक्षिण भारत के प्रत्येक प्रदेश में विशाल मन्दिरों का इतना बड़ा जाल बिछा दिया

---

[1] मीडोज टेलर का कहना है कि "यहाँ कुछ स्तम्भों और दरवाजों के ऊपर लगे पत्थर तथा चारों ओर के भागों में जो नक्काशी हुई है उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। चाँदी या सोने में नक्काशी का कोई भी काम इससे सुन्दर नहीं हो सकता। इतना कठोर पत्थर किस औजार से कटा और पालिस किया गया होगा, यह सब इस युग में समझ में नहीं आता।"

कि विद्यार्थी उससे भौचक्का रह जाता है, यात्री उनकी संख्या और आकर्षणशक्ति के आगे उनकी अलग-अलग विशिष्टताओं को भूल जाता है। पट्टाऽकाल में चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय की एक रानी लोक महादेवी विरुपाक्ष मन्दिर बनवा कर भगवान शिव को समर्पित किया। यह मन्दिर भारत के महान देवालयों में बहुत ऊँचा स्थान रखता है। चोलराजा राजराज महान ने दक्षिण भारत तथा लंका को जीतने के बाद विजय में प्राप्त हिस्से के रूप में दक्षिण तंजोर में बहुत शानदार मन्दिर बनवाया।* तंजोर के पश्चिम तिरुचनापल्ली के निकट एक सुन्दर पहाड़ी पर विष्णु के भक्तों ने श्रीरंगम मन्दिर बनवाया जिसकी विशिष्टता थी "हज़ार स्तम्भों के हाल" की तरह अनेक स्तम्भों पर आधृत मण्डपम्। प्रत्येक स्तम्भ एक ग्रेनाइट पत्थर का है और उसपर काफी नक्काशी की गयी है। हिन्दू शिल्पकार मन्दिर पूरा करने के लिए उस समय भी काम पर लगे हुए थे जब भारत पर आधिपत्य के लिए लड़ रहे फ़ान्सीसियों और अंग्रेजों की गोली ने उनका काम बन्द करके उन्हें तितर-बितर कर दिया। पास में ही मदुरा में भुत्तू और तिरुमल नामक बन्धुओं ने शिव का एक बहुत विस्तृत मन्दिर और उसके साथ एक हज़ार खम्भों का एक दूसरा हाल, पवित्र सागर और दस गोपुरम बनवाये। इन में से चार गोपुरम बहुत ऊँचे हैं और उनमें नक्काशी करके मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। ये विशाल मन्दिर भारत के सब से प्रमाणोत्पादक दर्शनीय स्थान हैं। इधर-उधर बिखरी अवस्था में अवशिष्ट इन कृतियों से हम समझ सकते हैं कि विजय नगर के राजाओं की भवन-निर्माण कला कैसी थी। लंका और भारत के बीच आदम के पुल के रूप में इधर-उधर फैले हुए द्वीपों के समूह के बीच रामेश्वरम् में दक्षिण भारत के ब्राह्मणों ने पाँच शताब्दियों (१२०० से १७६९ ई०) के श्रम से मन्दिर बनाया। इसकी परिधि ऐसे अत्यधिक आकर्षक गलियारों से सुशोभित है जिसमें दोनों ओर चार हज़ार फुट तक बहुत सुन्दर नक्काशीदार दोहरी स्तम्भपंक्ति बनी हुई हैं। यह गलियारा उन लाखों तीर्थयात्रियों को ठण्डी छाया और सूर्य तथा समुद्र के प्रेरणाप्रद दर्शन के लिए बना है जो आज तक दूर-दूर के नगरों से भगवान शिव के चरणों पर अपनी आशाओं और आपदाओं की भेंट चढ़ाने के लिए आते हैं।

(ख) 'औपनिवेशिक' स्थापत्यकला

श्री लंका; जावा; कम्बोडिया; ख्मेर; उनका धर्म; अंकोर; ख्मेरों का पराभव; स्याम; वर्मा।

इस बीच भारतीय कला भारतीय धर्म के साथ देश की सीमा के बाहर श्री लंका, जावा, कम्बोडिया, स्याम, वर्मा, तिब्बत, खोतान, तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान तक पहुंच गयी; "एशिया में सभी पथ भारत की ओर जाते हैं।" ईसा से पाँच सौ शताब्दी पहले हिन्दू लोग गंगा की घाटी से जाकर भी लंका में बस गये थे। उसके दो सौ वर्ष बाद अशोक ने अपने एक पुत्र और एक पुत्री को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के लिए श्री लंका भेजा। लंका को तमिल आक्रमणों का सामना

---

*मन्दिर का शिखर पत्थर के २५ फुट चौकोर पत्थर का है। उसका वजन कोई ८० टन है। हिन्दुओं के कथन के अनुसार इसे ४ मील तक तिरछी हालत में करके यहाँ तक लाया गया। ऐसे कामों में "मानव को दास बनाने वाली" मशीन के बजाय शायद बेगार ली जाती थी।

करने के लिए यद्यपि पन्द्रह शताब्दियों तक लड़ना पड़ा तथापि १८१५ में ब्रिटिश अधिकार में जाने के समय तक उसने अपनी उच्च संस्कृति को सुरक्षित बनाये रखा।

सिंहली कला दहोवा के साथ शुरू हुई जो उत्तर भारत के बौद्ध स्तूपों की तरह होते हैं। फिर इस कला ने ऐसे बड़े-बड़े मन्दिरों की सृष्टि की जिनके अवशेष आज भी देश की प्राचीन राजधानी अनुराधपुर में विद्यमान हैं। श्री लंका में बुद्ध की कुछ सर्वोत्तम मूर्तियों और अनेक कला-कृतियों का निर्माण हुआ। फिर कुछ समय के लिए, जब श्री लंका के महान राजा कीर्ति श्री राजसिंह ने काण्डी का दन्त मन्दिर बनवाया, इस कला का अन्त हो गया। देश के स्वतंत्र न रह जाने से उच्च वर्गों का पतन हुआ; कलाकारों को जिस संरक्षण और रुचि से प्रेरणा तथा संयम मिलता है वह संरक्षण और रुचि श्री लंका से लुप्त हो चुकी थी।

यह कथन बहुत विचित्र लगेगा कि सबसे बड़ा बौद्ध मन्दिर—कुछ विद्यार्थी इसे विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर कहेंगे—भारत में नहीं जावा में है। आठवीं शताब्दी में सुमात्रा के शैलेन्द्र वंश ने जावा को विजित किया, बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाया और बोरोबुदुर (अनेक बुद्ध) के विशाल देवालय का निर्माण कराया। मुख्य मन्दिर आधुनिक आकार और विचित्र परिकल्पना का है—एक गुम्बदनुमा स्तूप चारों ओर एक केन्द्र की परिधि में बने हुए ७२ छोटे स्तूपों से घिरा हुआ है। यदि इतना ही हो तो बोरोबुदुर कुछ भी नहीं है। विशाल मन्दिर का जिस चीज से गौरव है वह है उसकी कुर्सी, जो चार सौ वर्गफुट में एक के ऊपर एक ७ प्रक्रमों में बहुत बड़ा 'मस्तबा' है। हर मोड़ पर मूर्ति के लिए ताखें हैं। बोरोबुदुर के मूर्तिकारों ने ४३६ बार बुद्ध की आकृति की नक्काशी करना उचित समझा। इससे भी सन्तोष न होने पर उन्होंने हर प्रक्रम (stage) में, जो कुल मिलाकर तीन मील लम्बा होगा, नक्काशी करके तथागत के जन्म, युवावस्था और बोध प्राप्ति का अंकन किया। इस काम को उन्होंने इतनी प्रवीणता से किया कि उभाड़ी हुई नक्काशी का यह काम एशिया में नक्काशी में सर्वोत्तम कामों में माना जाता है। इस विशाल एवं आकर्षक बौद्ध मन्दिर तथा पास में स्थित परम्बनाम के ब्राह्मण मन्दिरों से जावा की स्थापत्य कला अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच गयी। उसके बाद ही बहुत जल्दी उसका पराभव हो गया। द्वीप कुछ समय के लिए समुद्री शक्ति बन गया, सम्पत्ति तथा आमोद प्रियता वहाँ खूब बढ़ी और अनेक कवियों का भरण-पोषण होने लगा किन्तु १४७९ में मुसलमान भूमध्य रेखावर्ती इस स्वर्ग में बसने लगे, जिसके बाद से इसने कोई भी महत्त्वपूर्ण कलाकृति नहीं की। १५९५ में डच इस द्वीप पर झपट पड़े और एक के बाद एक प्रान्त को हड़पते हुए पूरे द्वीप पर अपना अधिकार जमा बैठे।

बोरोबुदुर से बढ़कर केवल एक हिन्दू मन्दिर है, और वह भी भारत से बहुत दूर। वह सचमुच उस दूर जंगल में खो गया है जिसने शताब्दियों तक उसे अपने बीच छिपाये रखा था। १८५८ में एक फ़्रान्सीसी अन्वेषक ने मेकांग नदी की धारों में से गुजरते वृक्षों और झाड़ियों के बीच से उसकी झलक देखी। उसे झलक चकमका देने वाली लगी। शानदार परिकल्पना का एक विशाल मन्दिर जंगल के बीच झाड़-झंखाड़ और पेड़ पत्तों से घिरा और प्रायः ढका हुआ था। उस दिन उस फ़्रान्सीसी अन्वेषक ने अनेक मन्दिर देखे, जिनमें से कई बहुत पुराने हो गये थे और उनके भाग वृक्षों से अलग-अलग हो चुके थे। ऐसा लगा कि जैसे वह मानव की इन कृतियों पर निर्जनता की विजय देखने के लिए आया है। दूसरे योरोपीय भी आये और उन्होंने हेनरी मोहो (Henre Mouhot) के समक्ष वही कहानी दुहरायी। इसके बाद

एक समय उस शान्त स्थान में वैज्ञानिक अन्वेषक मण्डल भेजा गया और पेरिस का पूरा प्राच्य अध्ययन विद्यालय (L' Ecole de L' Extrem Orient) चार्ट बनाने और अध्ययन करने में संलग्न हो गया। अंकोर वाट आज विश्व के आश्चर्यों में है।*

ईसाई युग के प्रारम्भकाल में हिन्दचीन या कम्बोडिया में एक ऐसी जाति बसी हुई थी जो प्रधानतः चीनी और अंशतः तिब्बती थी और अपने को कम्बुज या ख्मेर कहती थी। कुबले खाँ का राजदूत चिउ ता कुआन जब ख्मेर की राजधानी अंकोर धाम पहुँचा तो उसने वहाँ एक मजबूत सरकार देखी जो वन और श्रम से सम्पत्तिशाली बने हुए देश पर शासन कर रही थी। चिउ ने कुबले खाँ को रिपोर्ट दी कि ख्मेर राजा के पाँच पत्नियाँ हैं—"एक विशिष्ट और शेष चार चारों दिशाओं में रहने के लिए" इनके साथ कोई चार हज़ार रखैल स्त्रियाँ अधिक सही पढ़ने के लिए हैं। सोने और आभूषणों का बाहुल्य था, झील में सैर-सपाटे के लिए नावें फैली रहती थीं, नगर की सड़कें रथों, परदा पड़ी हुई पालकियों और सजे हुए हाथियों से भरी रहती थीं। देश में लगभग दस लाख निवासी थे। अस्पताल मन्दिरों के अन्तर्गत थे और उनमें अनेक परिचारिकाएँ तथा चिकित्सक रहते थे।

जनता यद्यपि चीनी थी किन्तु उसकी संस्कृति हिन्दू थी। उनका धर्म नाग की आदिम ढंग की पूजा पर आधृत था। नाग का पंखे जैसा सिर कम्बोडिया की कला में सर्वत्र देखने को मिलता है। उसके बाद बर्मा के रास्ते हिन्दुओं के त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रवेश हुआ। प्रायः इसी समय बुद्ध का भी आगमन हुआ, त्रिदेवों के साथ शामिल होकर उन्होंने ख्मेरों के प्रिय देवताओं की पंक्ति पूरी कर दी।

९वीं शताब्दी के अन्तिम काल में ख्मेरों ने अपना सबसे पुराना अवशिष्ट मन्दिर —बायोन—शिव को समर्पित किया जो अब बिल्कुल बेकार खण्डहर की अवस्था में है और घास फूस से ढँक चुका है। बिना सीमेण्ट के लगी हुई ईंटें हज़ार वर्ष की अवधि के बाद एक दूसरे से अलग हो गयीं और इस दरार के कारण ब्रह्मा और शिव के वे देव रूप बीभत्स हो गये हैं जिनके रूप में शिखर बना है। तीन शताब्दी बाद राजा के दासों और युद्धबन्दियों ने अंकोरवाट का निर्माण किया, जो इतनी उन्नत कलाकृति है कि स्थापत्य कला में मिस्रियों, यूनानियों और यूरोप के कैथेडरल निर्माताओं की उच्चतम उपलब्धियों की बराबरी करती है। मन्दिर के चारों ओर बारह मील लम्बी एक बड़ी खाई है। खाई के ऊपर फर्श लगा हुआ एक पुल है, जिस पर पत्थर के नाग रक्षक के रूप में फण उठाये हुए हैं। उसके बाद खूबसूरत चहारदीवारी और विस्तृत दीर्घाएँ हैं जिनकी नक्काशी में रामायण और महाभारत की कहानियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। उसके बाद शानदार देवालय है, जो विस्तृत पेंदे पर एक के बाद एक प्रक्रम से देवमूर्ति तक दो सौ फुट ऊँचा है। यहाँ विशालता सौन्दर्य से पृथक नहीं होती, बल्कि उसे ऐसा आकर्षक रूप प्रदान करती है कि पश्चिमी भूखण्ड के निवासियों का सिर चकरा जाता है और वे सोचते हैं कि पूर्वी सभ्यता पुरातनकाल में कितनी गौरवशाली थी। कल्पना में दर्शक राजधानी की भारी आबादी, बड़े-बड़े पत्थरों को काटते, खींचते और उठाते हुए समय से कभी पीछे न पड़ने की भावना के साथ दास, नक्काशी करते तथा मूर्ति

---

*१९०४ में एक पुर्तगाली मिशनरी ने बताया था कि उसे कुछ शिकारियों ने जंगल में नष्टावशेष होने की सूचना दी है। इसी तरह की रिपोर्ट १६७२ में एक और पादरी ने दी थी, किन्तु इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

की छँटाई करते हुए शिल्पकार, जनता को छलते और सान्त्वना देते हुए धर्म गुरु, दूसरे लोगों को धोखा देती और धर्म गुरुओं को विश्वास दिलाती हुई दासियाँ (जो अब भी पत्थर पर चित्रित हैं), फीनियन अकास (Phinean-Akas) की तरह विस्तृत महल बनवाते हुए उच्च अभिजात तथा सबसे ऊपर और सबके श्रम से निर्मित शक्तिशाली और निरंकुश राजाओं की महान कृति देखता है।

राजाओं ने, जिन्हें अनेक दासों की आवश्यकता थी, अनेक युद्ध छेड़े। वे प्रायः विजयी होते थे, किन्तु तेरहवीं शताब्दी के अन्त के समय स्याम की सेना ने ख्मेरों को पराजित कर दिया, उनके नगर हिला दिये और मन्दिरों तथा महलों को विध्वंस कर दिया। आज कुछ यात्री इधर-उधर बिखरे पत्थरों के बीच खोज करते हैं और देखते हैं कि वृक्षों ने कितने धैर्य से अपनी जड़ें नीचे धँसा दी हैं या उनकी डालें किस चट्टानों के बीच चली गयी और धीरे-धीरे उन्हें इस लिए तोड़ डाला है कि पत्थर इच्छा नहीं कर सकते और न बढ़ सकते हैं। चिउ ता कुआन ने ऐसी अनेक पुस्तकों का उल्लेख किया है जिन्हें अंकोर के लोगों ने लिखा था, किन्तु आज उस साहित्य का एक पृष्ठ भी नहीं बचा है। हमारी तरह उन्होंने विनाशशील विचारों को विनाशशील चीजों पर लिखा, और उनकी सारी अमर कृतियाँ मिट गयीं। उभरी हुई सुन्दर नक्काशी में पुरुष और स्त्रियाँ मच्छरों और रेंगनेवाले छोटे-छोटे कीड़ों मकोड़ों से रक्षा के लिए ऊपर से आवरण और जालीदार कपड़ा डाले रखते थे। वे स्त्रियाँ और पुरुष इस संसार से कूच कर चुके हैं, उनकी आकृतियाँ, पत्थर पर जीवित हैं। मच्छर और छिपकलियाँ अभी बनी हुई हैं।

पास ही स्याम में आधी तिब्बती और आधी चीनी नस्ल की जनता ने धीरे-धीरे विजयी ख्मेरों को निकाल बाहर किया और हिन्दू सभ्यता तथा कला पर आधृत सभ्यता की परिणति की। कम्बोडिया से मुक्ति पाकर स्यामियों ने अपनी नयी राजधानी अयोध्या की स्थापना ख्मेरों के एक प्राचीन नगर के स्थान पर की। इस स्थान से उन्होंने अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। १६०० ई० के आसपास उनका साम्राज्य दक्षिणी बर्मा, कम्बोडिया और मलय प्रायद्वीप तक फैल गया। उनका व्यापार पश्चिम में यूरोप और पूर्व में चीन तक होता था। उनके कलाकार चमकदार अक्षर लिखते थे। काष्ठ पर मद्यसार में मिले वारनिश से रँगाई करते थे, चीनी शैली से चीनी मिट्टी का बर्तन पकाते थे, सुन्दर सिल्क में कसीदा काढ़ने के और कभी-कभी बहुत ही प्रवीणता के साथ नक्काशी की हुई मूर्तियाँ बनाते थे; इसके बाद इतिहास की पक्षपात रहित लय का वेग बढ़ा, बर्मियों ने अयोध्या पर अधिकार कर लिया और उसे उसकी सारी कला के साथ नष्ट कर डाला। स्यामियों ने अपनी नयी राजधानी बंकाक में एक विशाल पगोडा बनाया जिसकी अत्यधिक सजावट उसकी परिकल्पना के सौन्दर्य को छिपा नहीं सकी।

बर्मी एशिया के सबसे बड़े निर्माताओं में थे। इस देश की उपजाऊ भूमि में मंगोलिया और तिब्बत से आकर वे हिन्दुओं के प्रभाव में आये और पाँचवीं शताब्दी के बाद उन्होंने अगणित बौद्ध, वैष्णव और शैव मूर्तियों तथा महान पगोड़ों का निर्माण किया, जिनकी चरम परिणति आनन्द विहार के रूप में हुई, जो बर्मियों की पुरानी राजधानी पगान के पाँच हज़ार पगोडों में से एक है: पगान को कुबले खाँ ने बर्बाद कर डाला, जिसके बाद बर्मा की सरकार एक राजधानी से दूसरी राजधानी में पाँच सौ वर्ष तक हटती रही। एक समय माण्डले बर्मा के जीवन तथा कसीदाकारी और आभूषण निर्माण से लेकर राजमहल की सजावट तक अनेक क्षेत्रों में समर्थ कलाकारों

के केन्द्र के रूप में गौरव पर था। अपने मिशनरियों के और व्यापारियों के प्रति वर्मियों के व्यवहार से अप्रसन्न अंग्रेजों ने १८६६ में वर्मा को अधिकार में कर लिया और राजधानी माण्डले से हटाकर रंगून कर दी जो शाही नौ सेना के वल से अनुशासित किया जा सकता था। वहाँ वर्मियों ने अपना एक सर्वोत्तम श्वे डैगन पगोडा वनाया, जो प्रति वर्ष वर्मा के हज़ारों वौद्ध यात्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करता है, इसी मन्दिर में शाक्य मुनि के शिर के केश भी तो हैं।

३. भारत में मुस्लिम स्थापत्यकला

अफगान शैली; मुगल शैली; दिल्ली; आगरा; ताजमहल।

भारतीय स्थापत्यकला का अन्तिम गौरव मुगलों के संरक्षण में आया। मुहम्मद के अनुयायी ग्रैनाडा, काहिरा, येरुशलम, वगदाद जहाँ भी गये वहीं उन्हें सिद्ध किया कि वे निर्माण कला के आचार्य हैं। इससे यह आशा करना स्वाभाविक ही था कि भारत में अपनी स्थिति सुरक्षित कर लेने के वाद यह वीर जाति विजित प्रदेश में येरुशलम स्थित उमर की मस्जिद की तरह देदीप्यमान, काहिरा स्थित हसन की मस्जिद की तरह विशाल और अलहम्वरा की मनोहर मस्जिद की तरह मस्जिदें वनवायेगा। यह सत्य है कि 'अफगान' राजवंश ने हिन्दू शिल्पकारों का उपयोग किया। हिन्दू प्रवृत्तियों की नकल की और अपने भवन निर्माण के लिए हिन्दू मन्दिरों के खम्भों का उपयोग तक किया तथा वहुत-सी मस्जिदें नमाज के लिए हिन्दू मन्दिरों को परिवर्तित करके ही वनायी गयी थीं तथापि यह स्वाभाविक अनुकरण जल्दी ही समाप्त हो गया तथा ऐसी शैली का रूप ले लिया जो ठीक मूर शैली है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि ताजमहल ईरान, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन में न हो कर भारत में है।

खूबसूरत कुतुवमीनार इस संक्रमण का उदाहरण दे रहा है। यह एक मस्जिद का भाग था, जिसे पुराने दिल्ली में कुतुवुद्दीन ऐवक ने वनवाना शुरू किया था। इसका निर्माण हिन्दुओं पर खूँख्वार सुल्तान की विजय की यादगार के रूप में किया गया था। मस्जिद तथा मीनार की सामग्री के लिए २७ हिन्दू मन्दिर तोड़े गये थे। निपुणतापूर्ण अनुपात से चिकने लाल पत्थर से निर्मित और सवसे ऊपर के खण्डों में संगमरमर से सुशोभित वह ढाई सौ फुट ऊँची मीनार सात सौ वर्षों से धूप, ठंडक और वर्षा के थपेड़े खाते हुए आज भी भारत के शिल्पचातुर्य और कला की सर्वोत्तम कृतियों में से है। दिल्ली के सुल्तान मारकाट में इतने अधिक व्यस्त थे कि भवन निर्माण के लिए उनके पास अधिक समय नहीं था। अपने पीछे वे जो भवन छोड़ गये हैं वे अधिकांशत: ऐसे मकवरे हैं जिनका निर्माण उन्होंने अपने जीवन काल में ही मानो यह याद कराने के लिए करा लिया था कि वे (सुल्तान) भी मरेंगे। इन मकवरों का सवसे अच्छा नमूना सहसराम (विहार) स्थित शेरशाह का विशाल और मजवूत मकवरा है। लालित्यपूर्ण रूप ले कर मुगल वादशाहों की स्थापत्य शैली का रत्न होने के पूर्व की मूर शैली की यह अन्तिम कृति थी। मुस्लिम तथा हिन्दू शैलियों को मिलाने की प्रवृत्ति अकवर की उत्तम गुण ग्राहक निष्पक्षता से पोषित हुई। इस वादशाह के शिल्पकारों ने जो उत्तम कृतियाँ निर्मित की उनमें भारतीय तथा फारसी शैली और भाव को एक विशिष्ट ऐक्य में गूँथ दिया, जो अकवर की धार्मिक आस्था में स्थानीय तथा मुस्लिम धर्मों के समन्वय का प्रतीक हैं। उसने अपने शासन की जो पहिली कृति दिल्ली के निकट अपने

पिता हुमायूँ के मकबरे के रूप में निर्मित करायी उसकी अपनी शैली है। उसकी रेखाएँ सादी और सजावट सामान्य है। फिर भी उसने भविष्य में शाहजहाँ द्वारा बनवाये जाने वाले उत्तम भवनों की छाप पहले से प्रस्तुत की। फतेहपुर-सीकरी में अकवर के शिल्पियों ने एक नगर का निर्माण किया। प्रारम्भ के मुगल सम्राटों की सारी शक्ति और वाद के वादशाहों द्वारा किये गये परिवर्धन एवं सुधार दोनों का इस नगर में एकीकरण हो गया। सीढ़ियों की पंक्ति पर चढ़ते हुए दर्शक लाल पत्थर के शानदार प्रवेशद्वार में पहुँचता है, जिसकी विशाल महराब में से गुजर कर वह घिरे हुए स्थान में आता है जो उत्तमोत्तम कृतियों से भरा हुआ है। मुख्य भवन एक मस्जिद है, किन्तु सर्वोत्तम भवन है सम्राट की तीन सबसे प्यारी बेगमों के लिए बनवाये गये तीन महल, उसके मित्र तथा फकीर सलीम चिस्ती की संगमरमर की दरगाह। यहाँ भारत के कलाकार ने बेलबूटे काढ़ने में उस दक्षता का प्रदर्शन किया जिसकी चरम परिणति ताज महल की जाली के निर्माण में हुआ।

भारतीय जनता की स्थापत्यकला के इतिहास में जहाँगीर की देन बहुत मामूली है किन्तु उसके पुत्र शाहजहाँ का नाम सुन्दर भवनों के निर्माण की लगन के कारण उतना ही रोशन है जितना अकवर का। उसने अपने कलाकारों को वैसे ही धन लुटाया जिस तरह जहाँगीर अपने बेगमों को धन लुटाता था। उत्तरी यूरोप के राजाओं की तरह उसने इटली के फाजिल कलाकारों को भारत बुलाया और उनसे अपने कलाकारों को पीत्रा दूरा (pietra dura) अर्थात् संगमरमर में कीमती पत्थरों की पच्चीकारी करने की कला सिखवायी। उसके शासन काल में यह पद्धति भारतीय कला का विशिष्ट अंग बन गयी। शाहजहाँ बहुत धार्मिक व्यक्ति नहीं था, तथापि भारत की दो सुन्दरतम मस्जिदें—दिल्ली की जामा मस्जिद और आगरा की मोती मस्जिद—उसी के संरक्षण में बनी।

दिल्ली और आगरा दोनों जगह शाहजहाँ ने महल बनवाये। दिल्ली में उसने और भी ऊँची आकाँक्षा से अकबर के हल्के लाल रंग के महलों को तुड़वाकर उनके स्थान पर ऐसे महल बनवाये जो अपने बुरे रूप में संगमरमर के हलवाई खाने जैसा और उत्तम रूप में भूमण्डल में शुद्धतम स्थापत्य कला के सौन्दर्य हैं। यहीं पर बड़ा दरबारे आम है जिसमें काले पत्थर की पृष्ठभूमि पर फ्लोरेंस के ढंग की पच्चीकारी के पैनल हैं; छतों, स्तम्भों तथा स्तम्भों पर महीन किन्तु अवर्णनीय सौन्दर्ययुक्त बेल-बूटे काढ़े गये हैं। यहाँ दरबारे खास है जिसकी छत चाँदी और सोने की है, जिसके खम्भे सोने-चाँदी के बारीक तारों से अलंकृत संगमरमर के हैं, जिसकी महराब नोकदार अर्द्धवृत्त के आकारमें हैं उनमें फूल की तरह छोटे-छोटे तमाम अर्द्धवृत्त बने हुए हैं जिसका तख्त ताऊस या मयूर सिंहासन संसार के लिए कथा की वस्तु बन गया और जिसकी दीवारों पर आज भी सुन्दर अक्षरों में मुस्लिम कवि के शब्द खुदे हैं :—

अगर जन्नत बरूए जमीनस्त।
अमीनस्तो, अमीनस्तो, अमीनस्त॥

(अगर इस पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह यही है, यही है, यही है।)

हमारे मस्तिष्क में मुगल शासन काल की समृद्धि का हल्का चित्र फिर उस समय आता है जब हम देखते हैं कि स्थापत्य कला के सबसे बड़े इतिहासकारों के शब्दों में दिल्ली के राजभवन का क्षेत्र मैड्रिड के निकट विस्तृत एस्कोरिपल के क्षेत्र

का दूना था तथा उसके समूह में "पूर्व का और शायद विश्व का सबसे शानदार महल था।"[1]

आगरा का किला नष्टावस्था में है।[2] हम उसकी मूल शानवान का अनुमान ही लगा सकते हैं। इस किले में अनेक उद्यानों के बीच मोती-मस्जिद, दरबारे-आम, दरबारे-खास, तख्त का स्थान, बादशाह के हमाम, शीशमहल, जहाँगीर और शाहजहाँ के महल, नूरजहाँ का यास्मिन महल और वह यास्मिन मीनार था, जिस पर से शाहजहाँ अपनी प्रियतमा मुमताजमहल का स्मारक ताजमहल देखा करता था।

सारा संसार उस मकबरे के मुमताजमहल के नाम के लघुरूप ताजमहल के नाम से जानता है। वास्तुकला के अनेक विशेषज्ञों ने एकमत से इसे विश्व में विद्यमान भवनों में सर्वश्रेष्ठ बताया है। इसकी परिकल्पना तीन कलाकारों ने की। वे थे फारस के उस्ताद ईसा, इटली के जीरोनिमो-विरोनिमो और फ्रांस के आस्टिन द बोर्दे। ऐसा लगता है कि इसकी परिकल्पना में किसी हिन्दू का योगदान नहीं था। यह पूर्णतः अहिन्दू और पूर्ण रूप से इस्लामी है। दक्ष कलाकार तक कुछ संख्या में बगदाद, कुस्तुनतुनिया और इस्लाम के अन्य केन्द्रों से लाये गये थे। २२ वर्ष तक २२ हज़ार कलाकार ताजमहल के निर्माण में लगे हुए थे। हालाँकि जयपुर के महाराज ने संगमरमर शाहजहाँ को भेंट के रूप में भेजा था, फिर भी इस स्मारक और इसके अन्तर्गत बने भागों के निर्माण में २३ करोड़ डालर लगे, जो उस समय बहुत बड़ी रकम थी।[3]

ऐसा प्रवेश-मार्ग सेण्ट पीटर के गिर्जे का ही है। मुंडेरदार दीवार से गुजर कर दर्शक यकायक ताज पर आ जाता है जो संगमरमर के ऊँचे चबूतरे पर बना है। उसके दोनों ओर सुन्दर मस्जिदें और ऊँची मीनारें हैं। आगे की भूमि में विस्तृत उद्यानों से घिरी हुई एक बावली है, जिसके जल में प्रतिबिम्बित ताजमहल चंचल माया प्रतीत होता है। भवन का प्रत्येक भाग संगमरमर, बहुमूल्य धातुओं या कीमती पत्थरों का है। यह १२ पार्श्वों की रचना है, जिनमें से चार महराब हैं, प्रत्येक कोने पर पतली ऊँची मीनार है और छत विस्तृत गुम्बद के आकार की है। मुख्य प्रवेशद्वार, जो एक समय चाँदी के फाटक

---

[1] दिल्ली के किले में पहले ५२ महल थे किन्तु अब २७ ही बचे हैं। १८५७ के गदर में अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी ने वहाँ शरण ली थी और उसने अपनी सामग्री रखने की जगह बनाने के लिए कई महलों को गिरा दिया, उसके बाद बहुत लूट हुई।

[2] शाहजहाँ ने यह बड़ी दुखद भूल की कि उसने इतने सुन्दर महलों को बीच में रखकर यह किला बनवाया। अंग्रेजों ने जब आगरा को घेर लिया (१८०३) उस समय उन्होंने स्वभावतः अपनी तोपों का मुँह किले की ओर कर दिया। खास महल पर गोले गिरते देखकर हिन्दुओं ने यह सोचकर आत्मसमर्पण कर दिया कि सौन्दर्य विजय से अधिक मूल्यवान है। कुछ समय बाद वारेन हेस्टिंग्स ने जार्ज चतुर्थ को भेंट रूप में देने के लिए महल का हम्माम तुड़वा डाला। भवन के अन्य भाग लार्ड विलियम बेण्टिक ने भारत का राजस्व बढ़ाने के लिए बेच दिया।

[3] भारत के एक सबसे कृपालु ब्रिटिश गवर्नर लार्ड विलियम बेण्टिक ने एक बार ताजमहल को डेढ़ लाख डालर में एक ऐसे हिन्दू ठेकेदार के हाथ बेच देना चाहा था, जिसका ख्याल था कि इसकी सामग्री का कोई अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता है। लार्ड कर्जन के समय से भारत की अंग्रेज सरकार ने मुगल-कृतियों की ओर बहुत अच्छी तरह से ध्यान दिया।

से सुशोभित था, संगमरमर की नक्काशी की भूलभुलैया है। दीवाल में रत्नों की लिपि में कुरान के उद्धरण जड़े हुए हैं जिनमें से एक "पवित्रात्मा" को "स्वर्ग के उद्यान में" प्रवेश करने के लिए आमंत्रित करती है। आन्तरिक भाग सादगीपूर्ण है और यह शायद ठीक भी है। स्थानीय और यूरोपीय लुटेरों ने इस मकबरे को प्रचुर मात्रा में लगे रत्नों, और शाहजहाँ तथा उसकी बेगम की कब्र के चारों ओर एक समय लगी हुई बहुमूल्य रत्नयुक्त रेलिंग से रहित करने के लिए परस्पर सहयोग किया था। औरंगजेब ने रेलिंग के स्थान पर प्रायः पूर्णरूप से पारदर्शक संगमरमर की अष्टकोणिक जाली लगवा दी, जिसमें श्वेत पाषाण (alabastir) का गोटा लगा कर बहुत ही आश्चर्यजनक नक्काशी की गयी है। कुछ यात्रियों का ऐसा ख्याल है कि मानवकला की सभी लघु और आंशिक कृतियों में कोई भी कृति अपने सौन्दर्य में इस जाली से बढ़ कर नहीं है।

ताजमहल सभी भवनों में सर्वाधिक उच्चतम गुणयुक्त नहीं है; यह केवल सबसे सुन्दर है। किसी भी दूरी से, जहाँ से इसकी बारीकियाँ न दिखायी पड़ती हों, यह प्रभावशाली नहीं लगता, केवल आनन्ददायक प्रतीत होता है। केवल निकट से देखने पर ही प्रकट होता है कि इसकी परिनिष्पत्ति (perfection) का इसके आकार से कोई अनुपात नहीं है। अपने इस जल्दबाजी के युग में जब हम देखते हैं कि एक-एक सौ खण्ड के विशाल भवन एक या दो वर्ष में बन कर खड़े हो जाते हैं और उसके बाद सोचते हैं कि मुश्किल से एक सौ फुट ऊँचे इस छोटे से मकबरे के निर्माण में २२ हज़ार व्यक्तियों ने २२ वर्ष तक कैसे मेहनत की ? तब हम समझने लगते हैं कि उद्योग और कला में क्या अन्तर है। ताजमहल जैसे भवन के निर्माण की कल्पना में जो संकल्प-शक्ति थी वह महान् से महान् विजेता की संकल्प-शक्ति से भी शायद अधिक महान् और प्रगाढ़ थी। बलवान समय यदि बुद्धिमान हो तो ताज को छोड़ कर संसार की शेष सभी चीजों को नष्ट करेगा और मानव की महिमा के इस प्रमाण को अन्तिम मानव की सान्त्वना के लिए छोड़ देगा।

४. भारतीय स्थापत्य-कला और संस्कृति

भारतीय कला का ह्रास; हिन्दू तथा मुस्लिम स्थापत्यकला की तुलना; भारतीय सभ्यता का विहंगम दृश्य।

ताजमहल की वह उत्तम जाली बनवाने के बावजूद औरंगजेब मुगल तथा भारतीय कला के लिए दुर्भाग्यस्वरूप था। एक धर्म का अन्धानुयायी होने के कारण उसे कला में मूर्ति-पूजा और निरर्थकता के अलावा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। शाहजहाँ ने पहले ही हिन्दू मन्दिरों के निर्माण पर रोक लगा दी थी। औरंगजेब ने इस रोक को न केवल कायम रखा वरन् मुस्लिम-भवन-निर्माण के लिए इतनी आर्थिक सहायता दी कि उसके शासन में यह भी उन्नतावस्था में नहीं पहुँची। भारतीय कला को वह अपने साथ कब्र में ले गया।

भारतीय स्थापत्य-कला पर अतीत का ध्यान रख कर अब हम संक्षेप में विचार करते हैं तो हमें उसमें दो लय मिलती हैं : पुरुष गुणयुक्त और स्त्री गुणयुक्त। हिन्दू और मुसलमान, इन्हीं से स्थापत्यकला रूपी संगीत गूँजता है। जैसा कि बहुत प्रसिद्ध संगीतों में होता है, वाद्य पर प्रारम्भ में हथौड़े की तरह होनेवाले आघात के तुरंत बाद बहुत हल्की क्रमबद्ध आवाज निकाली जाती है। उसी प्रकार भारतीय स्थापत्यकला में बोधगया, भुवनेश्वर, मदुरा और तंजोर की विशाल हिन्दू-कृतियों के बाद फ़तेहपुर सीकरी, दिल्ली

और आगरा में मुगलशैली रूपी सुन्दर राग की अवतारणा हुई। दोनों प्रवृत्तियाँ मिलकर गड़बड़-घोटाले की अवस्था में समाप्त हो जाती हैं। मुगलों के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने आरम्भ दैत्यों की तरह और अन्त जौहरियों की तरह किया। यह चुटकुला सामान्य रूप से भारतीय स्थापत्यकला के विषय में अधिक उपयुक्त हो सकता है। हिन्दुओं ने दैत्यों की तरह निर्माण किया और मुगलों ने जौहरियों की तरह समापन। हिन्दू-शिल्पकला हमें अपने विशालरूप में प्रभावित करती है और मूर स्थापत्यकला छोटी-छोटी बारीकियों में। एक में शक्ति की पराकाष्ठा थी तो दूसरे में सौन्दर्य की परिपूर्णता; हिन्दुओं में उत्कट भावोद्वेग तथा सृजनात्मकता थी और मूरों में रुचि तथा आत्म-संयम। हिन्दू अपने भवनों को इतनी अधिक संख्या में मूर्तियों से आवृत्त रखता था कि उन्हें भवन या मूर्तिकला में से किसी एक की श्रेणी में रखने में हिचक होती है। मुसलमान को मूर्तियों से द्वेष था। वह पुष्पों तथा ज्यामिति की आकृतियों से सजावट करने तक ही सीमित रहा। हिन्दू भारत के मध्यकाल के गोथिक कला के शिल्पी-वास्तु कलाविद् थे और मुसलमान विजातीय नवजागरण के वापस लौटे हुए कलाकार। सब मिला कर हिन्दू शैली महत्तर उच्चता पर पहुँच चुकी थी। सुडौलपन और भव्यता में यह सुन्दरता का अतिक्रम कर जाती है। फिर तो विचार करने पर हमें दिल्ली का लाल किला और ताजमहल अंकोर और बोरोबुदुर के सामने वैसे ही लगते हैं जैसे गम्भीर नाटक में मधुर गीत, जैसे दांते की बगल में पेट्रार्क, शेक्सपियर की बगल में कीट्स, और सोफोक्लीज की बगल में सैफो। एक कला भाग्यवान व्यक्तियों की मर्यादापूर्ण एवं आंशिक अभिव्यक्ति है और दूसरी एक जाति की पूर्ण एवं शक्तिशाली अभिव्यक्ति।

इसीलिए इस छोटे से सर्वेक्षण की समाप्ति प्रारम्भ की ही तरह यह स्वीकार करके होनी चाहिए कि और कोई नहीं, केवल हिन्दू ही भारत की कला का समुचित मूल्यांकन कर सकता या अधिकारपूर्वक लिख सकता है। यूनानी और अभिजात वर्गीय सीमाबद्ध तथा सादगीपूर्ण नियमों में पले हुए यूरोपियन को खूब सजावट और अति पेचीदगी की यह जनप्रिय कला कभी-कभी प्रायः एकदम आदिम और बर्बर प्रतीत होगी। किन्तु इस अन्तिम शब्द बर्बर का ही प्रयोग शास्त्रीयतावादी गेटे ने स्ट्रासबर्ग स्थित गोथिक शैली के कैथेडरल की शैली को नापसन्द करते हुए किया था। अन्तरानुभूति के प्रति तर्क और धर्म के प्रति विवेकवाद की यह प्रतिक्रिया होती है। भारतवासी ही हिन्दू मन्दिर की भव्यता को अनुभव कर सकता है, क्योंकि यह मन्दिर सौन्दर्य-निरूपण मात्र के लिए नहीं बल्कि पवित्र भावना को प्रेरणा धार्मिक आस्था को संबल प्रदान करने के लिए बने थे। हमारे मध्ययुग के लोग ही—जियोटो और दांते जैसे लोग ही—भारत को समझ सकते थे।

इन बातों का ध्यान रख कर ही हमें 'मध्यकाल' के उन लोगों की अभिव्यक्ति की भारतीय सभ्यता को देखना चाहिए जिनकी दृष्टि में धर्म विज्ञान से अधिक गहन है; भले ही उनकी यह दृष्टि इसलिए हो कि धर्म प्रारम्भ में ही यह स्वीकार कर लेता है कि अनन्त काल तक अज्ञान रहेगा और मानव-शक्ति निरर्थक है। इस पवित्र भावना में ही हिन्दू की कमजोरी और शक्ति, अन्धविश्वास और शिष्टता, आत्म निरीक्षण की प्रवृत्ति और अन्तर्दृष्टि, पिछड़ापन और गहराई, युद्ध की कमजोरी और कला की उपलब्धि छपी हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके धर्म पर जलवायु का प्रभाव पड़ा, और उसे निर्बल करने में धर्म का साथ दिया जिससे वह भाग्यवादी निराशा से आर्यों, हूणों, मुसलमानों और यूरोपियनों के आगे झुक गया। विज्ञान की उपेक्षा के लिए इति-

ह्रास ने उसे दण्डित किया। क्लाइव की श्रेष्ठ तोपों ने अब प्लासी में भारतीय सेना का संहार किया (१७५७) तो उस गर्जन से औद्योगिक क्रान्ति की घोषणा हुई। हमारे ही युग में वह क्रान्ति भारत में उसी तरह अपना मार्ग प्रशस्त कर लेगी जिस तरह इंगलैण्ड, अमेरिका, जर्मनी, रूस और जापान में अपनी छाप डाली। भारत में भी पूंजीवाद और समाजवाद आयेगा, उसके करोड़पति होंगे, उसकी गन्दी बस्तियाँ होंगी। भारत की पुरानी सभ्यता समाप्त हो चुकी है। उसका अन्त उसी दिन से होने लगा जब अंग्रेज आये।

अध्याय २२

पाश्चात्य प्रभाव : उपसंहार

(क) हँसमुख लुटेरे

यूरोपियनों का आगमन; अंग्रेजों की विजय; सिपाही-विद्रोह; ब्रिटिश शासन से लाभ और हानियाँ।

क्लाइव और हेस्टिंग्स को जब भारत की समृद्धि का पता चल गया तब तक भारतीय सभ्यता कई तरह से मर चुकी थी। औरंगजेब के लम्बे और विघटनकारी शासन तथा उसके बाद की अव्यवस्था तथा घरेलू संघर्षों से भारत की यह स्थिति हो गयी कि उसे फिर से विजित किया जा सके। "साफ तौर से जाहिर नियति" के सामने जो एकमात्र प्रश्न था वह यह कि यूरोप की कौन-सी आधुनिक शक्ति भारत को विजित करे। फ़्रान्सीसियों ने प्रयास किया और विफल रहे। रासवाख के युद्ध में जिस तरह वे कनाडा को गँवा बैठे उसी तरह वाटर लू की लड़ाई में भारत भी उनके हाथ से निकल गया। अंग्रेजों ने उपक्रम किया और उन्हें सफलता मिली।

लिस्बन से ११ मास तक समुद्री यात्रा करते हुए १४९८ में वास्को डि गामा ने कालीकट के किनारे लंगर डाला। मलाबार के हिन्दू राजा ने उसका समुचित स्वागत किया और उसे पुर्तगाल के राजा के नाम विनम्रतापूर्ण पत्र दिया। जिसमें उसने लिखा—"आप के यहाँ के सम्भ्रान्त व्यक्ति वास्को डि गामा मेरे राज्य में आये, उनसे मिलकर मुझे बहुत खुशी हुई। मेरे राज्य में दालचीनी, लौंग, कालीमिर्च और रत्नों का बाहुल्य है। आप के देश से मैं जो चाहता हूँ वह है—सोना, चाँदी, मूँगा और तेज लाल रंग।" तत्र महान् (His Majesty) ने इसका जो उत्तर दिया उसमें दावा किया गया कि भारत पुर्तगाल का उपनिवेश है। ऐसा क्यों, यह पिछड़े हुए राजा के लिए समझना कठिन था। इस बात को और भी स्पष्ट करने के लिए पुर्तगाल ने अपना समुद्री बेड़ा इस आदेश के साथ भारत भेजा कि वहाँ ईसाई-धर्म का प्रचार किया जाय और लड़ाई ठानी जाय। १७वीं शताब्दी में डचों का आगमन हुआ और उन्होंने पुर्तगालियों को खदेड़ दिया। १८वीं शताब्दी में फ़्रांसीसी और अंग्रेज आये, उन्होंने डचों को मार भगाया। क्रूरतापूर्ण युद्ध से यह निश्चित हुआ कि इन देशों में कौन भारत को सभ्य बनाये और उससे कर उगाहे।

भारत और पूर्व के द्वीपों की वस्तुएँ भारत में सस्ती खरीदने और यूरोप में ऊँचे दाम पर बेंचने के लिए १६०० ई० में लन्दन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई थी।* इस कम्पनी ने १६८६ में ही घोषित कर दिया था कि "हमारा मन्सूबा भारत में हमेशा के लिए मज़बूत और असन्दिग्ध उपनिवेश स्थापित करने का है।" कम्पनी ने कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में अपनी व्यापारिक चौकियाँ स्थापित कीं, उनकी किलेबन्दी

---

*भारत में २० लाख डालर में खरीदी गयी वस्तुएँ इंग्लैंड में एक करोड़ डालर में बेची गयीं। कम्पनी के शेयरों का भाव ३२ हजार डालर प्रति शेयर बढ़ गया।

की, अपनी फौज उतारी, लड़ाइयाँ लड़ीं, घूस दिया और खुद घूस ऐंठा तथा सरकार के अन्य कार्य किए। कम्पनी की तोपों पर निर्भर रहनेवाले राजाओं से क्लाइव ने बहुत मुदित होकर एक लाख ७० हजार डालर की भेंटें स्वीकार कीं, इसके अलावा एक लाख ४० हजार डालर सालाना कर लिया। ६० लाख डालर लेकर मीर जाफर को बंगाल का राजा बनाया, एक देशी राजा को दूसरे भारतीय राजा से लड़ाया, धीरे-धीरे उनके प्रदेशों को कम्पनी के अधिकार में कर लिया और फिर अफीम खाने का आदी हो गया। फिर उसके विषय में जाँच हुई, और संसद ने उसे अपराध-मुक्त कर दिया। इसके बाद उसने आत्महत्या (१७७४) कर ली। साहसी, विद्वान और योग्य वारेन हेस्टिंग्स ने कम्पनी का कोष भरने के लिए देशी राजाओं से ढाई लाख डालर वसूल किया और अधिक धन न ऐंठने के लिए घूस लिए, फिर भी और धन ऐंठा और जो राज्य इसे अदा नहीं कर सके उन्हें कम्पनी के कब्जे में कर लिया। उसने अपनी सेना से अवध को जीता और उस प्रान्त को ढाई लाख डालर में एक राजा को दे दिया। विजेता और विजित दोनों ने रुपया ऐंठने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा की। भारत के उन भागों को जो कम्पनी के अधीन थे, अपनी उपज का ५० प्रतिशत भूमिकर के रूप में देना पड़ता था। इसके अलावा तमाम दूसरे कार्यों के लिए भी इतनी रकम देनी पड़ती थी कि दो-तिहाई जनसंख्या अपना घर छोड़ कर भाग गयी। दूसरे लोगों ने कर की बढ़ती हुई दर की अदायगी के लिए अपने बच्चे बेच डाले। मैकाले ने लिखा है—"कलकत्ता में बहुत जल्दी ही भारी परिमाण में धन-दौलत जमा होगी जबकि तीन करोड़ व्यक्ति अति दीन अवस्था को पहुँच गये। वे उत्पीड़न की स्थिति में रहने के अभ्यस्त हो गये थे किन्तु ऐसे उत्पीड़न की अवस्था में रहने के लिए वे कभी अभ्यस्त नहीं हुए थे।"

१८५७ तक कम्पनी ने अपने दुष्कृत्यों से पूर्वोत्तर भारत की इतनी दीन अवस्था कर दी कि क्षुब्ध देशवासियों ने विद्रोह कर दिया। अब ब्रिटिश सरकार आगे बढ़ी। उसने विद्रोह का दमन कर दिया। कम्पनी द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को ताज की बस्ती के रूप में अपने अधिकार में ले लिया, इसके लिए कम्पनी को अच्छी रकम दी और क्रय मूल्य को भारत के सार्वजनिक ऋण में शामिल कर दिया। साफ तौर से यह बलपूर्वक अधिकार था, जिसका निर्णय स्वेज के पश्चिम में पाठ किए जानेवाले बाइबिल के धर्मादेश शायद नहीं कर सकते, उसे डारविन और नीत्से की शब्दावली में ही समझा जा सकता है। जो देश अपनी शासन व्यवस्था चलाने की क्षमता से रहित हो चुका है या अपने प्राकृतिक साधनों का विकास करने में असमर्थ है वह निश्चित रूप से शक्ति और लालच से पीड़ित राष्ट्रों का शिकार हो जाता है।

ब्रिटिश अधिकार से भारत को कतिपय लाभ भी हुए। बेंटिक, कैनिंग, मुनरो, एलिफन्स्टन और मैकॉले जैसे लोगों ने ब्रिटिश प्रान्तों के प्रशासन में खुले दिल से ऐसा उदारवाद अपनाया जो १८३२ में इंगलैण्ड को नियंत्रित कर रहा था। लार्ड विलियम बेंटिन्क ने राजा राममोहन राय जैसे भारतीय सुधारकों के सहयोग और प्रेरणा से सती-प्रथा और ठगी का अन्त किया। पूरे भारत पर अपने अधिकार के लिए; भारतीय धन और सैनिक के बल से १११ युद्ध करने के बाद अंग्रेजों ने पूरे देश में शान्ति स्थापित की, रेलवे लाइनों का निर्माण किया, कारखाने और स्कूल बनवाये, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहोर और इलाहाबाद में विश्वविद्यालय स्थापित किए, इंगलैण्ड के विज्ञान और यंत्र विद्या की भारत में प्रतिष्ठा की, पूर्व को पश्चिम के लोकतांत्रिक आदर्शों के लिए उत्प्रेरित किया और विश्व को भारत की उन्नत पुरातन सभ्यता से अवगत कराने में

महत्त्वपूर्ण योग दिया। इन लाभों का मूल्य था आर्थिक निरंकुशता, जिसके द्वारा कल्पकाल के लिए आनेवाले शासकों की जाति धीरे-धीरे भारत का धन खींच ले गयी। यह ऐसी आर्थिक निरंकुशता थी जिसने भारत के उद्योग नष्ट कर दिए और उसके लाखों शिल्पियों को बहुत कम सुलभ भूमि के भरोसे कर दिया। दूसरी ओर राजनीतिक निरंकुशता थी जो औरंगजेब के उत्पीड़न के इतनी जल्दी बाद आयी कि उसने एक शताब्दी तक भारतीय जनता की आत्मा को ही तोड़ दिया।

(ख) आधुनिक काल के सन्त

भारत में ईसाई धर्म; ब्रह्म समाज; इस्लाम; रामकृष्ण; विवेकानन्द।

इन अवस्थाओं में स्वाभाविक था कि भारत धर्म से सान्त्वना ढूँढ़ने का प्रयत्न करे। कुछ समय तक उसने खुले हृदय से ईसाई धर्म का स्वागत किया। इस धर्म में उसे कई ऐसे नैतिक आदर्श मिले जिनका वह हजारों वर्षों से सम्मान करता आ रहा था। ऐबे दुबोई का कहना है कि "यूरोपियनों का चरित्र और व्यवहार इन लोगों को भलीभाँति मालूम होने के पहले ऐसा सम्भव दिखाई पड़ने लगा कि ईसाई धर्म भारत में अपनी जड़ जमा लेगा।" पूरी १९वीं शताब्दी भर तोपों की गर्जना के बीच तंग मिशनरियों ने ईसा की वाणी सुनाने का प्रयास किया। उन्होंने स्कूल तथा अस्पताल बनवाये और सुसज्जित किये, दवाएँ बाँटीं और धर्म की शिक्षा दी, अछूतों को पहिली बार मानव होने की मान्यता की। किन्तु ईसाई धर्म की शिक्षा और ईसाइयों के व्यवहार के अन्तर से हिन्दुओं को ईसाई धर्म के प्रति संशय हो गया और वे उसकी खिल्ली उड़ाने लगे। उन्होंने कहा कि मृतकों में से लैजरस को ऊपर उठाना कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। हमारे अपने ही धर्म में इससे कहीं बढ़-चढ़ कर न जाने कितने चमत्कार हुए हैं। कोई सच्चा योगी आज भी चमत्कार दिखा सकता है, जबकि ईसाई धर्म में ऐसे लोग नहीं रह गये हैं। ब्राह्मण बड़े गर्व से अपने पाँव जमाये हुए थे। उन्होंने पश्चिम के पुराणपन्थ के विरुद्ध ऐसी विचारधारा दी जो उतनी ही सूक्ष्म, गहन और दुर्बोध थी। सर चार्ल्स इलियट का कथन है कि "भारत में ईसाई धर्म की प्रगति महत्त्वहीन है।"

फिर भी ईसा की आकर्षक आकृति का कहीं अधिक प्रभाव पड़ा, जिसे इस बात से नहीं आँका जा सकता कि तीन सौ वर्षों में केवल ६ प्रतिशत जनता ईसाई बनायी जा सकी। उस प्रभाव के प्रथम संकेत भगवद्गीता में है और सबसे बाद के संकेत गाँधी और टैगोर के रूप में मिलते हैं। सबसे स्पष्ट उदाहरण है सुधारवादी संगठन, ब्रह्म समाज,[1] जिसकी स्थापना १८२८ में राममोहन राय ने की थी। धर्म के अध्ययन को इतनी समझ-बूझ के साथ किसी ने भी न किया होगा। राजा राममोहन राय ने वेदों को समझने के लिए संस्कृत, बौद्ध धर्म का त्रिपिटक पढ़ने के लिए पाली, इस्लाम धर्म और कुरान को समझने के लिए फारसी और अरबी, ओल्ड टेस्टामेन्ट के अध्ययन के लिए हिब्रू तथा न्यू टेस्टामेन्ट के लिए ग्रीक पढ़ी। इसके बाद उन्होंने अंग्रेजी पढ़ी और उसे इतनी अच्छाई और सुन्दरता से लिखते थे कि सर जेरेमी बेन्थम ने चाहा कि जेम्स मिल इससे लाभ उठाते। १८२० में उन्होंने 'प्रिसेप्ट्स आव जेसस : ए गाइड

---

[1] **जैसा कि नाम से प्रकट है, यह संस्था केवल ब्रह्म या परमात्मा में विश्वास करने वालों की थी।**

टु पीस एण्ड हैपीनेस' प्रकाशित की और ऐलान किया, "मेरी जानकारी में जितने भी मतवाद आये हैं उनमें मुझे ईसा के सिद्धान्त नैतिक सिद्धान्तों के अधिक संवर्द्धक मिले हैं और विवेकशील प्राणियों के लिए अधिक उपयुक्त हैं।" उन्होंने अपने देश के वदनाम किये गये लोगों के लिए एक नया धर्म प्रस्तुत किया, जिसमें वहुदेवी-देवतावाद, वहुविवाह, जाति, वाल-विवाह, सतीप्रथा और मूर्तिपूजा का निषेध किया गया और केवल एक परमात्मा—ब्रह्म—की पूजा स्वीकार की गयी। अकवर की तरह उन्होंने भी यह स्वप्न देखा कि भारत इतनी सरल धार्मिक आस्था से संयुक्त किया जा सकता है। अकवर की ही तरह उन्होंने अन्धविश्वास की जनप्रियता की शक्ति भी कम आँकी। एक सौ वर्ष के उपयोगी प्रयास के वाद ब्रह्म समाज अव भारत में समाप्तप्राय है।[1]

भारत के धार्मिक अल्पसंख्यकों में मुसलमान सबसे अधिक शक्तिशाली और दिलचस्प अध्ययन के विषय हैं, किन्तु उनके धर्म का अध्ययन वाद की पुस्तक का विषय है। यह अचरज की वात नहीं है कि औरंगजेव से वहुत सहायता मिलने के वावजूद भारतीयों को मुसलमान नहीं वनाया जा सका। चमत्कार की वात यह है कि भारत में इस्लाम हिन्दू धर्म में समाहित नहीं हो गया। एक देवोपासक का इस सीधे-साधे और शक्तिशाली धर्म का वहुदेवी-देवतावाद के जंगल में जीवित रहना मुस्लिम मस्तिष्क की शक्ति का प्रमाण देता है। इस प्रतिरोध की शक्ति और सफलता की यात्रा को समझने के लिए ब्राह्मण धर्म द्वारा वौद्ध धर्म के पचा लेने की याद दिला देना काफी होगा। भारत में इस समय अल्लाह के करीव ७ करोड़ उपासक हैं।

किसी विदेशी धार्मिक आस्था में हिन्दू ने वहुत कम शक्ति अनुभव की है। जिन्होंने उसकी धार्मिक चेतना को सर्वाधिक उत्प्रेरित किया वे ऐसी आत्माएँ थीं जिनके मत और व्यवहार की जड़ें भारतीय जनता की पुरातन आस्थाओं में थीं। वंगाल के एक गरीव ब्राह्मण रामकृष्ण कुछ समय के लिए ईसाई हो गये और ईसा की मोहिनी शक्ति का अनुभव किया।[2] फिर कुछ समय के लिए वे मुसलमान वने और नमाज पढ़ने लगे। किन्तु शीघ्र ही उनके पावन हृदय ने उन्हें हिन्दू धर्म में वापस ला मायावती काली के चरणों पर डाल दिया, जिनके वे पुजारी थे और जिन्हें उन्होंने नम्रता और प्रेम से परिपूर्ण मातृरूपा देवी में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने वुद्धिवादी मार्ग का तिरस्कार किया और भक्ति योग का उपदेश दिया। रामकृष्ण ने कहा—"ज्ञान योग प्रसववत है जवकि भक्ति योग नारीवत। ज्ञान की पैठ परमात्मा के खाली कक्षों तक ही हो सकती है, भीतर के रहस्यों में भक्त के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं हो

---

[1] इस समय इसके साढ़े ५ हजार अनुयायी हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित और लाला लाजपतराय द्वारा शक्तिशाली वनाये गये एक दूसरे संगठन आर्य समाज ने जातिवाद, वहुदेवी-देवतावाद, अंधविश्वास, मूर्तिपूजा तथा ईसाई धर्म की निन्दा की। उसने सादगीपूर्ण वैदिक धर्म की ओर लौटने का आह्वान किया। उनके अनुयायियों की संख्या करीव पाँच लाख है। उल्टे हिन्दू धर्म का ही ईसाई धर्म पर प्रभाव थियोसॉफी में देखने को मिलता है, जो हिन्दू रहस्यवाद और ईसाई नैतिकता का मिश्रण है। भारत में इसका विकास दो महिलाओं—मैडम हेलेना व्लावट्स्की (१८७८) और श्रीमती एनी वेसेण्ट (१८९३) ने किया।

[2] अपने जीवन के अन्त तक उन्होंने ईसा का देवत्त्व स्वीकार किया। किन्तु उनका आग्रह था कि वुद्ध, कृष्ण और दूसरे ऐसे लोग भी ईश्वर के ही अवतार थे। विवेकानन्द को उन्होंने विश्वास दिलाया कि मैं स्वयं राम और कृष्ण का अवतार हूँ।

सकता।" रामकृष्ण ने राममोहन राय की तरह विद्याध्ययन की कोई चिन्ता नहीं की। उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी नहीं पढ़ी। उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा और बुद्धिवादी भावों से दूर भागते थे। एक बार जब एक बड़े तर्कशास्त्री ने उनसे पूछा—"ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय क्या हैं?" उन्होंने कहा—भले आदमी! मैं विद्वता की इन सूक्ष्मताओं को नहीं जानता। मैं केवल अपनी माँ काली को जानता हूँ और मैं उनका पुत्र हूँ।"

रामकृष्ण ने कहा कि सभी धर्म अच्छे हैं। अपने शिष्यों को उन्होंने बताया कि प्रत्येक धर्म परमात्मा की प्राप्ति की दिशा में एक मार्ग या उस मार्ग की एक सीढ़ी है। एक धर्म का त्याग करके दूसरे धर्म में जाना मूर्खता है, व्यक्ति को अपने ही मार्ग पर चलते रहना और अपने धर्म के मूलतत्त्व पर पहुँचना चाहिए। "सभी नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं। बहो और दूसरों को भी बहने दो।" सर्व साधारण के बहुदेवी-देवतावाद को उन्होंने सहिष्णुता से माना और दार्शनिकों के एक देवतावाद को नम्रता-पूर्वक स्वीकार किया किन्तु अपनी आस्था की कि सभी व्यक्ति परमात्मा के रूप हैं। मानव सेवा ही परमात्मा की सच्ची सेवा है।

धनी और निर्धन, ब्राह्मण और शूद्र अनेक शुद्ध आत्माओं ने उन्हें अपना गुरु माना और उनके नाम से एक मिशन (रामकृष्ण मिशन) की स्थापना की। इन शिष्यों में सबसे तेजवान था एक स्वाभिमानी क्षत्रिय नरेन्द्रनाथ रत्न जिसने स्पेन्सर और डार्विन के दर्शन तथा सिद्धान्त के ज्ञान के साथ अपने को रामकृष्ण के सामने नास्तिकवाद में अशान्त नास्तिक किन्तु उन कल्पित कथाओं और अन्धविश्वासों से घृणा करने वाले के रूप में प्रस्तुत किया जिन्हें वह धर्म से अविच्छिन्न मानता था। रामकृष्ण की अचल दया से विजित नरेन अपने तरुण गुरु का सबसे प्रचण्ड शिष्य हुआ। उसने परमात्मा की व्याख्या "आत्माओं की पूर्णता" की और अपने साथियों का आह्वान किया कि वे व्यर्थ के वैराग्य और ध्यान से नहीं, मानव के प्रति पूर्ण भक्ति से धर्म का आचरण करें।

> वेदान्त का पढ़ना और ध्यान लगाना अगले जन्म के लिए छोड़ो। इस शरीर को जो हमें इस जीवन में मिला है, दूसरों की सेवा में लगा दो! ····सबसे बड़ा सत्य यह है; परमात्मा सभी जातियों में व्याप्त है। वे सभी उसके अनेक रूप हैं। दूसरा कोई परमात्मा ढूंढ़ने के लिए नहीं है। जो सभी प्राणियों की सेवा करता है एक मात्र वही परमात्मा की सेवा करता है।

नरेन्द्रनाथ अपना नाम बदलकर विवेकानन्द बन गये और रामकृष्ण मिशन के लिए बाहर धन एकत्र करने के लिए भारत से विदेश प्रस्थान किया। १८९३ में शिकागो में उनके पास एक भी पैसा नहीं था। एक दिन बाद वे विश्व-धर्म-सम्मेलन में शामिल हुए, उसमें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाषण किया और अपने व्यक्तित्त्व, धर्मों की एकता विषयक अपने उपदेश तथा 'मानव-सेवा ही परमात्मा की सर्वोत्तम सेवा है' की सीधी-सादी नैतिकता से उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को मोहित कर लिया। उनकी वक्तृत्त्व की उत्प्रेरक शक्ति से नास्तिकवाद श्रेष्ठ धर्म बन गया; पुराणपन्थी पादरी स्वयं ऐसे व्यक्ति का सम्मान करने लगे जिसने कहा कि प्राणियों की आत्मा के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है। भारत वापस आकर उन्होंने अपने देश-वासियों को और भी अधिक वीरतापूर्ण ऐसी आस्था का उपदेश दिया था जैसा वैदिक काल के बाद किसी भी अन्य हिन्दू ने नहीं किया था।

> "हम जो धर्म चाहते हैं वह मानव-निर्मित है।....इन निर्बल बनाने वाले रहस्यवादों को छोड़ो और बलवान बनो।....अगले पचास वर्षों तक....बेकार के दूसरे देवताओं को अपने दिमाग से निकाल दो। एकमात्र यही जागृत परमात्मा है, हमारी जाति है, सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पाँव है, सर्वत्र उसके कान हैं; वह सभी चीजों में है। सब सेवाओं से पहिली सेवा अपने आसपास के लोगों की सेवा है। यही मानव और पशु हमारे देवता हैं। पहले देवता, जिनकी हमें पूजा करनी है, वे हमारे ही देश के निवासी हैं।"

यहाँ से गान्धी तक केवल एक चरणमात्र था।

(ग) रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विज्ञान और कला; प्रतिभाशाली लोगों का परिवार; रवीन्द्रनाथ की किशोरावस्था; रवीन्द्रनाथ की कविता; रवीन्द्रनाथ की राजनीति; रवीन्द्रनाथ का विद्यालय।

इस बीच उत्पीड़न, कटुता और निर्धनता के बावजूद भारत विज्ञान, साहित्य और कला के क्षेत्र में सृजन कर रहा था। प्रोफेसर जगदीशचन्द्र बोस को विद्युत तथा पेड़-पौधों की रचना सम्बन्धी गवेषणाओं से विश्वख्याति मिली। प्रोफेसर चन्द्रशेखर वेंकटरमन को प्रकाश की भौतिकी विषयक कार्यों के लिए नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसी शताब्दी में बंगाल में चित्रकला की एक नयी शैली का उदय हुआ जिसमें अजन्ता के भित्ति चित्रों के रंगों के चमकीलेपन और राजपूत बीज चित्र (Miniature) की कोमल रेखाओं को एक साथ मिला दिया गया है। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों का उस आनन्द प्रधान रहस्यवाद में अच्छा स्थान है जिससे उनके पितृत्व की कविता को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली।

ठाकुरों का परिवार इतिहास के महान परिवारों में से एक है। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्रह्म समाज के संगठनकर्ताओं में से थे और बाद में उसके प्रधान थे। सम्पत्ति, संस्कृति और शुचिता के लिए प्रसिद्ध होने के अलावा वे वृद्धावस्था में बंगाल के नास्तिक महर्षि बन गये। उनके बाद चित्रकार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और गगनेन्द्रनाथ ठाकुर तथा दार्शनिक द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर और रवीन्द्रनाथ ठाकुर हुए, जिनमें अन्तिम दो उनके पुत्र थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लालन-पालन आराम और सुरुचि के वातावरण में हुआ जिसमें संगीत, कविता और उच्च चर्चा का अत्यधिक प्राबल्य था। बचपन से ही वे शिष्ट आत्मा थे, वे तरुणावस्था में न मरने या बुड्ढे न बनने वाले शेली थे। वे प्रेमभाव से इतने परिपूर्ण थे कि गिलहरियाँ उनके घुटनों पर चढ़ जाती थीं और पक्षी उनके हाथों पर बैठ जाते थे। उनमें किसी वस्तु के अन्तर तक जाने और हृदय में उतारने की शक्ति थी, उन्हें आत्मा में रहस्यवादी अनुभूति की गूँजती हुई ध्वनि प्रतीत होती थी। कभी-कभी वे छज्जे पर घण्टों खड़े होकर सड़क पर जाते हुए हर राहगीर की आकृति, विशिष्टता, तौर-तरीके और चाल के ढंग को साहित्यिक प्रवृत्ति से देखते थे। कभी-कभी भीतर के कमरे में आधा दिन शान्तिपूर्वक अपनी स्मृतियों और स्वप्नों की कल्पना में बिता देते थे। उन्होंने स्लेट पर कविता लिखना शुरू किया—प्रसन्नतापूर्वक इस विचार से कि गल्तियाँ बड़ी आसानी से मिटायी जा सकेंगी। शीघ्र ही कोमल भावना से वे भारत के सम्बन्ध में—उसके दृश्यों के सौन्दर्य, उसकी नारियों की सुन्दरता, उसकी

जनता के कष्टों के सम्बन्ध में—रचना करने लगे। इन गीतों के लिए संगीत उन्होंने स्वयं तैयार किये। सारे भारत ने इन गीतों को गाया, दूर के अज्ञात गाँवों में यात्रा करते हुए कवि को ये गीत किसानों के कण्ठ से सुनायी पड़े और वह गद्गद हो गया। यहाँ हम कवि की एक कविता दे रहे हैं जिसका अनुवाद बँगला से अंग्रेजी में उसने स्वयं किया था। रूमानी प्रेम की निरर्थकता पर इतना सहानुभूतिपूर्ण सन्देह और व्यक्त ही कौन कर सकता था :

प्रणय-प्रश्न

एकि तवे सवि सत्य,
हे आमार चिर भक्त।
आमार चोखेर विजुलि उजल आलोके,
हृदये तोमार झञ्झार मेघ झलके,
एकि सत्य।
आमार मधुर अधर वधुर नवलाज सम रक्त,
हे आमार चिर भक्त,
एकि सत्य।
चिर मन्दार फुटेछे आमार माझे कि,
चरणे आमार वीणा-झंकार बाजे कि,
एकि सत्य।
निशिर शिशिर झरे कि आमारे हेरिया,
प्रभात आलोके पुलक आमारे घेरिया,
एकि सत्य।
तप्त कपोल-परशे अधीर समीर मदिर मत्त,
हे आमार चिर भक्त,
एकि सत्य॥
कालो केशपाशे दिवस लुकाय आँधारे,
जीवन-मरण-बाँधन वाहुते बाँधारे,
एकि सत्य।
भुवन मिलाय मोर अंचल खानिते,
विश्व नीरव मोर कण्ठेर वाणीते,
एकि सत्य।
त्रिभुवन लये शुधु आमि आछि
आछे मोर अनुरक्त
हे आमार चिर भक्त,
एकि सत्य॥
तोमार प्रणय युगे युगे मोर लागिया,
जगते जगते फिरिते छिलो कि जागिया,
एकि सत्य।

आमार वचने नयने अधरे अलके,
चिर जनमेर विराम लभिले पलके,
एकि सत्य।
मोर सुकुमार ललाट फलके लेखा असीमेर तत्त्व
हे आमार चिर भक्त,
एकि सत्य।

इन कविताओं में अनेक सद्गुण हैं—इनमें प्रवल किन्तु मर्यादित देशभक्ति है, प्रेम और नारी, प्रकृति और पुरुष को स्त्रीवत कोमलता से वारीक समझते हैं; भारत के दार्शनिकों की गहन दृष्टि में उत्कट प्रवेश है और भावना तथा शब्द समुदाय में टेनीसन की कविता की तरह कोमलता है। यदि इनमें कोई त्रुटि है तो यह कि वे वहुत दृढ़तापूर्वक सुन्दर हैं, वहुत अधिक एक तरह की आदर्शवादी और कोमल हैं। उनमें हर नारी मोहक है और हर पुरुष, नारी मृत्यु या परमात्मा से विमोहित है। प्रकृति कहीं-कहीं विकराल हो जाने के वावजूद सर्वत्र उदात्त है, कहीं पर भी अप्रसन्न, सृजन-शक्तिरहित या वीभत्स नहीं है। चित्रा की कहानी शायद स्वयं कवि की कहानी है। चित्रा का प्रेमी अर्जुन एक वर्ष में उससे ऊव जाता है क्योंकि वह अत्यधिक और अनिन्द्य सुन्दरी है। जब उसमें वह सौन्दर्य नहीं रह जाता और शक्तिवान होकर वह जीवन के स्वाभाविक श्रम करती है तव कहीं जाकर देवता उसे फिर प्यार करता है। वैवाहिक सन्तुष्टि का यह कितना सुन्दर प्रतीक है! रवीन्द्रनाथ अपनी सीमाओं को वहुत ही हृदयरंजक सुन्दरता के साथ स्वीकार करते हैं:

प्रिये! एक वार तुम्हारे कवि ने अपने दिमाग में एक वड़े काव्य की कल्पना की। अफसोस, मैं सजग नहीं रहा और वह तुम्हारे वजते हुए नूपुर से टकराया और हतभाग्य वना। वह गीत के रूप में खण्ड-खण्ड हो गया और तुम्हारे चरणों पर विखर गया।

इसीलिए उन्होंने अन्त तक गीत गाये और आलोचकों को छोड़कर सारे संसार ने उन्हें हर्षोन्मत्त होकर सुना। भारत को उस समय कुछ आश्चर्य हुआ जव उसके कवि को नोवुल पुरस्कार (१९१३) से सम्मानित किया गया। बंगाल के समीक्षकों को केवल उनकी त्रुटि ही दिखायी पड़ी थी और कलकत्ता के प्रोफेसरों ने उनकी कविताओं का प्रयोग वुरी वँगला के रूप में किया था। नये रक्त के राष्ट्रवादी उनसे इसलिए प्रसन्न नहीं थे कि राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए उनकी आवाज ऊँची थी भारत के नैतिक जीवन के विपरीत होने वाले आचरण की निन्दा की आवाज। उन्हें जब 'सर' की उपाधि दी गयी तो इन राष्ट्रवादियों ने उसे भारत के साथ विश्वासघात समझा। उन्होंने इस सम्मान को वहुत दिनों तक नहीं रखा। व्रिटिश सैनिकों ने दुखद गलतफहमी से जव अमृतसर में एक धार्मिक समारोह के लिए एकत्र एक भीड़ पर गोली-वर्षा (१९१९) की तो रवीन्द्रनाथ ने वह उपाधि चुभने वाले निन्दा-पत्र के साथ लौटा दी। वे ऐसे सुधारक थे जिन्होंने भारत की सवसे पुरानी परम्परा जाति-प्रथा और सवसे प्रिय विश्वास पुनर्जन्म की निन्दा की। वे ऐसे राष्ट्रवादी थे जो भारत की स्वतंत्रता का आकांक्षी था, किन्तु राष्ट्रवादी आन्दोलन में होने वाली तोड़-फोड़ और स्वार्थ का उन्होंने विरोध किया। वे ऐसे शिक्षा-प्रेमी थे जो भाषण और राजनीति से ऊव चुका था। अपने नैतिक आत्ममुक्ति के सिद्धान्त की शिक्षा देने के लिए वे अपने आश्रम शान्ति निकेतन चले गये। वे ऐसे कवि थे जिसका हृदय अपनी पत्नी की असामयिक मृत्यु तथा अपने देश की दीनता के कारण टूट चुका था। वे ऐसे दार्शनिक थे, जो वेदान्त

में पैर जमा चुका था, ऐसे रहस्यवादी थे जो चण्डीदास की तरह नारी और परमात्मा के बीच हिचक में पड़ गया था, फिर भी वे पुराने धार्मिक विश्वास के उतने ही विरोधी थे जितने विद्वान। वे प्रकृति के ऐसे प्रेमी थे जिसने उसके यमदूतों का सामना किसी और सान्त्वना से नहीं बल्कि इस गीत से किया :—

कविर वयस

ओरे कवि सन्ध्या होये एलो,
केशे तोमार धरेछे जे पाक
बसे वसे ऊर्ध्व पाने चेये
शुनतेछ कि परकालेर डाक।
कवि कहे, सन्ध्या होलो वटे,
शुनछि वसे लये श्रान्त देह।
ए पारे ओई पल्ली हते यदि,
आजो हठात् डाके आमाय केह।
यदि होथाय व्याकुल वनच्छाये,
मिलन घटे तरुण-तरुणी ते।
दुटि आँखिर परे दुइटि आँखि,
मिलिते चाय दुरंत संगीते—
के ताहादेर मनेर कथा लये,
वीणार तारे तुलवे प्रतिध्वनि।
आमि यदि भवेर कुले बसे,
पर-कालेर भालो मन्दइ गनि।
सन्ध्या-तारा उठे अस्त गेलो,
चिता निवे एलो नदीर धारे।
कृष्ण पक्षे हलुद-वर्ण चाँद,
देखा दिलो वनेर एकटि पारे।
शृगालसभा डाके ऊर्ध्व रवे,
पोड़ो वाड़िर शून्य आँगिनाते।
एमन काले कोनो गृह त्यागि,
हेथाय यदि जागते आसे राते।
जोड़ हस्ते ऊर्द्धे तुलि माथा,
चेये चेये सप्त ऋषिर पाने।
प्राणेर कुले आधार करे धीरे,
सुप्तिसागर शब्द विहीन गाने।
त्रिभुवनेर गोपन कथाखानि,
के जागिये तुलवे ताहार मने।
आमि यदि आमार मुक्ति निये,
युक्ति करि आपन गृह कोणे॥

केशे आमार पाक धरेछे वटे,
ताहार पाने नजर एतो केनो।
पाड़ाय जतो छेले एवं बुड़ो,
सवार आमि एक वयसि जेनो।

ओष्ठे कारो सरल सादा हासि,
कारो हासि आँखिर कोणे कोणे।
कारो अश्रु उछले पड़े जाय,
कारो अश्रु सुखाय मने मने।

केउ वा थाके घरेर कोणे दोंहे,
जगत् माझे केउ वा हाँकाय रथ।
केउ वा मरे एकला घरेर शोके,
जनारण्ये केउ वा हाराय पथ–

सवाइ मोरे करेन डाका डाकि,
कखन शुनि परकालेर डाक?
सवार आमि समान पयसी जे
चुले आमार जतो धरुक पाक॥

(घ) पूर्व परिचय

वदलता हुआ भारत; आर्थिक परिवर्तन; सामाजिक परिवर्तन; ह्रासोन्मुख, जाति-प्रथा; जातियाँ और श्रेणियाँ (गिल्ड)—अछूत—स्त्रियों का अभ्युदय।

लगभग पचास वर्ष की उम्र तक जो व्यक्ति अंग्रेजी से अपरिचित था वह वहुत अच्छी अंग्रेजी लिखने लगे, यह उस सरलता का लक्षण है जिससे पूर्व और पश्चिम की खाई वहुत-कुछ पाटी जा सकती है जिनके एक होने का एक दूसरे कवि ने प्रतिषेध किया है। रवि ठाकुर के जन्म के वाद पश्चिम सैकड़ों तरह से पूर्व में आया और पूर्व के जीवन के हर पहलू में परिवर्तन कर रहा है। ३० हजार मील लम्बी रेलवे लाइन भारत के तटों और उजाड़ प्रदेशों तक में जाल की तरह फैल गयी है और पश्चिमी चेहरों को प्रत्येक गाँव में पहुँचा दिया है। टेलीग्राफ के तार और छापेखाने प्रत्येक जिज्ञासु को वदलते हुए संसार की खवरें दे रहे हैं। अंग्रेजी स्कूलों में ब्रिटिश नागरिक वनाने की दृष्टि से अंग्रेजी पढ़ाई जा रही है और वहुत दूर तक सोचे विना लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता के सम्वन्ध में अंग्रेजी विचार को पाठ्यक्रम में शामिल कर दिया गया है। पूर्व भी अव हेरेक्लाइट्स के कथन को उचित सिद्ध करता है।

ब्रिटिश करघों की श्रेष्ठ मशीनों तथा ब्रिटिश तोपों की अधिक शक्ति के कारण १९वीं शताव्दी में निर्धनता की अवस्था में पहुँचे हुए भारत ने अव उद्योगीकरण की ओर ध्यान दिया है। दस्तकारी की चीजें रँगी जा रही हैं और कारखाने वढ़ रहे हैं। जमशेदपुर में टाटा आयरन एण्ड स्टील ४५ हज़ार व्यक्तियों को रोजी दिये हुए है। इस्पात

के उत्पादन में अमेरिकी फर्मों के नेतृत्व के लिए खतरा उत्पन्न कर रही है।[1] भारत का कोयला उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ रहा है। एक पीढ़ी के भीतर भारत और चीन भूमि से ईंधन और उद्योग की सामग्री निकालने में यूरोप और अमेरिका का साथ पकड़ ले सकते हैं। ये राष्ट्रीय साधन राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति ही न करेंगे, विश्व के बाज़ार के लिए वे पश्चिम से प्रतिस्पर्द्धा भी कर सकते हैं। एशिया के विजेताओं के हाथ से यकायक बाज़ार निकल जा सकते हैं और एक समय के दब्बू तथा पिछड़े हुए (अर्थात् कृषि-प्रधान) कम मज़दूरी के श्रम से प्रतिस्पर्द्धा के कारण उनके अपने राष्ट्र की जनता का जीवन-स्तर बहुत नीचे गिर जा सकता है। बम्बई में कारखाने मध्य विक्टोरिया युग के हैं। वेतन का रूप ऐसा पुराना है कि उससे पश्चिमी टोरियो की आँखों में ईर्षा के आँसू आ सकते हैं। इन उद्योगों में से अनेक में अंग्रेजों का स्थान हिन्दुओं ने ले लिया है। वे अश्वेत जातियों की उन्नति करने के लिए गोरों की जिम्मेदारी वहन करके यूरोपियनों की तरह की लोभवृत्ति से अपने देशवासियों का शोषण कर रहे हैं।

भारतीय समाज का आर्थिक आधार जनता की सामाजिक रीतियों और नैतिक परम्पराओं को प्रभावित किए बिना परिवर्तित नहीं हुआ है। जाति-प्रथा की कल्पना स्थिर और कृषि प्रधान समाज की दृष्टि से की गयी थी। इसने व्यवस्था प्रदान की थी, किन्तु नीचवंश के प्रतिभा के आगे बढ़ने के लिए द्वार मुक्त नहीं था, उसको महत्त्वाकांक्षा और आशा की पूर्ति का साधन नहीं था, गवेषणा और उपक्रम (enterprise) के लिए कोई प्रेरणा नहीं थी। भारतीय तट पर औद्योगिक क्रान्ति के पहुँच जाने पर इसका अन्त आ गया। मशीन व्यक्तियों का आदर नहीं करती; अधिकांश कारखानों में लोग बिना जाति का भेद किये साथ-साथ काम करते हैं। ट्रेनों और ट्रामों पर किराया देनेवाले सभी लोगों को बैठने और खड़े होने की जगह मिलती है। सहकारी समितियाँ तथा राजनीतिक दल सभी लोगों को एक साथ अपनी परिधि में ला रही हैं और नगर के थियेटरों या सड़कों की भीड़ में ब्राह्मण और शूद्र एक दूसरे के कन्धे से कन्धा रगड़ते हैं। एक राजा घोषणा करता है कि उसके महल में हर जाति और मत के लोगों का स्वागत होगा, एक शूद्र बड़ोदा का प्रबुद्ध नरेश बनता है; ब्रह्म-समाज जातिवाद का परित्याग करती है और बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी भविष्य में जातिगत भेद समाप्त करने पर जोर देती है। धीरे-धीरे मशीन एक नये वर्ग को ऊपर उठाकर सम्पत्ति और शक्ति प्राप्त कराती है तथा एक सब से प्राचीन अभिजात वर्ग का अन्त कर देती है।

जाति की बातों का महत्त्व पहले से ही समाप्त होता जा रहा है। वैश्य शब्द का व्यवहार पुस्तकों में हुआ है, किन्तु वास्तविक जीवन में वह बिलकुल लागू नहीं है। शूद्र शब्द भी उत्तर भारत से खत्म हो चुका है, जबकि दक्षिण में उसका मतलब सभी अब्राह्मणों से है। प्राचीन काल की निम्न जातियों के स्थान पर अब तीन हज़ार से अधिक "जातियाँ" हो गयी हैं, जो वास्तव में श्रेणियाँ ((गिल्ड) हैं : साहूकार, व्यापारी, उत्पादक, किसान, मिस्त्री, कहार, कसाई, नाई, मछुए, नर्तक, धोबी, मोची, ये पेशे के आधार पर संगठित जातियाँ हैं और ट्रेड यूनियनों से इस रूप में भिन्न हैं कि इनमें पुत्र द्वारा पिता का व्यवसाय किये जाने की आशा की जाती है।

---

[1] १९२२ में बम्बई में सूती कपड़े की ८३ मिलें थीं जिनमें एक लाख ८० हज़ार व्यक्ति काम करते थे। प्रति मजदूर की मजदूरी औसतन ३३ सेण्ट प्रतिदिन होती थी। उद्योग में लगे हुए ३ करोड़ ३० लाख भारतीयों में ५१ प्रतिशत स्त्रियाँ तथा १४ प्रतिशत १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चे थे।

जाति-प्रथा की एक बहुत दुखद बात यह है कि एक पीढ़ी के बाद एक में उन अछूतों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है जिनकी बढ़ी हुई संख्या और विद्रोह-भावना उस परम्परा को ही समाप्त कर दे सकती है जिसने उनका सृजन किया है। अछूतों ने अपने में उन सभी लोगों को शामिल कर लिया है जो युद्ध या ऋण के कारण दास बनाये गये तथा जो ब्राह्मणों और शूद्रों के विवाह से पैदा हुए। वे सभी अभागे जिनका काम कसाई, मेहतर, नट, जादूगर या जल्लाद के रूप में ब्राह्मण धर्म के नियम में निम्न कोटि का माना गया था वे सभी शूद्र माने गये। इन शूद्रों ने अपनी विशाल संख्या को ऐसी सन्तानें पैदा करके और भी बढ़ा लिया है, जिन्हें कुछ गँवाना नहीं है। अत्यधिक निर्धनता से शरीर की सफाई, वस्त्र या भोजन उनके लिए विलास की दुर्लभ वस्तु बन गया है। दूसरे लोग उनका सब तरह से परित्याग करते हैं।[1] इसीलिए जाति के नियम शूद्र से २४ फुट या ब्राह्मण से ७४ फुट से कम दूर न रहने का निर्देश देते हैं। यदि किसी शूद्र की परछाईं किसी सवर्ण पर पड़ जाय तो सवर्ण उस अपवित्रता को स्नान करके दूर करे। अछूत जो भी वस्तु स्पर्श करे वह अपवित्र हो जाती है।[2] भारत के अनेक भागों में वह सार्वजनिक कुँओं से पानी नहीं निकाल सकता, ब्राह्मणों के मन्दिर में नहीं जा सकता और हिन्दू स्कूलों में अपने बच्चे नहीं भेज सकता। ब्रिटिश सरकार ने, जिसकी नीति से अछूतों की निर्धनता कुछ अंश तक बढ़ी है, कानून की नजर में उन्हें बराबर कर दिया है और अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित स्कूलों तथा कालेजों में प्रवेश का उन्हें समानाधिकार दिया है। अब गाँधी जी की प्रेरणा से संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन ने अछूतों की अयोग्यता के निवारण के लिए बहुत कार्य किया है। अगली पीढ़ी में वे शायद बाह्य ढंग से और दिखावे से मुक्त हो जायेंगे।

उद्योग तथा पश्चिमी विचारों के आगमन से हिन्दू-पुरुष के पुरातन काल से चले आ रहे अधिकार के लिए कठिनाई उपस्थित हो रही है। उद्योगीकरण से विवाह की उम्र पहले जैसी नहीं रह जाती और उसमें नारी की "मुक्ति" आवश्यक होती है। कहने का मतलब यह है कि नारी को कारखाने की ओर तब तक आकृष्ट नहीं किया जा सकता जब तक उसे समझा न दिया जाय कि घर कारागार है और कानून से वह अपनी कमाई अपने पास रखने की अधिकारिणी है। लड़कियों के विवाह के लिए निम्नतम अवस्था बढ़ा कर १४ साल और लड़कों के लिए १८ साल कर देने से बाल-विवाह की प्रथा कानूनन समाप्त की जा चुकी है (१९२९); सती प्रथा खत्म हो चुकी है और विधवा-विवाह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। बहुविवाह पर रोक नहीं है किन्तु बहुत कम लोग एक से अधिक विवाह करते हैं। विदेशी यात्रियों को यह देख कर निराशा होती है कि अब देवदासियाँ प्रायः नहीं ही हैं। किसी भी देश में नैतिक सुधार इतनी तेजी से नहीं हो रहे हैं। नगरों का औद्योगिक जीवन स्त्रियों को पर्दे के बाहर ला रहा है। मुश्किल

---

[1] "जो लोग मांस बिल्कुल नहीं खाते उनकी प्राणशक्ति ऐसी हो जाती है कि वे एक क्षण में किसी भी व्यक्ति की साँस या पसीने को सूंघ कर बता दे सकते हैं कि उसने माँस खाया है या नहीं और वह भी उसके मांस-भक्षण के २४ घण्टे बाद।"

[2] १९१३ में कोहाट का एक धनी हिन्दू झरने में गिर गया और डूब कर मर गया। उस समय वहाँ उसकी माँ और राह से गुजरते हुए एक अछूत के अतिरिक्त और कोई नहीं था। अछूत ने प्रस्ताव किया कि मैं पानी में कूद जाऊँ और बच्चे को बचा लूँ, किन्तु माँ ने इसे अस्वीकार कर दिया; उसने झरने को अपवित्र न होने देने से अपने बच्चे का मरना बेहतर समझा।

से ६ प्रतिशत स्त्रियाँ ही पर्दे में रहती हैं। महिलाओं की अनेक पत्रिकाओं में आधुनिकतम प्रश्नों पर विचार प्रकट किये जाते हैं; यहाँ तक कि एक सन्तति-निरोध-लीग की स्थापना भी हो चुकी है, जिसने भारत की सबसे बड़ी समस्या—अन्धाधुन्ध सन्तानोत्पत्ति का साहस से सामना किया है। अधिकतर प्रदेशों में स्त्रियाँ मतदान करती हैं और राजनीतिक पदों पर हैं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद को वे दो बार सुशोभित कर चुकी हैं। अनेक महिलाओं ने विश्वविद्यालय की उपाधियाँ प्राप्त की हैं और डाक्टर, वकील तथा प्रोफेसर बन गयी हैं। निस्सन्देह कुछ दिनों में स्थिति बदल जायगी और स्त्रियाँ शासन करेंगी। भारत की नारी के नाम गाँधी जैसे नियमपालक द्वारा की गयी इस प्रचण्ड अपील के लिए पश्चिम का भयानक प्रभाव का दोषी क्या पश्चिम न होगा ?

> "पुरानी पर्दा प्रथा को तोड़ फेंको ! अविलम्ब रसोईखाने का त्याग करके बाहर आ जाओ। कोने में खड़खड़ाते हुए बर्तनों और कड़ाहियों को फेंक दो। अपनी आँखों के सामने पड़े हुए कपड़े को फाड़ डालो और नये संसार को देखो। तुम्हारे पति और भाई खुद भोजन पकायें क्योंकि भारत को एक राष्ट्र बनाने के लिए बहुत काम करना है।

(ङ) राष्ट्रवादी आन्दोलन

पश्चिम प्रभावित छात्र; स्वर्ग का धर्म निरपेक्षीकरण; भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस।

१९२३ में एक हज़ार से अधिक हिन्दू इंगलैण्ड में शिक्षा पा रहे थे। अनुमानतः इतने ही अमेरिका में और शायद इतने ही अन्य देशों में थे। पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के सबसे तुच्छ नागरिकों को जो सुविधाएँ प्राप्त थीं उन्हें देखकर ये छात्र आश्चर्य करते थे। उन्होंने फ़्रान्स और अमेरिका की क्रान्तियों के विषय में अध्ययन किया और सुधार तथा विद्रोह का साहित्य पढ़ा। वे अधिकारों के बिल, मानवाधिकार की घोषणा, अमेरिका की स्वतंत्रता तथा संविधान की घोषणाओं की बातें पढ़ कर ईर्ष्या करते थे। वे अपने देश को लोकतांत्रिक विचारों और स्वतंत्रता के उपदेश के प्रसार केन्द्र के रूप में लौटे। पश्चिम की औद्योगिक तथा वैज्ञानिक प्रगति तथा युद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय ने इन विचारों की अरोध्य प्रतिष्ठा की। शीघ्र ही हर विद्यार्थी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का नारा लगाने लगा। इंगलैण्ड और अमेरिका के स्कूलों में हिन्दुओं ने स्वतंत्र होना सीखा।

पश्चिम में शिक्षित इन पूर्वी छात्रों ने विदेश में अपनी शिक्षा के काल में राजनीतिक आदर्शों को ही ग्रहण नहीं किया; उन्होंने धार्मिक विचारों का परित्याग भी कर दिया था। दोनों प्रक्रियाएँ जीवनियों तथा इतिहास में एक साथ मिलेंगी। वे पवित्रात्मा तरुण के रूप में, कृष्ण, शिव, विष्णु, काली और राम के भक्त के रूप में यूरोप पहुँचे। उनका सम्पर्क विज्ञान से हुआ और उनकी पुरानी आस्थाएँ ऐसे चूर-चूर हो गयीं मानों उन्हें यकायक भारी धक्का लगा हो। भारत की आत्मा धर्म की भावना से रहित ये हिन्दू निराश और मिथ्या विश्वासों से भी मुक्त हो कर स्वदेश लौटे। एक हज़ार देवता स्वर्ग से मृत हो कर भूमि पर आ गिरे।[1] उतोपिया ने स्वर्ग के स्थान की पूर्ति की, लोक-

---

[1] यह सब पर लागू नहीं होता। कुमारस्वामी के महत्त्वपूर्ण शब्दों में कुछ छात्र यूरोप से भारत लौट आये थे।

तंत्र ने निर्वाण और स्वतंत्रता ने परमात्मा का स्थान ले लिया। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जो चीज यूरोप चली गयी थी अब पूर्व में आ गयी।

फिर भी नये विचार धीरे-धीरे विकसित हुए। १८८५ में कुछ नेताओं की वम्बई में बैठक हुई और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। उन लोगों ने स्वराज्य की कल्पना भी नहीं की थी। वंग-भंग के लिए लार्ड कर्जन के प्रयास से (जो भारत में राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक जागरूक और शक्तिशाली जाति की एकता को नष्ट करने के लिए था) राष्ट्रवादियों में विद्रोह की भावना और भी बलवती हुई। कांग्रेस के १९०५ के अधिवेशन में तिलक ने स्वराज्य की माँग की। उन्होंने यह शब्द संस्कृत के धातुओं से बताया था जो उसके अंग्रेज़ी अनुवाद से अपना (स्व), रूल (राज्य) में अब भी ज़ाहिर है। उसी प्रसिद्ध वर्ष में जापान ने रूस को हराया और शताब्दियों से पश्चिम से डरा हुआ पूर्व एशिया की मुक्ति की योजना बनाने लगा। चीन ने सनयात सेन का अनुसरण किया, तलवार उठायी और जापान पर टूट पड़ा। अस्त्रहीन भारत ने अपने नेता के रूप में इतिहास के एक सर्वाधिक अज्ञात व्यक्ति को अपना नेता स्वीकार किया और विश्व को एक सन्त द्वारा संचालित बन्दूक तथा बिना बन्दूक के लड़ी जानेवाली अद्भुत क्रान्ति की।

(च) महात्मा गाँधी

सन्त का चित्र; तपस्वी; ईसाई; गाँधी जी की शिक्षा; अफ्रीका में; १९२१ का विद्रोह; "मैं मानव हूँ"; यंग इण्डिया; चर्खे की क्रान्ति; गाँधीजी की उपलब्धियाँ।

एशिया के सब से बदसूरत, दुबले-पतले आदमी का ऐसा चित्र होगा जिसका काँसे के रंग का चेहरा और चमड़ा भूरे रंग का केशहीन सिर, गाल की ऊँची उठी हुई हड्डियाँ, करुणापूर्ण छोटी-छोटी भूरी आँखें, बड़ा और प्रायः पूर्णरूप से दाँत रहित मुँह, बड़े-बड़े कान, बड़ी-सी नाक और पतले हाथ तथा पाँव हैं। वह लँगोटी धारण किये हुए भारत में एक अंग्रेज जज के सामने अपने देशवासियों को असहयोग की शिक्षा देने के आरोप में अभियुक्त के रूप में खड़ा है। उसका ऐसा चित्र होना जो अपने अहमदाबाद स्थित सत्याग्रह आश्रम के एक सजावटहीन खाली कमरे में छोटे से कालीन पर बैठा हुआ है, वह योगी की तरह पल्थी मारे हुए है, हाथ चर्खे से सूत कातने में व्यस्त हैं, चेहरे पर जिम्मेदारी की रेखाएँ हैं और दिमाग स्वतंत्रता सम्बन्धी प्रश्न करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उत्तर देने के लिए सक्रिय है। १९२० से १९३५ तक वह नंगा बुनकर ३२ करोड़ भारतीयों का आध्यात्मिक और राजनीतिक दोनों नेता था। जब वह जनता के बीच जाता था तब उसके चारों ओर दर्शन और चरण-स्पर्श के लिए भीड़ लग जाती थी।

गाँधी जी प्रति दिन चार घण्टे खद्दर तैयार करने के लिए सूत कातते थे और आशा करते थे कि इस आदर्श से वे अपने देशवासियों को भारत के सूती वस्त्रोद्योग को बर्बाद करने वाले ब्रिटिश करघों से बने वस्त्र के बजाय घर में कता-बुना मोटा कपड़ा पहनने के लिए राजी कर लेंगे। उनके पास केवल तीन कपड़े थे—दो धोतियाँ और एक बिस्तरा। एक समय के सम्पन्न बैरिस्टर गान्धीजी ने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों को दे दी। कुछ स्त्रीसुलभ हिचकिचाहट के बाद उनकी पत्नी ने भी उनका अनुसरण किया। वे नंगी फर्श पर, जमीन पर सोते थे और खजूर, केले, नींबू, नारंगी, चावल तथा बकरी के दूध पर निर्भर रहते थे। अक्सर महीनों तक उन्होंने दूध और फल के अलावा और कुछ नहीं लिया। अपने

जीवन में केवल एक वार उन्होंने मांस खाया और कभी-कभी कई सप्ताह तक भोजन नहीं किया। उन्होंने कहा—जैसा मैं अनशन के विना कर सकता हूँ, वैसे ही आँखों के विना भी कर सकता हूँ। वाह्य जगत के लिए जैसी आँख है वैसे ही अन्तर्जगत के लिए अनशन है। उनका ख्याल था कि जव रक्त पतला पड़ता है तो मस्तिष्क साफ हो जाता है, असंगतियाँ हट जाती हैं और मूल वस्तुएँ—कभी-कभी स्वयं विश्व की आत्मा—माया के वीच से वैसे ही दिखायी पड़ती है जिस तरह वादलों के वीच से एवरेस्ट-शिखर।

जिस समय वे लोकोत्तर दृष्टि के लिए अनशन करते थे उस समय उनका एक चरण पृथ्वी पर भी रहता है और वे अपने अनुयायियों को सलाह देते रहते थे कि अनशन काल में वे प्रतिदिन एक वार एनीमा जरूर लिया करें, अन्यथा शरीर द्वारा अपने ही तत्त्वों को पचाने से ऐसिड काया को विषैली कर देगा। हिन्दू और मुसलमान जव साम्प्रदायिक उन्माद में एक दूसरे की हत्या कर रहे थे और शान्ति के लिए उनकी अपील की ओर ध्यान नहीं दिया तो उन्होंने उनके हृदय को स्पर्श करने के लिए २१ दिन का अनशन किया। अनशनों और सुख के अभावों से वे इतने कमजोर और दुवले हो गये कि अपना भाषण सुनने के लिए एकत्र विशाल भीड़ के सामने उन्होंने ऊपर उठाई हुई कुर्सी पर वैठकर भाषण किया। उन्होंने अपना संयम यौन क्षेत्र में भी लागू किया और टाल्स्टाय की तरह चाहते थे कि जन्मानुपात को रोकने के लिए शारीरिक सम्वन्ध को कम किया जाय। अपनी तरुणावस्था में वे स्वयं कामवासना में वहुत लिप्त थे; अपनी पिता की मृत्यु की खवर उन्होंने अपनी पत्नी के वाहुपाश में सुनी। अव उन्होंने वाल्यकाल में वताये गये ब्रह्मचर्य को पश्चात्तापपूर्वक फिर से अपनाया। उन्होंने अपनी पत्नी को राजी किया कि वह उनके साथ उसी तरह रहे जिस तरह वहिन भाई के साथ रहती है। "उस समय से सारी वासना समाप्त हो गयी।" जव उन्होंने समझ लिया कि भारत की वुनियादी आवश्यकता सन्तति-निरोध है तो उन्होंने पश्चिम के तरीकों को नहीं वल्कि माल्थस और टालसटाय के सिद्धान्तों को अपनाया।

> हम लोगों के लिए, जो स्थिति को जानते हैं, क्या वच्चे पैदा करते जाना उचित होगा ? यदि हम अपनी लाचारी को समझते हुए भी सन्तानोत्पत्ति करते ही जायँगे तो हम केवल दासों और निर्वलों को ही जन्म देंगे। जव तक भारत स्वतंत्र राष्ट्र न हो जाय तव तक·········हमें नयी सन्तान पैदा करने का अधिकार नहीं है। मुझे इस वात में रंचमात्र सन्देह नहीं है कि विवाहित दम्पति, यदि देश का कल्याण चाहें और इसे वलवान, सुन्दर, सुगठित नर-नारियों का देश वनाने की आकांक्षा रखें तो आत्म-संयम अपनायेंगे और कुछ समय के लिए सन्तानोत्पत्ति वन्द कर देंगे।

उनके आचार में इन तत्त्वों के अलावा वे गुण भी जुड़े हुए थे, जिन्होंने कहा जाता है कि ईसाई धर्म के संस्थापक को विशिष्टता प्रदान की। वे ईसा का नाम नहीं जपते थे, उनका कार्य ऐसा होता था जैसे उन्होंने "शर्मन आन माउण्ट" का एक-एक शब्द स्वीकार किया हो। असीसी के सेण्ट फ्रान्सिस के वाद इतिहास में ज्ञात किसी भी व्यक्ति में इतनी शिष्टता, निःस्वार्थता, सादगी और शत्रुओं के प्रति क्षमा-भाव नहीं था। उनके विरोधियों को और उससे भी अधिक स्वयं उन्हें इस वात का श्रेय है कि विरोधियों के प्रति गाँधीजी की दुर्निवार सम्मान भावना के फलस्वरूप विरोधियों ने गाँधी जी का सम्मान किया। सरकार ने उन्हें वहुत क्षमा-याचना के साथ जेल भेजा। उन्होंने कभी भी द्वेष या क्षोभ प्रदर्शित नहीं किया। उत्तेजित भीड़ ने तीन वार उन पर प्रहार किया था और उन्हें मरणासन्न कर दिया था, किन्तु उन्होंने एक वार भी प्रतिशोध नहीं

किया। उन पर प्रहार करने वालों में से जब एक व्यक्ति गिरफ्तार कर लिया गया तो उसके विरुद्ध आरोप लगाने से उन्होंने इन्कार कर दिया। मुसलमानों और हिन्दुओं के उस सबसे भयानक दंगे के बाद, जिसमें मोपला मुसलमानों ने सैकड़ों निरस्त्र हिन्दुओं को काट डाला और उनकी शिश्नाग्र त्वचाओं को अल्लाह की भेंट चढ़ाया था, जब यही मुसलमान अकाल से पीड़ित हुए, गाँधी जी ने सारे भारत से उनकी सहायता के लिए धन-संग्रह किया और सर्वोत्तम पूर्व दृष्टान्तों का ख्याल न करके अन्य खर्च काटे बिना उस रकम का एक-एक पैसा भूखों मर रहे शत्रु के पास भेज दिया।

मोहनदास करमचन्द गाँधी का जन्म १८६९ में हुआ था। उनका परिवार जैन सम्प्रदाय का अनुयायी वैश्य था और अहिंसा का पालन करता था। उनके पिता सुयोग्य प्रशासक किन्तु अन्धाधुन्ध पैसा लगाने वाले व्यक्ति थे। ईमानदारी के कारण उनसे एक के बाद एक स्थान छूटता गया, प्रायः सारा धन दान में दे दिया, और जो कुछ बच रहा उसे अपने परिवार के लिए छोड़ गये। मोहनदास बाल्यावस्था में ही कुछ हिन्दू देवताओं के प्रति यौन-व्यभिचारों के कारण असन्तुष्ट होकर नास्तिक हो गये। धर्म के प्रति अपनी गहरी घृणा प्रकट करने के लिए उन्होंने मांस खाया। मांस को उनकी आत्मा ने स्वीकार नहीं किया और वे धर्म की ओर फिर लौटे।

८ वर्ष की अवस्था में उनकी मँगनी हो गयी और ८ वर्ष की उम्र में ही कस्तूरबा से उनका विवाह हुआ, जो उनकी सारी कठिनाइयों, अमीरी-गरीबी, जेल और ब्रह्मचर्य-जीवन में उनके प्रति एकनिष्ठ रहीं। १८ वर्ष की उम्र में उन्होंने विश्वविद्यालय में शिक्षा के लिए प्रवेश पाने की परीक्षा उत्तीर्ण की और कानून पढ़ने के लिए लन्दन रवाना हुए। लन्दन-प्रवास में प्रथम वर्ष में ईसाई धर्म की ८० पुस्तकें पढ़ीं। शर्मन आन माउण्ट "पहले ही पाठ में" उनके "हृदय में पैठ गया।" उन्होंने बुराई के लिए अच्छाई करने और शत्रु से भी प्रेम करने की शिक्षा को मानव आदर्शवाद की उच्चतम अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया। और इनके बिना सफल होने की अपेक्षा इनके साथ असफल हो जाने को बेहतर माना।

१८९१ में भारत लौटकर उन्होंने कुछ समय तक बम्बई में, बैरिस्टरी की। ऋण अदा न करने के लिए चलाये जाने वाले मुकदमे वे नहीं लेते थे और अपना यह अधिकार हमेशा सुरक्षित रखते थे कि यदि मुकदमा अन्यायपूर्ण लगा तो वे बीच में ही उसकी वकालत छोड़ देंगे। एक मुकदमे में उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने देखा कि भारत से आये हुए हिन्दुओं के साथ बहुत बुरा बर्ताव होता है। वे देश वापस आना भूल गये और बिना कुछ लिए हुए उन लोगों की अयोग्यता के कारणों के निवारण में जुट गये। बीस वर्ष तक उन्होंने यह संघर्ष तब तक जारी रखा जब तक सरकार झुक नहीं गयी। उसके बाद ही वे स्वदेश वापस आये।

भारत का दौरा करते हुए उन्होंने पहिली बार देशवासियों की असहायावस्था का अनुभव किया। खेतों में काम करते हुए नरकंकालों और नगरों में छोटा काम करने वाले अछूतों को देखकर उनकी आत्मा सिहर उठी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि विदेशों में हमारे देशवासियों के साथ जो भेद-भाव किया जाता है उसका एक मात्र कारण स्वदेश में उनकी दासता और निर्धनता है। फिर भी उन्होंने युद्ध में इंगलैण्ड का साथ दिया। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जो हिन्दू अहिंसा में विश्वास नहीं करते उन्हें फौज में भरती किया जाय। उस समय वे स्वतंत्रता की माँग करने वालों से सहमत नहीं थे। उनका ख्याल था कि भारत का ब्रिटिश कुशासन अपवाद मात्र है, ब्रिटिश सरकार आमतौर पर अच्छी है; भारत की अंग्रेज सरकार इसीलिए

बुरी है कि वह स्वदेश की ब्रिटिश सरकार के सिद्धान्तों का उल्लंघन करती है; यदि अंग्रेजों को भारत का पक्ष समझाया जा सके तो वे शीघ्र ही इसे स्वतंत्र उपनिवेशों के राष्ट्रमण्डल में भ्रातृवत् स्थान दे देंगे। उनका विश्वास था कि जब युद्ध समाप्त हो जायगा और ब्रिटेन भारत द्वारा साम्राज्य के लिए किये गये भारतीय नर-नारियों के बलिदान को समझेगा तो उसे स्वतंत्रता देने में आनाकानी न होगी।

किन्तु युद्ध-समाप्ति के बाद स्वराज्य के आन्दोलन का मुकाबला किया गया। रौलट ऐक्ट से जिसमें भाषण और पत्रों की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी गयी, माण्टेग्यू चेम्स-फोर्ड सुधार से जिसके अन्तर्गत सामर्थ्यरहित विधान-मण्डल की स्थापना की व्यवस्था हुई और अन्त में अमृतसर के नर-संहार से आश्चर्यचकित गाँधीजी निर्णायक कार्रवाई करने के लिए बाध्य हुए। उन्होंने विभिन्न समय पर अंग्रेज सरकार से मिले हुए पदक वाइसराय को लौटा दिये और भारत सरकार के विरुद्ध सक्रिय रूप से नागरिक अवज्ञा आन्दोलन करने के लिए भारतीय जनता का आह्वान किया। जनता ने इसका पालन शान्तिपूर्ण प्रतिरोध से नहीं वरन् रक्तपात से किया। उदाहरण के लिए बम्बई में आन्दोलन के प्रति सहानुभूति न रखने वाले ५३ पारसी मौत के घाट उतार दिये गये। अहिंसा पर अटल गाँधी जी ने दूसरा सन्देश दिया जिसमें उन्होंने जनता से अपील की कि वह आन्दोलन बन्द कर दे, क्योंकि यह उपद्रव का रूप लेता जा रहा है। इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी व्यक्ति ने सिद्धान्त पर आचरण करने और जैसे भी हो कार्य-सिद्धि तथा जनप्रियता का परित्याग करने में इतना अधिक साहस दिखाया हो। राष्ट्र उनके निर्णय पर चकित रह गया। उसने अपने को सफलता के निकट पहुँचा समझ लिया था और इस बात में गाँधी जी से सहमत नहीं था कि साधन उतने ही महत्त्व रखते हैं जितना साधक। महात्मा जी की प्रतिष्ठा निम्नतम विन्दु पर आ गयी।

ठीक इसी समय (१९२२) सरकार ने उनकी गिरफ्तारी का निश्चय किया। इसका उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। वकील रखने से इन्कार कर दिया और अपने बचाव के लिए कुछ भी नहीं किया। ज़ब प्राभिभोक्ता (प्रासीक्यूटर) ने उन पर अभियोग लगाया कि १९२१ में जो उपद्रव हुए उनके लिए अपने पत्रों के कारण वे जिम्मेदार हैं, गाँधी जी ने ऐसे शब्दों में उत्तर दिया जिन्होंने उन्हें तुरन्त गौरव के आसन पर बिठा दिया। उन्होंने कहा :

> बम्बई, मद्रास और चौरीचौरा की घटनाओं के सम्बन्ध में विद्वान महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) ने मेरे ऊपर जो दोषारोपण किये हैं मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। इन घटनाओं के सम्बन्ध में गम्भीरता से और रात में सोते समय भी सोचते हुए मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं अपने को इन पैशाचिक अपराधों से अलग मानूं।...... विद्वान महाधिवक्ता यह बिल्कुल ठीक ही कहते हैं कि एक जिम्मेदार व्यक्ति होने के नाते, काफी शिक्षित व्यक्ति होने के नाते मुझे अपने प्रत्येक कार्य के परिणाम को समझना चाहिये था। मैं जानता था कि मैं आग से खेल रहा हूँ, मैं खतरा मोल ले रहा हूँ; यदि मुझे छोड़ दिया जाय तो मैं फिर वही करूँगा। मैंने आज सवेरे ही सोच लिया था कि मैं इस समय यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ यदि उसे न कहूँगा तो मेरी यह अपने कर्तव्य से विमुखता होगी।

> मैंने हिंसा से बचना चाहा और मैं हिंसा से बचना चाहता हूँ। अहिंसा मेरी आस्था का पहला सूत्र है। यह मेरे मत का अन्तिम सूत्र भी है किन्तु मुझे अपनी पसन्द का चुनाव करना पड़ा। मैं या तो एक ऐसी व्यवस्था के सामने झुकता जिसने मेरे ख्याल से हमारे देश की अपूर्णीय क्षति की है, या अपने उन देशवासियों की क्रोधाग्नि का शिकार होता जो मेरी वाणी से निकला हुआ सत्य समझ चुके हैं। मैं जानता हूँ कि मेरे देशवासियों को कभी-कभी उन्माद हो गया है। मुझे इसका हार्दिक दुख है और इसके लिए मैं यहाँ हल्के दण्ड नहीं भारी-से-भारी दण्ड स्वीकार करने के लिए खड़ा हूँ। मैं दया की प्रार्थना नहीं करता। मैं अपने अपराध की शक्ति को कम दिखाने के लिए कोई जोर नहीं देता। मैं यहाँ पर अपने को उस अपराध के लिए बड़े से बड़ा दण्ड देने के लिए आमंत्रण देता हूँ और इसके लिए सहर्ष तैयार हूँ जो कानून में जानबूझकर किया गया अपराध है और मेरी दृष्टि में नागरिक का सबसे ऊँचा कर्तव्य है।

जज ने इस बात पर हार्दिक खेद प्रकट किया कि उसे एक ऐसे व्यक्ति को जेल भेजना पड़ रहा है जिसे इस देश के करोड़ों निवासी "एक महान् देशभक्त और महान् नेता" मानते हैं। उसने स्वीकार किया कि मतभेद रखने वाले भी गाँधी जी को "उच्च आदर्शों और उच्च तथा साधु-जीवन का व्यक्ति" मानते हैं। उसने उन्हें ६ वर्ष की सजा दी।

गान्धी जी को तनहाई में रखा गया किन्तु उन्होंने कोई शिकायत नहीं की। उन्होंने लिखा—"मैं किसी अन्य बन्दी को नहीं देख पाता, हालाँकि मैं सचमुच यह भी नहीं देख पाता कि हमारा समाज कैसे उन्हें कोई हानि पहुँचा सकता है। किन्तु मैं प्रसन्न हूँ। मेरी प्रकृति एकान्त पसन्द करती है। मुझे शान्ति प्रिय है। अब मुझे अध्ययन करने का अवसर मिला है, जिसे मैंने बाहर संसार में छोड़ रखा था।" उन्होंने बेकन, कार्लाइल, रस्किन, एमर्सन, थोरे और टाल्स्टाय की कृतियों का खूब अच्छी तरह अध्ययन किया। बेन जॉन्सन और वाल्टर स्काट की कृतियों में घण्टों डूबे रहकर वे सान्त्वना अनुभव करते थे। उन्होंने भगवद्गीता का बार-बार पारायण किया और संस्कृत, तमिल तथा उर्दू पढ़ी जिससे वे पढ़े-लिखे लोगों को न केवल पत्र लिख सकें वरन् जनता के समक्ष इन भाषाओं में भाषण भी करें। उन्होंने जेल में ६ साल तक अध्ययन के लिए विस्तृत सूची तैयार की और बड़ी निष्ठा से उसका पालन उस समय तक किया जब एक घटना ने इसमें हस्तक्षेप कर दिया। उन्होंने लिखा है—"मैं अपनी पुस्तकों को पढ़ने के लिए २४ वर्ष के युवक की तरह उत्साह लेकर बैठ जाता था और यह भूल जाता था कि मेरी उम्र ५४ वर्ष की तथा स्वास्थ्य खराब है।"

अपेण्डिसाइटिस के कारण उन्हें जेल से छोड़ दिया गया और पश्चिमी औषधि-प्रणाली ने, जिसकी वे प्रायः निन्दा करते थे, उन्हें फिर से स्वस्थ बनाया। बाहर निकलने पर उनका स्वागत करने के लिए जेल के फाटक पर जनता की भारी भीड़ जमा थी। रास्ते से गुजरते समय अनेक लोगों ने उनके खादी के वस्त्र छुए। किन्तु उन्होंने राजनीति का त्याग कर दिया, निर्बलता तथा बीमारी के कारण अपने को असमर्थ घोषित किया और साबरमती स्थित अपने आश्रम में अपने विद्यार्थियों के साथ एकान्त में रहने लगे। वहाँ से अपने मुख्य पत्र साप्ताहिक 'यंग इण्डिया' के अग्रलेखों से जनता को अपना सन्देश देने लगे जिसमें उनके जीवन तथा क्रान्ति-दर्शन की व्याख्या रहती थी।

उन्होंने अपने अनुयायियों से अनुरोध किया कि वे हिंसा का त्याग कर दें, इसलिए नहीं कि भारत के पास बन्दूक न होने से हिंसा आत्मघातक होगी बल्कि इसलिए ऐसा करने पर एक निरंकुशता का स्थान दूसरी निरंकुशता ले लेगी। उन्होंने कहा—'इतिहास हमें सिखाता है कि जिन लोगों ने ईमानदारी की भावना से भी लालचियों को क्रूर शक्ति का प्रयोग करके निकाल बाहर किया वे मौका पाने पर स्वयं उसी बीमारी के मरीज़ हो गये। ····यदि भारत हिंसात्मक साधन अपनाता है तो उसी दिन उसकी स्वतंत्रता में मेरी दिलचस्पी न रह जायगी क्योंकि उसका फल स्वतंत्रता नहीं बल्कि दासता होगी।"

उनके मत में दूसरा तत्त्व था आधुनिक उद्योग का तिरस्कार तथा रूसो की तरह गाँवों में कृषि के सादगीपूर्ण जीवन और गृह उद्योगों की ओर लौटने का आह्वान। स्त्रियों और पुरुषों का दूसरों द्वारा संचालित कारखानों में कैद रहना और मशीनों से किसी पूरी चीज को नहीं बल्कि उसके किसी एक अंश को ही हमेशा बनाना गाँधीज़ी को ऐसा लगा जैसे मानवता को घटिया किस्म के पिरामिड दफना देने का चक्करदार रास्ता है। उनका ख्याल था कि मशीन के अधिकांश उत्पादन अनावश्यक हैं। उनके उपयोग से जो श्रम बचता है वह उनके निर्माण और मरम्मत में लग जाता है। और यदि श्रम बचता भी है तो उससे श्रमिक को कोई लाभ नहीं होता, उसका फायदा पूँजी उठाती है। अपनी ही उत्पादन शक्ति के कारण मज़दूर बेकारी की मुसीबत में जा गिरता है। इसलिए गाँधीजी ने स्वदेशी आन्दोलन चलाया, जिसकी घोषणा १९०५ में तिलक ने की थी। स्वराज्य के साथ स्व-उत्पादन भी जोड़ दिया गया। गाँधीजी ने चर्खा-चालन को राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति निष्ठा का चिह्न बना दिया। उन्होंने कहा कि हर हिन्दू, यहाँ तक कि सर्वाधिक सम्पन्न हिन्दू भी घर की बनी खादी पहने और ब्रिटेन के विदेशी तथा मिल में बने कपड़े का बहिष्कार करे ताकि भारत के घरों में पुनः चर्खों की भनभनाहट होने लगे।

उनकी अपील की प्रतिक्रिया सभी लोगों पर नहीं हुई। इतिहास की गति को रोकना बहुत मुश्किल है। किन्तु भारत ने इसके लिए प्रयत्न किया। हिन्दू छात्र सर्वत्र खद्दर पहनते थे, महिलाओं ने जापान की रेशमी साड़ियाँ त्याग दीं और खद्दर पहनने लगीं। वेश्याएँ वेश्यालयों में और अभियुक्त जेलों में सूत कातने लगे। अनेक नगरों में विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलने लगीं; सम्पन्न हिन्दू और व्यवसायी अपने घरों तथा गोदामों से निर्यात किये हुए वस्त्र लाते थे और आग में झोंक देते थे। एक दिन के भीतर केवल बम्बई में ही डेढ़ लाख के कपड़े आग की लपटों को भेंट कर दिये गये।

उद्योग से दूर के स्थानों में यह आन्दोलन असफल हो गया किन्तु इसने एक दशक तक भारत को विद्रोह का प्रतीक दे दिया और भारत की लाखों मूक जनता को राजनीतिक जागृति के ऐक्य में अलग खड़ा कर दिया। भारत को साधनों की सफलता में सन्देह था, किन्तु उसने उद्देश्य का सम्मान रखा। राष्ट्रनायक गाँधी के विषय में उसे आपत्तियाँ थीं किन्तु सन्त गाँधी को उसने अपने हृदय में स्थान दिया और उनकी पूजा करने में एक हो गया। जैसा कि रवि ठाकुर ने उनके विषय में कहा भी था :

> वे हज़ारों निरालम्बों की झोपड़ियों की देहली पर उनकी तरह के लिबास में रुके और उनसे उन्हीं की भाषा में बोले। यहाँ जीवित सत्य विद्यमान था, पुस्तकों से उद्धरण नहीं। इसीलिए जनता द्वारा उन्हें दिया गया नाम महात्मा उनका असली नाम है। उनकी तरह और किसने यह सोचा है कि भारतीय हमारे ही रक्त और मांस हैं? प्रेम जब भी भारत

> के दरवाजे पर आया, दरवाजा पूरा खुल गया।······गाँधीजी के आह्वान पर भारत नयी महत्ता की ओर उसी तरह अग्रसर हुआ जिस तरह एक बार पहले हुआ था जब बुद्ध ने सत्य, प्रेम और सभी प्राणियों के लिए करुणा का उपदेश दिया था।

गाँधीजी का काम था भारत का एकीकरण; और इसे उन्होंने पूरा किया। दूसरे काम दूसरे लोगों के लिए हैं।

(छ) अलविदा भारत

भारत के इतिहास का उस तरह समापन नहीं किया जा सकता जिस तरह मिस्र या बेबीलोनिया अथवा असीरिया के इतिहास का समापन किया जा सकता है, क्योंकि वह इतिहास अब भी निर्मित हो रहा है, वह सभ्यता अब भी सृजन कर रही है। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत ने पश्चिम के साथ बौद्धिक सम्पर्क होने से पुनः नयी शक्ति प्राप्त की है और आज उसका साहित्य उसी तरह बढ़ रहा है तथा श्रेष्ठ है जिस तरह दूसरे साहित्य। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह अब भी अन्धविश्वास और धार्मिक बोझ की अत्यधिकता से संघर्ष कर रहा है। किन्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक विज्ञान रूपी एसिड देवताओं की भारी संख्या को कब घुला देगा। राजनीतिक दृष्टि से पिछले एक सौ वर्षों के भीतर भारत में ऐसी एकता हुई है जैसी पहले कभी भी नहीं थी। अंशतः एक विदेशी सरकार की एकता और अंशतः एक विदेशी भाषा की एकता, किन्तु इन सब के ऊपर रही है स्वतंत्रता के लिए एक सन्धामित आकांक्षा की एकता। आर्थिक दृष्टि से, अच्छा हो या बुरा, वह मध्यकाल से आधुनिक उद्योग के युग में आ रहा है, उसकी सम्पत्ति और उसका व्यापार बढ़ेगा और इस शताब्दी की समाप्ति के पहले वह विश्व की महान शक्तियों की पंक्ति में आ जायगा।

हम यह दावा नहीं कर सकते कि इस सभ्यता से हमारी सभ्यता को ऐसे प्रत्यक्ष उपहार मिले जैसे मिस्र और पश्चिमोत्तर एशिया से प्राप्त हुए। मिस्र और पश्चिमोत्तर एशिया की सभ्यताएँ हमारी सभ्यता की निकटतम पूर्वज थीं, जबकि भारत, चीन तथा जापान का इतिहास दूसरी धारा में प्रवाहित हुआ था और कहीं अब आकर उसने पश्चिमी जीवन की धारा को स्पर्श एवं प्रभावित करना प्रारम्भ किया है। यह सच है कि भारत ने हिमालय को पार करके हमें व्याकरण और तर्कशास्त्र, दर्शन और कथाएँ, सम्मोहन तथा शतरंज और इन सबसे भी बढ़ कर अंक तथा दाशमिक प्रणाली दी। किन्तु उसकी आत्मा के यह सारतत्त्व नहीं हैं। भारत से हम भविष्य में जो कुछ सीख सकते हैं उसकी तुलना में ये चीजें खिलौना मात्र हैं। अनुसन्धान के रूप में उद्योग और व्यापार महाद्वीपों को एक साथ में जोड़ रहे हैं, या जैसे-जैसे वे हमें एशिया के साथ संघर्ष के लिए उद्यत करेंगे, हम उसकी सभ्यता का अधिक निकट से अध्ययन करेंगे और शत्रुता न होते हुए भी उसके कुछ तौर-तरीकों तथा विचारों को आत्मसात कर लेंगे। बलपूर्वक अधिकार, उद्दण्डता और लूट-खसोट के बदले भारत हमें शायद परिपक्व मस्तिष्क की सहिष्णुता तथा शिष्टता, लालसारहित आत्मा की शान्तिपूर्ण सन्तुष्टि, सहानुभूतिपूर्ण आत्मा की शान्ति और सभी प्राणियों के लिए एकात्मकारी तथा शान्तिदायी प्रेम सिखायेगा।

सहायक ग्रन्थों की सूची

Allen, Grant : Evolution of the Idea of God. New York, 1897.
Andrews, Roy C. : On the Trail of Ancient Man. New York, 1930.
Arnold, Sir Edwin : The Song Celestial, or Bhagavad Gita. London 1925
Arrain : Anabasis of Alexander, and Indica. London, 1893.
Babur : The Babur-nama in English.Tr. by Annette Beveridge. London, 1922.
Barnes, Jos, Ed. : Empire in the East. New York, 1934.
Barnett, L. D. : Antiquities of India. New York, 1914.
Barnett, L. D. : The Heart of India. London, 1924.
Bebel, August : Women under Secialism. New York, 1923.
Besant, Annie : India. Madras, 1923.
Binyon, Laurence : Flight of the Dragon. London, 1927.
Bisland, Elizabeth (Mrs. E. B. Wetmore) : Three Wise Men of the East. Chapel Hill, N. C., 1930.
Boas, Franz : Anthropology and Modern Life. New York, 1928.
Breasted, Jas. H. : The Dawn of Conscience. New York, 1933.
Breasted, Jas. H. : The Oriental Institute. Chicago, 1933.
Briffault, Robert : The Mothers. 3 V. New York, 1927.
Brown, Brian : Wisdom of the Hindus. New York, 1921.
Brown, Percy : Indian Painting. Calcutta, 1927.
Bucher' Karl : Industrial Evolution. New York, 1901.
Buck, Pearl, Tr. : All Men Are Brothers. 2v. New York, 1933.
Bulley, Margaret : Ancient and Medieval Art. New York, 1914.
Buxton, L. H. Dudley : The Peoples of Asia. New York, 1925.
Chatterji, Jagadish C. : The Hindu Realism. Allahabad, 1912.
Chatterji, Jagadish C. : India's Outlook on Life. New York, 1930.
Chirol, Sir Valentine :India. London, 1926.
Chu Hsi : The Philosophy of Human Nature. London, 1922.
Close, Upton : The Revolt of Asia. New York, 1928.
Coomaraswamy, Ananda K. : The Dance of Siva. New York, 1924.
Cotterill, H.B. : A History of Art. 2V, New York, 1922.
Cowan, A. R. : A Guide to World History. London, 1923.
Cowan, A. R. : Master Clues in World History. London, 1914.
Cranmer,Byng, L. : The Book cf Odes. London, 1927.
Crawley, E. : The Mystic Rose. 2 V. New York, 1927.
Curtis, W. E. : Modern India. New York, 1909.
Darmesteter, Jas., Ed. and Tr. : The Zend-Avesta. 2V. Oxford, 1895.
Darwin, Charles : Descent of Man. New York, A. L. Burt, no date.
Darwin, Charles : Journal of Researches into the Geology and Natural History of the Various Countries visited during the Voyage of H. M. S. Beagle round the World. London, 1910.
Das Gupta, Surendranath : A History of Indian Philosophy. Cambridge, 1922.

Das Gupta, Surendranath : Yoga as Philosophy and Religion. London, 1924.
Davids, T. W. Rhys : Buddhist India. New York, 1903.
Davids, T. W. Rhys : Dialogues of the Buddha; being vols. ii-iv of Sacred Books of the Buddhists. Oxford, 1923.
Deussen, Paul : The Philosophy of the Upanishads. Edinburgh, 1919.
Deussen, Paul : System of the Vedanta. Chicago, 1912.
Dickinson, G. Lowes : An Essay on the Civilization of India, China and Japan. New York, 1926.
Diodorus Siculus : Library of History. Loeb Classical Library. Vol. I, New York, 1933.
Doane. T. W. : Bible Myths, and Their Parallels in Other Religions. New York, 1882.
Downing, Dr. J. G. : "Cosmetics, Past and Present", in Journal of the American Medical Society, June 23, 1934.
Dubois, Abbe J. A. : Hindu Manners, Customs and Ceremonies. Oxford, 1928.
Durckheim, Emile : The Elementary Forms of the Religious Life. New York, 1915.
Dutt, R, C. The Civilization of India. Dent, London, n. d.
Dutt, R.C. : The Economic History of India : 1757-1837. 5th ed. Kegan Paul, London, n. d.
Dutt, R. C. : The Economic History of India in the Victorian Age. 5th ed. London, n. d.
Dutt, R. C. tr. : The Ramayana and Mahabharata. Everyman Library.
Eddy, Sherwood : The Challenge of the East. New York, 1931.
Edmunds, A. J. : Buddhist and Christian Gospels. 2 V. Philadelphia, 1908.
Ekken, Kaibara : The Way of Contentment. Tr. Hoshino. London, 1913.
Eliot, Sir Charles : Hinduism and Buddhism. 3 V. London, 1921.
Ellis, Havelock : Man and Woman. New York, 1900.
Ellis, Havelock : Studies in the Psychology of Sex. 6 V. Philadelphia, 1910-11.
Elphinstone, Mountstuart : History of India. London, 1916.
Encyclopedia Britannica : 14th edition, unless otherwise specified.
Faure, Elie : History of Art. 4 V. New York, 1921.
Fergusson, Jas : History of Indian and Eastern Architecture, 2V. London, 1910.
Fergusson, Jas. : History of Architecture in all Countries. 2V. London, 1874.
Firishtah, Muhammad Qasim : History of Hindostan. Tr. Alcs. Dow. 3V. London, 1803.
Frazer, Sir J. G. : The Golden Bough. One-volume ed. New York, 1930.
Frazer, R. W. : Literary History of India. London, 1920.

Fulop-Miller, Rene : Lenin and Gandhi. London, 1927.
Gandhi, M. K. : His Own Story. Ed. by C.P. Andrews. New York, 1930.
Gandhi, M. K. : Young India, 1924-6. New York, 1927.
Gangoly, O. C. : Art of Java. Calcutta, n. d.
Gangoly, O. C. : Indian Architecture. Calcutta, n. d.
Garbe, Richard, ed. : The Samkhya-Pravacana-Bhasya, or Commentary on the Exposition of the Sankhya Philosophy by Vijnanabhikshu. Harvard University, 1895.
Garrison, F. H. : History of Medicine. Phila., 1929.
George, Eugen : The Adventure of Mankind. New York, 1931.
Goldenweiser, A. A. : History, Psychology and Culture. New York, 1933.
Gour, Sir Hari Singh : The Spirit of Buddhism. Calcutta, 1929.
Gowen, H. H. : History of Indian Literature. New York, 1931.
Gray, R. M. and Parekh, M. C. : Mahatma Gandhi, Calcutta, 1928.
Grosse, Ernst : Beginnings of Art. New York, 1897.
Guenon, Rene : Man and His Becoming according to the Vedanta, London, 1928.
Hall, Josep W. : Eminent Asians. New York, 1929.
Hall, Manly P. : Encyclopedic Outline of Masonic, Hermetic, Qabbalistic and Rosicrucian Symbolical Philosophy. San Francisco. 1928.
Hallam, H. : View of the State of Europe during the Middle Ages. New York, 1845.
Hardie, J. Keir : India : Impressions and Suggestions. London, 1909.
Harding, T. Swann : Fads, Frauds and Physicians. New York, 1930.
Havell, E. B. : Ancient and Medieval Architecture of India. London, 1915.
Havell, E. B. : Ideals of Indian Art. New York, 1920.
Havell, E. B. : History of Aryan Rule in India. Harrap, London, n.d.
Hayes, E.C. : Introduction to the Study of Sociology. New York, 1918.
Herodotus : Histories, tr. by Cary. London, 1901. References are to book and chapter (section).
Himes, Norman : Medical History of Contraception. In Ms.
Hippocrates : Works, tr. Jones. Loeb Classical Library. London, 1923.
Hobhouse, L. T. : Morals in Evolution. New York, 1916.
Hoernle, R. F. A. : Studies in Contemporary Metaphysics. New York, 1920.
Howard, Clifford : Sex Worship. Chicago, 1909.
Hume, R. E., Ed. : The Thirteen Principal Upanishads. Oxford U.P., 1921.
Huntingdon, E. : Civilization and Climate, Yale U. P., 1905.
Huntingdon, E. : The Pulse of Asia. Boston, 1907.
Indian Year Book, 1929. Bombay, 1929.
Jastrow, Morris, Jr. : The Book of Job. Phila., 1920.
Jung, C. G. : Psychology of the Unconscious. New York, 1916.
Kabir : Songs, tr. Tagore. New York. 1915.
Kalidasa : Sakuntala. Prepared for the English Stage by Kedarnath Das Gupta and Laurence Binyon. London, 1920.

Kapila : Aphorisms of the Sankhya Philosophy. Allahabad, 1852.
Keyserling, Count Hermann, Ed. : The Book of Marriage. New York, 1923.
Keyserling, Count Hermann : Creative Understanding. New York, 1929.
Keyserling, Count Hermann : Travel Diary of a Philosopher. 2V. New York, 1925.
Kohler, Karl : History of Costume. New York, 1928.
Kohn, Hans : History of Nationalism in the East. New York, 1929.
Kropotkin, Peter : Mutual Aid. New York, 1902.
Lacroix, Paul : History of Prostitution. 2V. New York, 1931.
Lajpat Rai, L. : England's Debt to India. New York, 1917.
Lajpat Rai, L. : Unhappy India. Calcutta, 1928.
Letourneau, C. F. : Evolution of Marriage and the Family, New York, 1891.
Lillie, Arthur : Rama and Homer. London, 1912.
Lippert, Julius : Evolution of Culture. New York, 1931.
Lorenz, D. E. : The Round the World Traveller. New York, 1927.
Loti, Pierre : India. London, 1929.
Lowie, R. H. : Are We Civilised? New York, 1929.
Lowie, R. *H.* : Primitive Religion. New York, 1924.
Lubbock, Sir John : The Origin of Civilisation. London, 1912.
Lull, R. *S., Ed.* : The Evolution of Man. Yale U. P., 1922.
Macaulay, T. *B.* : Critical and Historical Essays. Everyman Library. 2 V.
Macdonell, A. A. : History of Sanskrit Literature, New York, 1900.
Macdonell, A. A. : India's Past. Oxford, 1927.
Maine, Sir Henry : Ancient Law. Everyman Library.
Mallock, W. : Lucretius on Life and Death. Phila., 1878.
Marshall, Sir John : Prehistoric Civilisation of the Indus. Illustrated London News, Jan. 7, 1928.
Mason, O. T. : Origin of Invention. New York, 1899.
Mason, W. A. : History of the Art of Writing. New York, 1920.
Maspero, G. : The Passing of the Empires. London, 1900.
McCabe, Jos. : The Story of Religious Controversy. Boston, 1929.
McCrindle, J. W. : Ancient India as described by Megasthenes and Arrian. Calcutta, 1877.
Melamed, S. M. : Spinoza and Buddha, Chicago, 1933.
Mencius : Works, tr. Legge. 2 V. Oxford, 1895.
Mencken, H. L. : Treatise on the Gods. New York, 1930.
Minne, R. *J.* : Shiva, or the Future of India. London, 1929.
Monier-Williams, Sir M. : Indian Wisdom. London, 1893.
Moon, P. T. : Imperialism and World Politics. New York, 1930.
Moret, A. and Davy, G. : From Tribe to Empire. New York, 1926.
Mukerji, D. G. : A son of Mother India Answers. New York, 1928.
Mukerji, D. G. : Visit India with Me. New York, 1929.
Muller-Lyer, F. : Evolution of Modern Marriage. New York, 1930.
Muller-Lyer, F. : The Family. New York, 1931.
Muller-Lyer, F. : History of Social Development. New York, 1921.
Muller, Max : Lectures on the Science of Language. 2 V. New York, 1866.

Muller, Max : Six Systems of Indian Philosophy. London, 1919.
Muller, Max : India : What Can It Teach Us ? London, 1919.
Muthu, D. C. : The Antiquity of Hindu Medicine and Civilization. London, 1930.
Nag, Kalidas : Greater India. Calcutta, 1926.
Naidu, Sarojini : The Sceptred Flute : Songs of India. New York, 1928.
Nietzsche, F. : Genealogy of Morals. London, 1913.
Nivedita, Sister (Margaret E. Noble) : The Web of Indian Life. London, 1918.
Okakura-Kakuso : The Book of Tea. New York, 1912.
Osborn, H. F. : Men of the Old Stone Age. New York, 1915.
Otto, Rudolf : Mysticism, East and West. New York, 1932.
Parmellee, M. : Oriental and Occidental Culture. New York, 1928.
Peffer, N. : *China* : The Collapse of a Civilization. New York, 1930.
Petrie, Sir W. Flinders : The Formation of the Alphabet. London, 1912.
Petrie, Sir W. Flinders : The Revolutions of Civilization. London, 1911.
Pijoan, Jos. : History of Art. 3 V. New York, 1927.
Pitkin, W. B. : A Short Introduction to the History of Human Stupidity. New York, 1932.
Pittard, E. : Race and History. New York, 1926.
Pottar, Charles F. : The Story of Religion. New York, 1929.
Powys, J. C. : The Meaning of Culture. New York, 1929.
Pratt, W. S. : The History of Music. New York, 1927.
Radakrishnan, S. : The Hindu View of Life. London, 1928.
Radakrishnan, S. : Indian Philosophy. 2 Vo. Macmillan, New York, n. d.
Ratzel, F. : History of Mankind. 2 V. London, 1896.
Rawlinson, Geo. : Five Great Monarchies of the Ancient Eastern World. 3 V. New York, 1887.
Reinach, S. : Orpheus : A History of Religions. New York, 1909 and 1930.
Renard, G. : Life and Work in Prehistoric Times. New York, 1929.
Report of the Indian Central Committee. Calcutta, 1929.
Ricard, T. A. : Man and Metals. 2 V. New York, 1932.
Rivers, W. H. Pitt : Instinct and the Unconscious. Cambridge U. P., 1920.
Rivers, W. H. Pitt : Social Organization. New York, 1924.
Robie, W. F. : The Art of Love. Boston, 1921.
Robinson, J. H. : Article "Civilization" in Encyclopedia Britannica, 14th ed.
Rolland, Romain : Mahatma Gandhi. New York, 1924.
Rolland, Romain : Prophets of the New India. New York, 1930.
Ross, E. A. : The Changing Chinese. New York, 1911.
Ross, E. A. : Foundations of Sociology. New York, 1905.
Ross, E. A. : Social Control. New York, 1906.
Rostovtzeff, M. : A History of the Ancient World. 2 V. Oxford, 1930.
Russell, Bertrand : Marriage and Morals. New York, 1929.
Sanger, W. M. : History of Prostitution. New York, 1910.
Sansum, Dr. W. D. : The Normal Diet. St. Lousi, 1930.

Sarkar, B. K. : Hindu Achievements in Exact Science. New York, 1918.
Sarton, Geo. : Introduction to the History of Science. Vol. I. Baltimore, 1930.
Schafer, H. and Andrae, W. : Die Kunst des alten Orients. Berlin, 1925.
Schnieder, Hermann : History of World Civilization. Tr. Green. 2 V. New York, 1931.
Schopenhauer, A. : The World as Will and Idea. Tr. Haldane and Kemp. 3 V. London, 1883.
Sedgwick, W. and Tyler, H. : Short History of Science. New York, 1927.
Sewell, Robert : A Forgotten Empire, Vijayanagar, London, 1900.
Shaw, G. B. : Man and Superman. New York, 1914.
Shelley, P. B. : Complete Works. London, 1888.
Shotwell, Jas. T. : The Religious Revolution of To-day. Boston, 1913.
Sidhanta, N. K. : The Heroic Age of India. New York, 1930.
Simon, Sir John, Chairman : Report of the Indian Statutoty Commission. 2V. London, 1930.
Skeat, W. W. : Etymological Dictionary of the English Language. Oxford, 1893.
Smith, G. Elliot : Human History. New York, 1929.
Smith, W. Robertson : The Religion of the Semites. New York, 1889.
Smith, V. A. : Akbar. Oxford, 1919.
Smith, V. A. : Asoka. Oxford, 1920.
Smith, V. A. : Oxford History of India. Oxford, 1923.
Sollas, W. J. : Ancient Hunters. New York, 1924.
Spearing, H. G. : Childhood of Art. New York, 1913.
Spencer, Herbert : Principles of Sociology. 3V. New York, 1910.
Spinoza, B. : Ethic, tr. W. H. White. New York, 1883.
Sprengling, M. : The Alphabet : Its Rise and Development from the Senai Inscriptions. Oriental Institute Publications. Chicago, 1931.
Sterin, Sir M. Aurel : Innermost Asia. 4V. Oxford, 1928.
Strabo: Geography. 8 V. Loeb Classical Library. New York, 191732.
Sumner, W. G.: Folkways. Boston, 1906.
Sumner, W. G. and Keller, A. G. : Science of Society. 3 V. New Haven, 1928.
Sunderland, J. T. : India in Bondage. New York, 1929.
Sutherland, A.: Origin and Growth of the Moral Instincts. 2 V. London, 1898.
Sutherland, G. A. ed. : A System of Diet and Dietetics. New York, 1925.
Tacitus : Histories. Tr. Murphy. London, 1930.
Tagore, R. : Chitra. London, 1924.
Tagore, R.: The Gardener. Leipzig, 1921.
Tagore, R. : Gitanjali and Fruit-Gathering. New York, 1918.
Tagore, R. : My Reminiscences. New York, 1917.
Tagore, R. : Personality. London, 1926.
Tagore, R.: Sadhana : The Realization of Life. Leipzig, 1921.
Tarde, G. : The Laws of Imitation, New York, 1903.

Thomas, E. J.: Life of Buddha. New York, 1927.
Thomas, W. I.: Source Book for Social Origins. Boston, 1909.
Thomson, E. J.: Rabindranath Tagore. Calcutta, 1921.
Thoreau, H. D.: Walden. Everyman Library.
Thorndike, Lynn: Short History of Civilization. New York, 1926.
Tietjens, Eunice, ed.: Poetry of the Orient. New York, 1928.
Tod, Lt.-Col. Jas.: Annals and Antiquities of Rajasthan. 2V. Calcutta, 1894.
Tylor, E. B.: Anthropology. New York, 1906.
Tylor, E. B.: Primitive Culture. 2 V. New York, 1889.
Tyrrell, C. A.: The Royal Road to Health. New York, 1912.
Underwood, A. C.: Contemporary Thought of India. New York, 1931.
Van Doren, Mark: Anthology of World Poetry. New York, 1928.
Venkataswara, S. V.: Indian Culture through the Ages. Vol. I: Education and the Propagation of Culture. London, 1928.
Vinogradoff, Sir P.: Outlines of Historical Jurisprudence. 2 V. Oxford, 1922.
Ward, C. O.: The Ancient Lowly. 2 V. Chicago, 1907.
Watters, T.: On Yuan Chuang's Travels in India. 2V. London, 1904.
Westermarck, E.: History of Human Marriage. 2 V. London, 1921.
Westermarck, E.: Origin and Development of the Moral Ideas. 2 V. London, 1917-24.
Westermarck, E.: Short History of Marriage. New York, 1926.
White, E. M.: Woman in World History. Jenkins, London, n. d.
White, W. A.: Mechanisms of Character Formation. New York, 1916.
Whitman, Walt: Leaves of Grass. Phila., 1900.
Williams, H. S.: History of Science. 5 V. New York, 1904.
Winternitz, M.: History of Indian Literature. Vol. I. Calcutta, 1927.
Wood, Ernest: An Englishman Defends Mother India. Madras, 1929.
Zimand, Savel: Living India. New York, 1928.